मानव की कहानी

(सृष्टि और मानव विकास का इतिहास—
सृष्टि के आदि से १६५० तक)

दूसरा भाग

प्रो० रामेश्वर गुप्ता एम. ए.
वनस्थली विद्यापीठ

ब्यावर [राजस्थान]

विषय-सूची

छठा खंड

मानव इतिहास का आधुनिक युग
(१५००-१९५० ई.)

सातवां खंड

भविष्य की ओर संकेत

मानचित्रों की सूची

परिशिष्ट

—:=:—

छठा खंड

मानव इतिहास का आधुनिक युग

(१५००-१९५० ई.)

४३

मानव इतिहास में आधुनिक युग का आगमन

विषय-प्रवेश

देश काल (Space Time) की सीमा में-सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के परिभ्रमण द्वारा निर्देशित काल प्रवाह में—, इस भूमण्डल पर अंकित मानव कहानी का अध्ययन, ४-५ लाख वर्ष पूर्व मानव प्रादुर्भाव से प्रारंभ कर, तदनन्तर उसकी विकास गति का अवलोकन करते करते हम आज से प्राय: ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् १५ वीं शती तक की उसकी (मानव की)

विकास स्थिति तक आ पहुँचे हैं। प्राय: १६ वीं शती के आरम्भ में मानव एक करवट बदलता है, मानो शताब्दियों से उन्मीलित उसकी आंखें खुलती हैं। अपनी नींद में जो कुछ उसने भुला दिया था, खो दिया था, उसका पुन: उत्थान करता है एवं कुछ विशेष नई उद्भावनायें, नये विचार लेकर वह उठता है।

इस चल चित्रपट पर हमनें देखा–४-५ लाख वर्ष पहिले जब मानव का आगमन हुआ था, तब तो वह केवल अर्द्ध-मानव की स्थिति में था, वृक्षों की छाल या पत्ते या जानवरों की खाल से अपना तन ढकना था; कंद, मूल, फल, कच्चा मांस खाता था; आग का आविष्कार कर चुका था एवं मांस भूनने भी लगा था; किंतु सभ्यता एवं विचार की स्थिति अभी तक उसमें उत्पन्न नहीं हो पाई थी, 'स्व' की चेतना भी उसमें न हो। फिर अनुमानत: ५०–६० हजार वर्ष पूर्व वास्तविक मानव का आविर्भाव हुआ–हजारों वर्षों तक उसकी भी स्थिति प्राय: असभ्य रही; शिकार के लिए एवं अपनी रक्षा के लिये; पत्थर एवं चकमक के वह सुन्दर, सुघड़ औजार बनाने लगा था-गुफाओं में रहते रहते गुफाओं की दीवारों पर चित्रांकन भी करने लगा था,–किंतु संगठित जीवन, सुसपष्ट 'स्व' की चेतना एवं विचार का विकास उसमें प्राय: नहीं हो पाया था;–फिर आज से प्राय: १०-१२ हजार वर्ष पूर्व वह इस स्थिति में पहुँचा,

ज़ब वह चकमक के अलावा तांबे, एवं कांस्य के औजार एवं हथियार भी बनाने लगा था, खेती का आविष्कार कर चुका था, पशु-पालन करने लगा था, रहने के लिए कच्चे घर बनाने लगा था, चाक का आविष्कार कर चुका था एवं उस पर मिट्टी के सुन्दर बर्तन बनाता था,-उसमें अपने जीवन और रहन सहन के प्रति चेतना का विकास हो चुका था। भिन्न भिन्न पुरखाओं के व्यक्तित्व से लोग अपना वंशानुगत संबंध जोड़ने लगे थे और इस प्रकार उनमें जातिगत भावना (Tribal Consciousness) का विकास हो चुका था। कठोर प्रकृति-वर्षा, तूफान, बिजली, आंधी से; मृत्यु एवं स्वप्न दृश्यों से भयातुर एवं विस्मित होकर, वे लोग जीवन और समूह की सुरक्षा की कामना से स्थानगत एवं जाति गत देवताओं की कल्पना करने लगे थे,-अजीब अजीब आकार की पत्थरों की मूर्तियों में, वृक्षों, नागों और पशुओं में देवताओं का अस्तित्व माना जाने लगा था—एवं उन देवताओं की तुष्टि के लिये प्रकार प्रकार की पूजाओं और बलिदानों का प्रचलन हो गया था। समूह में एक पुरोहित वर्ग पैदा हो गया था जो इन देवताओं की पूजा करता एवं करवाता था, एवं जो जादू, टोना, बलि इत्यादि से जातियों एवं व्यक्तियों की मनोकामना की सिद्धि के लिये देवता की तुष्टि करता था।—आदि मानव के मन और मस्तिष्क में गति तो होने लगी थी—किंतु अभी अज्ञान में वह कितना जकड़ा हुआ

विकास स्थिति तक आ पहुँचे हैं। प्रायः १६ वीं शती के आरम्भ में मानव एक करवट बदलता है, मानो शताब्दियों से उन्मीलित उसकी आंखें खुलती हैं। अपनी नींद में जो कुछ उसने भुला दिया था, खो दिया था, उसका पुनः उत्थान करता है एवं कुछ विशेष नई उद्भावनायें, नये विचार लेकर वह उठता है।

इस चल चित्रपट पर हमनें देखा–४–५ लाख वर्ष पहिले जब मानव का आगमन हुआ था, तब तो वह केवल अर्द्ध-मानव की स्थिति में था, वृक्षों की छाल या पत्ते या जानवरों की खाल से अपना तन ढ़कता था; कंद, मूल, फल, कच्चा मांस खाता था; आग का आविष्कार कर चुका था एवं मांस भूनने भी लगा था; किंतु सभ्यता एवं विचार की स्थिति अभी तक उसमें उत्पन्न नहीं हो पाई थी, 'स्व' की चेतना भी उसमें न हो। फिर अनुमानतः ५०–६० हजार वर्ष पूर्व वास्तविक मानव का आविर्भाव हुआ–हजारों वर्षों तक उसकी भी स्थिति प्रायः असभ्य रही; शिकार के लिए एवं अपनी रक्षा के लिये; पत्थर एवं चकमक के वह सुन्दर, सुघड़ औजार बनाने लगा था-गुफाओं में रहते रहते गुफाओं की दीवारों पर चित्रांकन भी करने लगा था,–किंतु संगठित जीवन, सुसपष्ट 'स्व' की चेतना एवं विचार का विकास उसमें प्रायः नहीं हो पाया था;–फिर आज से प्रायः १०-१२ हजार वर्ष पूर्व वह इस स्थिति में पहुँचा,

ज़ब वह चकमक के अलावा तांबे, एवं कांस्य के औजार एवं हथियार भी बनाने लगा था, खेती का आविष्कार कर चुका था, पशु-पालन करने लगा था, रहने के लिए कच्चे घर बनाने लगा था, चाक का आविष्कार कर चुका था एवं उस पर मिट्टी के सुन्दर बर्तन बनाता था,-उसमें अपने जीवन और रहन सहन के प्रति चेतना का विकास हो चुका था। भिन्न भिन्न पुरखाओं के व्यक्तित्व से लोग अपना वंशानुगत संबंध जोड़ने लगे थे और इस प्रकार उनमें जातिगत भावना (Tribal Consci-ousness) का विकास हो चुका था। कठोर प्रकृति-वर्षा, तूफान, बिजली, आंधी से; मृत्यु एवं स्वप्न दृश्यों से भयातुर एवं विस्मित होकर, वे लोग जीवन और समूह की सुरक्षा की कामना से स्थानगत एवं जाति गत देवताओं की कल्पना करने लगे थे,-अजीब अजीब आकार की पत्थरों की मूर्तियों में, वृक्षों, नागों और पशुओं में देवताओं का अस्तित्व माना जाने लगा था—एवं उन देवताओं की तुष्टि के लिये प्रकार प्रकार की पूजाओं और बलिदानों का प्रचलन हो गया था। समूह में एक पुरोहित वर्ग पैदा हो गया था जो इन देवताओं की पूजा करता एवं करवाता था, एवं जो जादू, टोना, बलि इत्यादि से जातियों एवं व्यक्तियों की मनोकामना की सिद्धि के लिये देवता की तुष्टि करता था।—आदि मानव के मन और मष्तिष्क में गति तो होने लगी थी—किंतु अभी अज्ञान में वह कितना जकड़ा हुआ

था। इसी प्रकार चलते चलते आज से लगभग ८ हजार वर्ष पूर्व (अथवा ई. पू. ५-६ हजार वर्ष में) संगठित सभ्यताओं का उदय होता है—मिश्र, मेसोपोटेमिया एवं सिन्धु प्रदेशों में कृषि, पशुपालन, ग्रामवास, एवं मिट्टी के बर्तनों के निर्माण के साथ साथ सुव्यवस्थित नगरों, भवनों एवं मन्दिरों का निर्माण होता है; तांबा. कांसा, पीतल इत्यादि धातुओं का विशेष प्रयोग होता है—चांदी एवं सोने के आभूषण बनते हैं,—ऊन वनस्पति रेशे, रेशम एवं रुई के कपड़े बनने लगते हैं, और उनकी रंगाई भी होती है, भिन्न भिन्न नगरों और प्रदेशों में परस्पर व्यापार भी होता है इत्यादि। किंतु मानव का मानस अभी भय से जकड़ा हुआ था—अतः डर के मारे जातिगत, नगरगत, ग्रामगत देवताओं की तुष्टि के लिए, बलि प्रदान, पूजा, जादू, टोना, का सर्वत्र प्रचलन था। उस काल के लोगों का बौद्धिक एवं धार्मिक जीवन मंदिर, देवी देवताओं, पुरोहित, जादू टोना, इत्यादि की भावनाओं तक ही सीमित था। प्रकृति में सौन्दर्य, आनन्द और उल्लास के दर्शन अभी तक उन्होंने नहीं किये थे–प्रकृति अभी तक उनके लिये भय का कारण थी;–उसको समझ-कर उससे एकात्मक भाव स्थापित करने की चेतना नहीं किन्तु उससे डर कर उसको तुष्ट करने की भावना, उन आदि सभ्यता काल के लोगों में थी। भौतिक दृष्टि से स्थिति अपेक्षाकृत ठीक हो, किन्तु मानसिक, आध्यात्मिक दृष्टि से वह स्थिति निकृष्ट

थी—मानव चेतना मुक्ति की ओर अभी उन्मुख हीन थी–उसको स्वयं का आभास ही नहीं था। फिर ठीक ई. पू. की कुछ शताब्दियों में इन कार्ष्णेय सभ्यताओं से सर्वथा स्वतन्त्र ढंग से, एवं भिन्न देशों में यथा भारत, चीन, ग्रीस और रोम में, कहीं स्यात् कार्ष्णेय सभ्यताओं से पूर्व (जैसे भारत एवं चीन ?) एवं ग्रीस और रोम में कार्ष्णेय सभ्यताओं के उत्तर काल में–इतिहास में सर्वप्रथम एक उदात्त आध्यात्मिक क्रांति के दर्शन होते हैं–मानव में उसकी चेतना का एक अभूतपूर्व निर्भय, स्वतन्त्र प्रस्फुटन होता है। वह प्रस्फुटन इतना मुक्त, आनंदमय और पूर्ण मानों चेतना अपनी अनुभूति की निगूढतम छोर को छू चुकी हो–इसके आगे स्वानुभूति के लिये कुछ न बचा हो। निःसंदेह आज तक मानव चेतना अपनी स्वानुभूति में उस छोर के आगे नहीं पहुँच पाई है जिस छोर तक अपने प्रस्फुटन के उस प्रारम्भिक युग में वह पहुँच पाई थी। उस युग में भारत में मानव चेतना ने निःश्रेयष की—आत्म-स्वरुप परम प्रकाश एवं परमानन्द की प्राप्ति की;–ग्रीस में मानव चेतना ने सब प्रकार की अपरोक्ष सत्ता से निर्भय निःशक हो, प्रकृति को सीधा देखा, उसका पर्यवेक्षण किया, एवं जीवन और कला में वस्तुतः अनुपम सौन्दर्य की अवतारणा की; रोम में मानव चेतना ने समाज रचना और संगठन का आधार सुव्यवस्थित नियम और विधि में ढूँढा; चीन में मानव चेतना ने जीवन स्वरों की

अनेकता में समरसता (Symphony) ढूंढ निकाली संसार की वस्तुओं के सहज सरल संभोग एवं परस्पर मधुर संबंध में।

इस प्रकार इतिहास के उन प्रारंभिक युगों में एक बार मानव ने मानसिक मुक्ति, मस्ती, आनंद और सौन्दर्य की अनुभूति की थी,-किन्तु बाद में उस पर धीरे धीरे परदा पड़ गया, और मानव सर्वत्र एक लम्बे अर्से तक (छठी शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक) इतिहास के मध्यकालीन अंधकारमय युग में प्रवेश कर गया। पच्छिम में, यथा ग्रीस, इटली एवं समस्त यूरोपीय प्रदेशों में अपेक्षाकृत असभ्य ट्यूटोनिक, गोथ एवं केल्ट आर्य-जातियाँ फैल गई-ईसाई मत का उन में प्रचार हुआ, ग्रीक और रोमन सभ्यता प्रायः विलुप्त हुई, मानस मन जकड़ा गया, अंधविश्वासों और धार्मिक वहमों का वह दास हो गया, संकीर्णता उसमें घर कर गई, बाह्य प्रकृति की ओर से उसने आंखें मूंद लीं, स्वर्ग, नरक, पादरी, पुजारी के पचड़े में वह फंस गया, स्वतन्त्र चिन्तन, विद्या और कला से वह विमुख होगया। पूर्व में भारत में भी यही दशा हुई। वहां यद्यपि प्राचीन संस्कृति सर्वथा विलुप्त नहीं होगई, किन्तु लोगों में केवल उसके नाम के प्रति मोहमात्र रह गया, पच्छिम की तरह मानस अंध-विश्वास एवं संकीर्णता में प्रायः जकड़ा गया। मानो सर्वत्र मानव गति हीन होगया, वह सोगया। छठी सातवीं शती में मानों सोया था-१५ वीं १६ वीं शती तक सोता रहा।

किन्तु सोये हुए मानव ने करवट ली, वह जाग कर उठा। पूर्व में भी, पच्छिम में भी; भारत, चीन में भी, यूरोप में भी। यूरोप का मानव तो यहां तक सक्रीय होकर उठा और गतिमान हुआ कि कई सहस्त्राब्दियों से लुप्त एवं अज्ञान विशालभूखंड अमेरिका तक को ढूढ़ निकाला और उसका कल्पनातीत विकास किया। इस काल से दुनियां के इतिहास में अमेरिका भी सम्मिलित हुआ।

पूर्व और पच्छिम में मानव प्रगति की तुलना

निःसंदेह यह पुनः जागृति दुनियां में प्रायः सर्वत्र हुई-किन्तु इस काल से यूरोप का मानव ही जो तत्कालीन भारत और चीन की अपेक्षा बहुत बहुत पिछड़ा हुआ था, विशेष गतिशील और विकासमान रहा-आधुनिक युग में प्रायः २० वीं शती के आरंम्भ तक मानव इतिहास और मानव की गति और विकास का श्रेय विशेषतया पच्छिम को ही रहा। अतः मानव विकास की कहानी में आगे यूरोप की ही गति और विकास का विशेष उल्लेख रहेगा। तथापि पच्छिम और पूरब में विकास की गति का स्पष्ट तुलनात्मक ज्ञान हमें रहे इसलिये पुनर्जागरण काल से २० वीं शती के प्रारंभ तक पच्छिम और पूर्व की गति किस प्रकार रही, इसकी तुलना में हम कुछ समीकरण Equations यहां बना लेते हैं। इन समीकरण (Equations) को केवल अनुमानित सत्य समझना चाहिये-गणित की सत्य नहीं। (आधारः इतिहासज्ञ विनयकुमार सरकार)

	विवरण
१. पूर्व में पुनर्जागृति (१४००–१६००) पश्चिमी में पुनर्जागृति (१४००–१६००)	दोनों स्थानों में विशेषतया धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में जागृति हुई। पश्चिम में साथ साथ विज्ञान में भी विकास हुआ, किंतु पूर्व में नहीं।
२. पूर्व में पदार्थ विज्ञान (१६००–१७५०) पश्चिम में पदार्थ विज्ञान (१४००–१६००)	पुनः जागृति की इस लहर में चूंकि यूरोप में तो वैज्ञानिक विकास भी हुआ—किंतु पूर्वीय देशों ने इस दिशा में कोई गति नहीं की, अतः वैज्ञानिक विकास की जिस स्थिति तक यूरोप (१४००–१६००) में पहुंचा वैसी स्थिति पूर्व में १५० वर्ष बाद अर्थात् (१६००–१७५०) तक बनी रही। किंतु,—
३. पूव म सामाजक आर्थिक जीवन स्तर (१६००–१७५०) पश्चिम में सामाजिक आर्थिक जीवन स्तर (१६००–१७५०)	चाह यूराप वज्ञानक उन्नति में एिशया से आगे बढ गया था, एवं वह १५० वर्ष आगे था–किंतु दोनों ओर के सामाजिक आर्थिक जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि पूर्वीय देशों में सामाजिक एवं आर्थिक दशा शताब्दियों पूर्व से ही बहुत उन्नत थी।
४. पश्चिम १७५० ई. पूर्व १८५० ई.	१७५० से १८५० तक पश्चिम में व्यवहारिक विज्ञान (Applied Science) के अन्वेषणों द्वारा औद्योगिक क्रांति हुई। पश्चिम में एक नई सभ्यता की उत्पत्ति हुई; । "आधुनिक दृष्टिकोण" का विकास हुआ। सर्वप्रथम पूर्व और पश्चिम में मौलिकभेद आकर उपस्थित हुआ

सन् १८५० में पूर्व पच्छिम से, औद्यौगिक एवं यांत्रिक कुशलता, राजनैतिक सामाजिक संगठन में प्रायः १०० वर्ष पीछे पिछड़ गया। पच्छिम की दुनियां बिल्कुल बदल गई, पूर्व में जीवन की गति प्रायः मध्य युगीय ढांचे में ही चलती रही। यह दशा प्रायः २० वीं शती के आरम्भ तक चलती रही। कह सकते हैं कि विश्व-इतिहास का १७५० से १९०५ ई. तक का काल अति गौरवशाली और अभूतपूर्व विकासमान रहा, किन्तु पूर्व में यही काल सर्वाधिक गतिहीन और शीथिल रहा। १९०५ में तो पूर्व जागा, जब यूरोपीय महादेश रूस को पूर्व के छोटे से देश जापान ने पराजित किया; और आज १९५० में यद्यपि अभी तक पूर्वीय देश यूरोप और अमेरिका की अपेक्षा औद्यौगिक एवं यांत्रिक कुशलता में बहुत पिछड़े हुए हैं-किन्तु दुनियां की सब गतिविधियों से ये परिचित हैं-उनके प्रति ये जागरुक हैं, एवं तीव्र गति से ये अपना विकास कर रहे हैं। आज तो विज्ञान ने दुनिया के देशों को एक दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि संसार भर में सभ्यता का स्तर एकसा होजाना एवं भिन्न भिन्न संस्कृतियों में आधारभूत एक-रस्ता आजाना बहुत सम्भव है। संसार भर में सांस्कृतिक एकता की बात करते समय यह :शंका उठती होगी कि जब सब कालों में भिन्न भिन्न देशों की सभ्यता और संस्कृति भिन्न भिन्न रही है, तो अब वह कैसे एक हो सकती है, किन्तु यह बात मानते हुए

हमें इतना नहीं भूल जाना चाहिये कि सब देशों में सब कालों में सम्पूर्ण मानव जाति में–मनोवैज्ञानिक एकता रही है, उनके मानवीय हृदय गत भाव, भय, प्रेम, मोह, ईर्ष्या एक से रहे हैं–और इन भावों के उद्दीपन कारण भी एक से रहे हैं।

पूर्व क्यों पीछे रह गया ?

विकास की गति की तुलना में कुछ (Equations) ऊपर लिखी गई हैं। इन (Equations) का अध्ययन करते समय हमारे ध्यान में कुछ बातें आई हैं। भारत और चीन पश्चिम की अपेक्षा बहुत प्राचीन देश रहे हैं एवं इनकी सभ्यता और संस्कृति बहुत समुन्नत और उदात्त। यूरोप में जब मानव बहुत अंशों तक असभ्य था उस समय भारत और चीन की सभ्यता बहुत ही बढ़ी चढ़ी थी। क्लाइव जब १८ वीं शती में भारत में आया और उसने बंगाल में मुर्शिदाबाद नगर देखा था तब उसने कहा था कि इतना समृद्ध और विशाल नगर यूरोप में कहीं भी नहीं है। ऐसी ही समृद्ध और उन्नत दशा चीन, हिन्दचीन, हिन्देशिया में भी थी। प्रश्न यही उठता है कि पूर्व जहां की सभ्यता इतनी पुरानी और समृद्ध थी, जहां के मानव के पास साहित्य, कला, दर्शन, सामाजिक संगठन, व्यापार एवं उद्योग की थाती पहिले से ही थी, वह मानव यूरोप के उन अपेक्षाकृत असभ्य एवं बहुत पिछड़े

हुए लोगों से १८वीं एवं १९वीं शताब्दियों में क्यों एक दम पीछे रह गया। इतिहासकारों ने इसके कारणों की चर्चा की है। [पूर्व का मानव वस्तुतः अपनी संस्कृति के मूलतत्व, उसके भाव को भुला चुका था और उसकी जगह उसके नाम में प्रचलित कई निर्मूल संकीर्ण आर्थिक एवं सामाजिक मान्यतायें और विचारों की श्रृंखलाओं में बंध चुका था। धार्मिक एवं जीवन सम्बंधी संकीर्ण मान्यतायें कैसे पहले तो समाज के समृद्ध, शिक्षित और नेतावर्ग में प्रचलित हो गई, और फिर किसी प्रकार जन जन तक फैल गई– यह कहना कठिन है। इन प्रचलित विश्वासों और मान्यताओं को ही अपनी प्राचीन सभ्यता समझकर पूर्व का मानव उसकी पूर्णता और बड़प्पन में इतना अन्ध-विश्वासी हो गया कि वह मानने लगा था कि ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम शब्द अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कहा जा चुका है। उसके आगे कुछ नहीं है। उसकी भावना इतनी संकीर्ण हो चुकी थी कि वह जाने अनजाने यह विश्वास करने लगा था कि मानों उसके देश और उसकी सभ्यता के बाहर कहीं भी उच्च सभ्यता एवं संस्कृति नहीं हो सकती, यहां तक की आज भी भारत और चीन में ऐसे मनुष्य विद्यमान है जिनका यह विश्वास बना हुआ है कि भारत में जो कुछ भी वेदों में लिखा हुआ मिलता है उसके अतिरिक्त दुनियां में ज्ञान, विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में कुछ भी नई बात नहीं है। वेद समझ कर अध्ययन की वस्तु नहीं केवल पूजा की वस्तु रह

गये थे। ऐसा ही विश्वास कई चीनवासियों ने अपने प्राचीन ग्रंथ "परिवर्तन के नियम" एवं महात्मा कनफ्यूसियस की रचनाओं के प्रति बना रक्खा है। बहु संख्यक साधारण जन की बात तो जाने दीजिये जो प्रत्येक देश मे, प्रत्येक युग मे अशिक्षित रहा है, जिनकी जानकारी बहुत सीमित रही है, किंतु उपरोक्त विश्वास उन लोगों का था जो अपेक्षाकृत समृद्ध एवं शिक्षित थे, संस्कृत थे, अतएव जो समाज के नाशक और सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतिनिधि माने जासकते थे। जब उन्हीं ने अपनी अज्ञान-मूलक अहमन्यता में अपनी आंखे बंद करलीं तथा प्रकाश और प्रवाहशील वायु के द्वार रुद्ध कर दिये तो देश और जाति की गति रुक जाना और उसका पिछड़ जाना स्वाभाविक था। बजाय इसके कि जागरुक रहते हुए, अपनी दृष्टि में विशालता रखते हुए, वे नये प्रवाह को समझने का प्रयत्न करते, स्वयं जाकर देखते कि वह कहां से आरहा है, उससे सीखते उसको सिखाते,-अपने गुण से उसको अनुप्राणित करते उसके गुण से स्वयं अनुप्राणित होते,-वे अपनी संकीर्णता में आंखे मूंदे हुए ही रह गये। जब पच्छिम सामुद्रिक रास्तों से १५वीं शती में पूर्व के सम्पर्क में आया तब वह तो जागा,-किंतु पूर्व पच्छिम के सम्पर्क में आकर नहीं जागा; बल्कि कहीं उसकी नींद में दखल न हो उसने नये झौंके को रोकने के लिये अपने द्वार और बंद कर लिये। चीन और जापान ने पच्छिम की धारा को आते हुए

देखकर १७वीं १८वीं शती में अपने देशों के द्वार बिल्कुल बन्द कर लिये (चाहे १९वीं शती के मध्य में बेवस होकर फिर उन्हें वे खोलने भी पड़े), और भारत यद्यपि अपने देश के द्वार बंद नहीं कर सका और पददलित होता गया, किंतु,-उसने अपने मानसिक द्वार नहीं खोले। वस्तुतः निर्भीक मुक्त चिंतन और विशालता और जन साधारण की राजनैतिक चेतनता जो भारत की परम्परा रही थी, ७वीं शती से ही कम होने लगी थी धीरे धीरे उनके स्थान पर तुर्क राज्य कालीन मध्य युग तक मिर्क और सामाजिक संकीर्णता, जड़रूप आलस्य एवं राजनैतिक जागरुकहीनता ने अपना अंधकार-मय शासन जमा लिया था। पूर्वी या पच्छिमी तत्कालीन सभी देशों में ऐसी स्थिति होगई थी।

किन्तु रिनेसां युग (पुनर्जागृति युग), अर्थात् प्रायः १५वीं शती के मध्य से लेकर यूरोपीय लोग तो मध्यकालीन अंधेर युग की मानसिक गुलामी संकीर्णता,—नर्क, स्वर्ग, और परलोक के भय से मुक्त हो, इसी लोक और इसी जीवन को वास्तविक समझ इस दुनियां की—एवं प्रकृति और मनोविज्ञान की खोज में जुट गये,-किन्तु पूर्व अपनी धार्मिक, सामाजिक संकीर्णता में जहां था वहीं जमा रहा और अपनी आलस्य की नींद में सोता रहा।

पूर्व में भी १५ वीं शती में कुछ पुनर्जागरण हुआ अवश्य किन्तु वह केवल सीमित धार्मिक साहित्यिक क्षेत्र में।—अपने

आलस्य एवं मानसिक संकीर्णता से वह पर्याप्त मुक्त नहीं हो सका, इतना जागरुक और चैतन्य होकर वह नहीं उठ सका कि प्रकृति और दुनियां को निशंक सीधा देखता और उसमें दूर दूर तक विचरण करने लगता।

भारत में पुनर्जागरण:- हिन्दू मानस में, जड़ पूजा, वाम मार्ग, अन्धविश्वास, जांत पांत, पाठ पूजा का आडम्बर, बाल-विवाह, पर्दा,-ऐसी अनेक संकीर्ण धार्मिक एवं सामाजिक धारणायें घर कर गई थीं-इनके विरुद्ध एक सुधार की लहर चली,-जिसके प्रवर्त्तक थे सन्त, भक्त कवि। इन संत लोगों और कवियों ने (जैसे कबीर, दादूदयाल, नानक, चैतन्य, मीरा नामदेव ने) संस्कृत भाषा की परंम्परा छोड़, जन-साधारण की भाषा में ही अनुपम काव्य साहित्य का निर्माण किया, एवं जन जन का मानस शुद्ध सरल भक्ति से आप्लावित किया, एवं अनेक संकीर्णताओं से उनको मुक्त किया—भाव मग्न करके किन्तु वस्तुतः समाज के उन लोगों को जिनके हाथ में शक्ति थी;—जो समृद्ध थे, जो शिक्षित उच्च वर्ग के थे, और जो धर्म और संस्कृति के रक्षक माने जाते थे उनको इस सुधार की धारा नहीं छू सकी, वरन् उधर से तो इसका विरोध ही हुआ। अतः सम्पूर्ण समाज में कोई नव-जागृति नहीं आ सकी। उसके दृष्टिकोण में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आ सका। उनकी धार्मिक चेतना को

केवल एक नया भाव–आधार मिल गया किन्तु तत्कालीन रुढ़ विचारधारा में कोई क्रांतिकारी उलट फेर नहीं हुआ ।

दूसरी बात-इन भक्त संत कवियों का कार्य-क्षेत्र मुख्यत: धार्मिक था। प्राय: अन्तर्मानस एवं व्यक्तिगत आचरण तक सीमित,–बाह्य–लोक, प्रकृति और राजनैतिक चेतना से सर्वथा असंबद्ध । इन भक्त, संत कवियों के अतिरिक्त और कोई लोक-नायक भी ऐसा नहीं हुआ जो उस लोक मानस को जो संकीर्ण, धार्मिक और रुढ़ सामाजिक मान्यताओं तक ही सीमित था,–बाह्य प्रकृति अथवा विज्ञान और राजनैतिकता की ओर सचेष्ट करता। इसके विपरीत यूरोप में इसी युग में ऐसे महान् कवि एवं कलाकार हुए जो कविता और कला के धनी होने के अतिरिक्त वैज्ञानिक एवं राजनैतिक चेतना भी रखते थे यथा:– इटली का महान् कवि दान्ते जिसने रोमन सभ्यता कालीन प्राचीन साहित्यिक भाषा लेटिन को छोड़कर अपने काव्यों में इटालियन भाषा अपनाई (जिस प्रकार भारत में संस्कृति की परम्परा छोड़कर कवि प्रादेशिक लौकिक भाषा अपनाने लग गये थे); कवि होने के अतिरिक्त राजनैतिक नेता और क्रांतिकारी भी था जो अपने दल की तरफ से युद्धक्षेत्र में लड़ा भी था, एवं बंदी होने पर वर्षों का कारावास भी सहन किया था। फिर इटली का महान् कलाकार लिओनार्दो दा विंसाई–जो कलाकार होने के अतिरिक्त इंजिनियर, और वैज्ञानिक भी था–जिसने सर्व-

प्रथम पथराई हुई पत्तियों और हड्डियों (Fossils) की महत्ता को समझा था। कहने का मतलब यह है कि भारतीय समाज का कोई भी अंग, उसका कोई भी लोकनायक प्रकृति विज्ञान और राजनैतिक लोक की ओर सचेष्ट नहीं था–और न यह सचेष्ट पुनर्जागृति काल ही आ पाई। पूर्व में मध्य युग में और तदन्तर भी दार्शनिक पैदा होते रहे, धर्म गुरु पैदा होते रहे, धर्म और दर्शन पर वाद विवाद भी होते रहे–किन्तु वे सब एक बंधन को मानकर चलते थे-वह यह कि प्राचीन शास्त्र प्रमाण हैं-अतः उनके विवाद प्राकृत जीवन और प्राकृत लोक से दूर शब्दों की तोड़ फोड़ और उनका अर्थ अनर्थ करने तक ही रह जाते थे। प्राचीनता एवं शास्त्रीयता की मानसिक गुलामी से मुक्त, वास्तविक जीवनी शक्ति वाला कोई भी तो लोक नेता या समाज का अंग ऐसा नहीं निकला जो लोक-मानव की दृष्टि इसी वास्तविक जीवन; इसी वास्तविक लोक और प्रकृति की ओर उन्मुख करता, जो गुलाम लोकमानस को कुछ तो निर्भीकता, कुछ तो स्वतन्त्रता की अनुभूति करवाता।

चीन में पुनर्जागरण: चीन में भी प्रायः इन्हीं शताब्दियों में अर्थात १५ वीं से १७ वीं तक पुनर्जागृति हुई। विशेषतः मिंग राज्य वंश काल में (१३६०–१६४३) बौद्धिक, दार्शनिक, एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक आंदोलन चला जिसे बुद्धिवाद

(चीनी में ली शिया) कहते हैं। इस आंदोलन के प्रवर्त्तक अनेक प्रसिद्ध विद्वान थे, जिनमें चोटुन-वी एवं वांग यांग मिन विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों एवं प्रचीन महात्माओं की शिक्षाओं का पुनरुत्थान किया, एवं विश्व और मानव जीवन का बुद्धिवादी समीक्षा करने का प्रयत्न किया एवं इस काल से पूर्व प्रचलित दो संकीर्ण रुढिगत विचारधाराओं या प्रवृत्तियों के प्रवाह को बदला। ये दो रुढ़ प्रवृत्तियां थीं:-पहिली 'निराशावाद' की प्रवृत्ति, जिससे प्रभावित लोग नाम तो त्याग का लेते थे और दुनियां को सारहीन बताते थे, किन्तु रहते खूब ठाठ-बाठ से। यह एक पाखंड था। दूसरी प्रवृत्ति रीतिवाद की थी, जिससे प्रभावित लोग बाह्य नियमों और रीतियों की दुहाई देते थे, और वस्तु और कला की आत्मा जानने का प्रयत्न नहीं करते थे। इससे जीवन में जड़ता आगई थी। बुद्धिवाद ने मानव चेतना को फिर से सचेष्ट और जागृत किया।

चीन की सभ्यता और संस्कृति अति प्राचीन थी—यहां का सामाजिक, आर्थिक जीवन, एवं यहां की कला और साहित्य जैसा कि ऊपर समीकरणों में निर्देशित किया गया है, १७ वीं १८ वीं शती तक यूरोप की अपेक्षा बहुत समृद्ध और सुसंगठित था। यहां का वैज्ञानिक ज्ञान भी बहुत बढा हुआ था; यहाँ तक कि चीन के ही तीन प्राचीन आविष्कारों (यथा-मुद्रण, कुतुबनुमा और बारुद) को अपना कर यूरोप वालों ने १५ वीं १६ वीं शताब्दियों

में तीव्रगति से प्रगति के पथ पर चलना शूरु किया था । चीन भी मध्य युग के 'निराशावाद' और रीतिवाद (अर्थात् रुढ़ीवाद) के बाद 'बुद्धिवाद' के प्रभाव से कुछ उठा था किंतु १७ वीं शती तक आते आते ऐसा सो गया और १८ वीं शती में पच्छिम से आते हुए झोंके को अपने द्वार बन्द कर ऐसा रोकने का प्रयत्न किया कि भारत की भांति वह भी अपनी प्राचीनता की अह-मन्यता, संकीर्णता और अजीब जागरुकहीनता और आलस्य के फलस्वरुप,-पच्छिम से पिछड़ गया। चीन का इस प्रकार पिछड़ जानें का एक और विशेष कारण भी बतलाया जाता है—और वह है चीनी भाषा की दुरुहता। भाषा की दुरुहता की वजह से चीनी विज्ञान साधारण जन की थाती नहीं बन पाया—और जब इस बात को देखकर चीनी भाषा में सुधार के आन्दोलन चले तो वहां के विशिष्ट मंडारिन (शिक्षित राज-कर्मचारी) वर्ग ने अपने वग स्वार्थ के हित इन आन्दोलनों का विरोध किया, अतः प्रगति रुकती गई।

४४

युरोप में पुनर्जागृति (रिनेसां)

रिनेसा की भूमिकाः— १५ वीं शती में यूरोप में रिनेसा (पुनर्जागृति) वह मानसिक एवं बौद्धिक आन्दोलन था

जिसने मानव को उन रूढ़िगत धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताओं की श्रृंखलाओं से मुक्त किया जो उसके 'मानस' को अनेक शताब्दियों से जकड़े हुए थीं, और जिन्होंने उसके मन को भय के भार से दबा रक्खा था। मानसिक दासता और आत्मिक भीरुता से मुक्त होने के लिये मानव गतिमान हुआ,–'मानव विकास' के इतिहास में यह अनुपम घटना थी। ठीक किस वर्षसे यह गति प्रारम्भ हुई–यह कहना कठिन है,–इतना ही कहा जा सकता है कि १५ वीं शती के उत्तरार्ध में यह गति स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई, और इसनें उस दृष्टिकोण की नींव डाली जिसे वैज्ञानिक या आधुनिक दृष्टि कोण कहते हैं। मानसिक, बौद्धिक मुक्ति की ओर मानव का यह प्रयाण था,–मानव अभी तक अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँचा है –उसकी ओर अभी तक वह गतिमान है।

मध्य युग का जीवन मुख्यत: दो मान्यताओं से सीमित था। सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवाद की भावना परिव्याप्त थी; मानसिक धार्मिक क्षेत्र में, रूढ़िगत स्वर्ग, नरक, प्रलय, गिरजा, पोप, पाप—आदि की भावना। उस युग के मानव का मानस, उसके विचार और भावनायें भी केवल इन्हीं बातों तक सीमित थीं। रिनेसां युग में इन्हीं क्षेत्रों और विचार-धाराओं, मान्यताओं और विश्वासों में उच्छेदन प्रारम्भ हुआ,–

और उनके स्थान पर नये विचार, नई भावनायें, नई मान्यतायें आने लगी। मानव स्वर्ग, नरक, प्रलय, आत्मा की मुक्ति आदि की मान्यताओं और भयों से मुक्त हो-प्रकृति और जीवन की ओर सीधा, वैज्ञानिक परीक्षण की दृष्टि से देखने लगा। कई दिशाओं से इस गति को शक्ति मिली।

१. १२ वीं से १५ वीं शती तक संसार में घुमक्कड़ मंगोल जाति का प्रभाव रहा था—समस्त पूर्वीय यूरोप में, चीन में, पच्छिम एशिया में, उत्तर भारत में। इन्हीं मंगोलों के सम्पर्क से यूरोप में चीन के तीन आविष्कार पहुँचे यथा:—कागज़ और मुद्रण, समुद्रों में मार्ग दर्शन के लिये कुतुबनुमा एवं लड़ाई में प्रयोग करने के लिये बारुद। इन आविष्कारों के ज्ञान ने यूरोपीय लोगों के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन कर डाला 'पच्छिम' 'पूर्व' के सम्पर्क से गतिशील बना। कागज़ और मुद्रण से जन साधारण में ज्ञान का प्रकाश पहुँचा; कुतुबनुमा से नये नये सामुद्रिक रास्तों की खोज होने लगी; एवं बारुद से सामन्ती शक्ति को ध्वस्त किया गया। केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी।

२. सन १४५३ ई. में उस्मान तुर्क लोगों की बढ़ती हुई शक्ति ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अन्तिम स्थल कस्तुनतुनिया पर हमला किया। तुर्क सुल्तान मौहम्मद द्वितीय ने नगर के

चारों ओर घेरा डाला, ईसाई सम्राट कोन्सटेनटाइन हाथ में तलवार लिये हुए युद्ध क्षेत्र में मारा गया—नगर की एक लाख जन-संख्या में से केवल ४० हजार बचे—नगर के प्रसिद्ध 'सेंट सोफिया' के गिरजे पर सलीब (Cross) के स्थान पर 'चन्द्रतारा' का इस्लामी झंडा फहराने लगा। अनेक ग्रीक विद्वान्, पंडित, जिनके पास प्राचीन ग्रीक एवं रोमन साहित्य के संग्रह थे—सब अपनी बौद्धिक सम्पत्ति लेलेकर पूर्व की ओर भागे, इटली में जाकर उन्होंने शरण ली, क्योंकि पड़ोसी बालकान प्रायद्वीप के समस्त प्रांतों पर तो तुर्क अधिकार स्थापित हो चुका था। ग्रीक और रोमन विद्वान् जो अपने साहित्य को लेकर इटली पहुँचे, उससे प्राचीन ग्रीक ग्रंथों के अध्ययन का प्रचार हुआ—और लोगों में उस प्राचीन ज्ञान के पुनरुत्थान की एक धुन सी लग गई। इटली पुनरुत्थान का केन्द्र बना। उस समय यूरोप की राजनैतिक स्थिति इस प्रकार थी। १५ वीं शती तक यूरोप में मंगोल लोगों का प्रभाव प्रायः समाप्त होकर, आधुनिक युग का प्रारम्भ राष्ट्रीय एक-तंत्रीय (राजाओं के) राज्यों के विकास से प्रारम्भ हुआ। कई देशों में सामन्तवादी शक्तियों का विरोध हुआ और शक्तिशाली केन्द्रीय राजाओं की स्थापना हुई। फ्रांस में राजा लुई ११ वें ने फ्रांस के भिन्न भिन्न सामन्ती प्रान्तों का एकीकरण किया, स्पेन में इसी प्रकार राजा फर्डीनेंड और रानी इसाबेला ने प्रान्तीय राज्यों को मिलाकर

एवं मुसलमानों के अन्तिम राज्य ग्रनाडा को पराजय कर स्पेन का एकीकरण किया, इङ्गलैंड में यही काम हेनरी सप्तम ने किया, किन्तु जर्मनी का तथा कथित पवित्र रोमन साम्राज्य एक राष्ट्रीय सूत्र में नहीं बंध सका,-यही हाल इटली का था, जहां के छोटे छोटे राज्यों के शासक परस्पर प्रतिद्वन्द्वता का भाव रखते थे, अतः एक सूत्र में संगठित नहीं हो सकते थे।

३. ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मध्य युग में स्वतन्त्र विचार और प्रकृति और विज्ञान की खोज की परम्परा बिल्कुल लुप्त थी। प्रतिभाशाली व्यक्ति संस्कृत एवं ग्रीक मूल ग्रन्थों से अरबी भाषा में अनुवादित ग्रंथों का एवं मूल अरबी ग्रन्थों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद कर रहे थे-विशेषत गणित नक्षत्र, चिकित्सा एवं भौतिक विज्ञान के ग्रन्थों का। इसी प्रकार विज्ञान की परम्परा जो समूल नष्ट नहीं हो चुकी थी, अनुकूल परिस्थितियां पाकर पनप उठी। वीं १४ वीं शतियों में जो धर्मयुद्ध (Crusades) हुए थे उनसे भी यूरोपवासियों का सम्पर्क पूर्वीय देशों से बढ़ा था।

४. १४ वीं शती के मध्य में संसार पर एक भयंकर आफत आई। यह आफत 'प्लेग बीमारी' की थी-जो इतिहास में 'काली मृत्यु' (Black death) के नाम से प्रसिद्ध हुई।

स्यात् मध्य एशिया या दक्षिणी रूस से इसने फैलना शुरु किया और कुछ ही महीनों में एशिया-माइनर, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका होती हुई समस्त यूरोप और इङ्गलैण्ड पर और पूर्व में चीन पर इसकी भयंकर काली छाया छा गई। पलपल में बेतहाशा आदमी मरने लगे—एक बार ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो मनुष्य जाति ही विनिष्ट होने जा रही हो। करोड़ों प्राणी कुछ ही महीनों में 'मौत के मुह' में समा गये। इस दुखदाई घटना की इतिहास पर कई प्रतिक्रियायें हुई। यूरोप में मानव ने समझा कि यह उसको चेतावनी है कि वह प्रकृति और प्रकृति के नियमों को समझे, और उनको समझकर प्रकृति की अनिष्टकर शक्तियों से मोर्चा ले। मजदूरों की कमी हो गई थी अतः समस्त यूरोप में मध्यकालीन युग में खेतों पर काम करने वाले जो दास (Serfs=भूमि हीन मजदूर) थे—उन पर जमीदारो, बड़े बड़े भूपतियों की ओर से जोर पड़ा कि वे अधिक परिश्रम करें और किसी भी ज़मीन को बिना जोते न छोड़ें—।

उस दुख की घड़ी में भूमिहर (Serfs) मजदूरों ने मजदूरी की दर में वृद्धि चाही–; जमीदारों ने इसका विरोध किया और किसानों पर अत्याचार करने प्रारंभ किये। अब तक तो गरीब दास (किसान) यह समझते आये थे—और यही उनका धर्म, उनके धर्म–गुरु और धार्मिक नेता उनको बताते आये

थे—कि दुनियाँ में यदि सामाजिक असमानता है—कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई भूपति है कोई मजदूर,—यह सब दैवी व्यवस्था है-ईश्वरीय करनी है-इसमें मनुष्य का कहीं भी कुछ भी दखल नहीं। किन्तु अब पीड़ित किसान को भान होने लगा कि सामाजिक संगठन मनुष्य की ही कृति है-सामाजिक असमानता अन्याय है-अतः इस काल में यूरोप में स्थल स्थल पर किसान विद्रोह हुए । इङ्गलैण्ड में एक गरीब पादरी जोहन बैल ने गरीब किसानों की मूक भावनाओं को प्रखर वाणी दी और २० वर्ष तक जगह जगह वह मानव अधिकारों की समानता की घोषणा करता फिरा-उसने कहा—"जब आदम खेती करता था और हौवा कातती थी, तब कौन सज्जन साहूकार था ?" अर्थात् सब प्राणी समान हैं—कोई ऊंचा नीचा नहीं । क्या अधिकार है भूपतियों को कि वे गरीब किसानों के कड़े परिश्रम पर मजे उड़ायें—किसान मेहनत करें और कुछ खायें नहीं,—और वे मेहनत कुछ न करें और हथियालें सब कुछ ।" इसी प्रकार की भावनायें कई देशों में अभिव्यक्त हुईं और १४ वीं १५ वीं शतियों में कई किसान विद्रोह हुए—। वे सब क्रूरता से दबा दिये गये-किंतु मध्य-युगीय सामन्तशाही की जड़ उनने उखाड़ फेंकी। संगठित समाज के प्रति जिसका आधार धर्म और ईश्वर बन चुके थे—इस प्रकार की विरोध भावना का प्रदर्शन-मानव इतिहास में पहली घटना थी।

प्राय: उपरोक्त ३-४ दिशाओं के झौकों से कुछ होश में आकर यूरोप में पुनर्जागृति की लहर पैदा हुई. जिससे आधुनिक मानस और आधुनिक युग का आगमन हुआ।—जीवन के सभी क्षेत्रों में यह हुआ—इसका अध्ययन हम निम्न ४ धाराओं में करेंगे।—१. मानसिक--बौद्धिक विकास २. नई दुनिया, नये देश एवं नये मार्गों की खोज। ३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तन ४. धार्मिक सुधार—जिसका विवेचन पृथक अध्याय में होगा।

१. मानसिक बौद्धिक विकास

प्रकृति में किसी परा-प्रकृति शक्ति का नियन्त्रण नहीं है-इस बात को मानकर प्रकृति का अध्ययन करना, उसका विश्लेषण करना, यह काम प्राचीन ग्रीस में ही प्रारम्भ हो गया था, जब वहां के मानव ने मुक्त मानस और मुक्त चिन्तन का आभास दिया था। ग्रीक सभ्यता के पतन के साथ साथ यह मुक्त चितंन समाप्त हो चुका था। उसके बाद मुक्त चिन्तन द्वारा वैज्ञानिक छानबीन का कुछ काम मिश्र में टोलमी ग्रीक राजाओं द्वारा स्थापित अलेक्जेन्डिरिया नगर में हुआ। मध्य-युग में ये बातें प्राय: समाप्त हो चुकी थी यद्यपि कहीं कहीं अरब लोगों ने भारत और प्राचीन ग्रीक साहित्य के सम्पर्क से वैज्ञानिक परम्परा चालू रक्खी थी। ऐसा भी नहीं कि मध्य युग में इस परम्परा का एक

भी नक्षत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ हो। मध्य युग के ही इटली का कलाकार लिओनार्दो दाविंसाई, इंजिनियरिङ्ग एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों में भी व्यस्त था। लिओनार्दो—मध्य युग एवं आधुनिक युग के बीच मानों एक कड़ी हैं। फिर मध्य युग में ही गिर्जाओं, पादरियों के विहारों अथवा आश्रमों में अनेक वाद विवाद होते थे, जो कि धार्मिक नैयायिक विवाद (Scholasticism) कहलाते थे।—इनमें पादरी एवं धर्म-गुरु यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे कि जितने भी ईसाई धर्म के सिद्धान्त हैं, एवं इस धर्म से सम्बन्धित प्राचीन धर्म ग्रन्थों में जो सृष्टि सम्बन्धी तथ्य वर्णित हैं वे सब विज्ञान के अनुकूल हैं। इससे और कोई बात स्पष्ट हो या न हो, कम से कम इतना आभास तो अवश्य मिलता है कि उस युग में भी कुछ विचारक अवश्य ऐसे होंगे जो बुद्धिवाद के आधार पर बातों को सोचते होंगे। उपरोक्त विचारकों में रोजरबेकन का नाम उल्लेखनीय रोजरबेकन है। इङ्गलैंड में ओक्सफोर्ड का एक पादरी था। उसने मानव जाति को पुकार पुकार कर आदेश दिया कि प्रयोग करो प्रयोग करो; प्राचीन विश्वासों और शास्त्र प्रमाणों से परिचालित मत होवोगे। दुनिया की ओर देखो। रस्म रिवाज, शास्त्रों के प्रति अन्ध आदर भाव, एवं यह आग्रह कि ऐसी कोई भी नई बात जो शास्त्रोक्त न हो ग्रहण नहीं करना—ये ही अज्ञान के मूल में हैं। इन संकीर्णताओं को दूर करोगे तो

हे मनुष्यों तुम्हारे सामने असीमित शक्ति की एक नई दुनियां के द्वार खुल जायेंगे। उसी ने कहा था कि ऐसी मशीनों वाले जहाज बनना संभव हैं जो बिना मल्लाहओं के भंयकर से भंयकर समुद्रों को पार कर सकें, ऐसी गाड़ियां संभव है जो बिना बैल घोड़ों की सहायता के चल सकें, और हवा में उड़ने वाली ऐसी मशीनें संभव हैं जिनमें बैठकर मानव आकाश की यात्रा कर सके। वस्तुतः रोजर बेकन उस युग का एक प्रतिभावान व्यक्ति था। १३ वीं १४ वीं शताब्दियों में ही कुछ ऐसे अर्ध-वैज्ञानिक थे जो साधारण धातुओं यथा तांबा पीतल से अनेक प्रयोग करके स्वर्ण बनाने की फ्रिक में थे एवं अनेक ऐसे ज्योतिष-विद थे जो मनुष्यो का भाग्य बतलाने के लिये नक्षत्रों का अध्ययन किया करते थे। उनके उद्देश्यों में कोई तथ्य नहीं था, किन्तु उस बहाने कुछ वैज्ञानिक प्रयोग और अध्ययन अवश्य होता रहता था।

मध्य युग की इस पृष्ठ भूमि में ग्रीक भावना, ग्रीक साहित्य, दर्शन और विज्ञान से यूरोप के मानव का १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सम्पर्क हुआ। लगभग इसी काल में कागज और मुद्रण का प्रचलन यूरोप में हुआ। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि ये दोनों कलायें मंगोल और अरब लोगों के द्वारा चीन से पच्छिम में आई थीं। इन दो बातो नें यूरोप में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। इन्हीं से यूरोप का पुनरुत्थान हुआ।

१३ वीं शती तक कागज बनाने की कला इटली तक पहुंच गई और वहां कई कागज़ के मील खुल गये। १४ वीं शती के अन्त तक जर्मनी इत्यादि देशों में कागज़ का पर्याप्त उत्पादन होने लगा, इतना कि यदि पुस्तकें मुद्रणालयों में हजारों की संख्या में भी छपे तब भी पर्याप्त होगा। इसी के साथ साथ इन्हीं वर्षों में मुद्रण-कलों का अविष्कार हो गया। सन् १४४६ ई. के लगभग कोस्टल नामक व्यक्ति होलेंड में एवं ज्यूटन वर्ग नामक व्यक्ति जर्मनी में चलन शील अक्षरों यानी टाइप से मुद्रण कर रहे थे। सन् १४५४ ई. में लेटिन भाषा की पहिली बाइबल मुद्रित की गई। अकेले इटली के वेनिस नगर में दो सौ से अधिक मुद्रणालय हो गये, इनमें एन्डीन का मुद्रणालय प्रसिद्ध था। यहां इटली के कवि, साहित्यकार और विचारक एकत्रित होते थे। मुद्रण और कागज की सहायता से अध्ययन का, ज्ञान विस्तार हुआ, अनेक प्राचीन पुस्तकें छपछपकर साधारण जन में फैल गई। उससे मानव मन को ज्ञान का आलोक प्राप्त हुआ। वह ज्ञान जो एक गुप्त रहस्य माना जाता था एवं पंडितों तक ही सीमित था, अब जन साधारण की निधि बन गया। यूरोप के मानव की बुद्धि प्रयास करने लगी अपनी मुक्ति और अभिव्यक्ति के लिये। १७ वीं शती में पेरिस, ओक्सफोर्ड और बोलोना विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उनका विकास हुआ। उनमें दार्शनिक वाद विवाद होते थे और प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों यथा

प्लेटो और अरस्तु का, धर्म शास्त्र एवं जस्टीनियन कानून का अध्ययन होता था। इसी युग में आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा इटेलियन आदि का अभूतपूर्व विकास और उन्नति हुई । इटली, फ्रांस, इंगलैंड में मानव मानस जो मानो बद्ध था,-मुक्त होकर अब उल्लासमयी कल कल धारा में प्रवाहित हो चला ।

इटली में वहां के महाकवि दान्ते से प्रारम्भ होकर (जिनका जिक्र अन्यत्र आ चुका है) लेखक पेटरार्क (Petrarch) की कहानियों में और बोकेक्सियो (Boccaccio) की डेकामीरोन (Decaemeron) में वहां की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। इस प्रतिभा की सबसे अधिक उदात्त और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई वहां के कलाकारों में, यथा लिओनार्डो डा विन्साई, माईकेल एंगलो, एवं रैफील में। डाविंसाई के "मोनालिसा" (Mona-lisa) चित्र को आज भी मानव चकित आंखों से देखता है। स्पेन में महान् साहित्यकार सरवेंटीज (Cervantes) ने प्रसिद्ध शेखचिल्ली चरित्र डोन क्विक्सोट (Don Quixote) की, नाटककार क्लेरेंडन (Clerendon) ने रोमाञ्च नाटकों की, एवं चित्रकार विलासकीज ने सुन्दर चित्रों की रचना की। नीदरलैंड (होलेंड, बेलजियम) यद्यपि कोई महान साहित्यकार पैदा नहीं कर सका,

किन्तु वहां के चित्रकारों ने अपने देश के प्राकृतिक चित्रों को चित्रित कर उनमें एक नये जीवन की उद्भावना की। जर्मनी में नव जागृति विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में हुई; यहां बुद्धिवाद प्रखर रूप में प्रकट हुआ। फ्रांस में उत्पन्न हुए प्रसिद्ध लेखक रबेलास (Rabelais), निबंधकार मोंटेन (Montaingue) जिनके निबंध (Essais) सहज सरल मानवीय भावनाओं से हंसते हैं; नाटककार कोर्नील (Corneille) रेसीन (Racine) और मोलियर (Moliere) एवं कवि बोलो (Boileau.)

इङ्गलैंड में सबसे प्रखर मानवीय वाणी उद्भासित हुई संसार के महाकवि शेक्सपियर (Shakespeare) की। इसी लोक और प्रकृति की घटनाओं और मानवीय-चरित्र के आधार पर सत्य मार्मिक हृदयगत भावों के एक अद्भुत लोक की रचना उसने अपने नाटकों में की, जो आज भी मन को उदात्त भावनाओं से आप्लावित और अनुप्राणित करता है, और युग युग में करता रहेगा। सचमुच आश्चर्य होता है कि वह कौनसी उसके मस्तिष्क में और अन्तरलोक में चेतना की विभूति थी कि वह इतने वास्तविक किन्तु अनोखे सौन्दर्यमय लोक की सृष्टि कर सका। उसके रोमियो जूलियट (Romeo-Juliet), ऐज यू लाइक इट (As you like it), मरचेंट

आफ वेनिस (Merchant of Venice), और फिर ओथेलो, मेकेपेथ, किंगलीयर, हेमलेट और, टेम्पेस्ट (Othello, Macbeth, King Lear, Hamlet, तथा & Tempest—नाटक जिनमें जीवन और लोक की व्याख्या के अतिरिक्त अनुपम काव्य- सौन्दर्य भी है; एवं उसके मुक्त गीत मानव चेतना को हर युग में आनन्दानुभूति कराते रहेंगे। फिर १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध में महाकवि मिल्टन का नाम उल्लेखनीय है जिसमें बुद्धिवाद, सात्विक धर्म और सौन्दर्य भावना का अनुपम सामनजस्य है। उसके पेरेडाइज लोस्ट (Paradise Lost), पेरेडाइज रिगेंड (Paradise-Regained) महाकाव्य ईसाई धर्म की पृष्ठ भूमि में मानव की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाले उदात्त काव्य ग्रन्थ हैं। साथ ही साथ उस काल के मानवतावाद के प्रवर्त्तकों में से एक विशेष व्यक्ति थोमस मूर (Thomas Moore) (इङ्गलैंड १६०५–१६७२ ई. तक) का नाम उल्लेखनीय है। उसने ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के रिपबलिक (Republic) के समान एक आदर्शात्मक राज्य की कल्पना यूटोपिया (Utopia) नामक ग्रन्थ में की। "यूटोपिया" वस्तुतः एक काल्पनिक द्वीप था। जहां पर सब लोग मंगलमय मानवीय प्रकृति से प्रेरित होकर, वस्तुओं का समान बंटवारा करके, प्रत्येक प्रकार की असमानता से रहित स्वस्थ और सुखी जीवन बिताते थे। उस

युग में जब अन्ध धार्मिक विश्वासों का आधिपत्य था, ऐसे साम्यवादी समाज की कल्पना करना जहां पर हरएक काम और व्यवस्था किसी भी अपरोक्ष सत्ता की मान्यता से मुक्त हो,– सचमुच एक साहस भरा काम था।

इस युग के यूरोपीय देशों के प्रायः सभी साहित्यकारों में ये विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं कि उनके विचार मध्य-युगीय नैयायिक अर्थात् धर्म सम्बन्धी वाद विवादों एवं मान्यताओं से मुक्त हैं धार्मिक (Theological) सत्ता के प्रति उनमें विरोध भावना है, नये आकाश और नई पृथ्वी के प्रति जिसका दर्शन लोगों को तत्कालीन नक्षत्र विद्या-वेत्ता एवं साहसी मल्लाह करा रहे थे, उनमें रोमांच का भाव है; एवं ग्रीक और रोमन साहित्य में और उसके द्वारा जीवन में उन्हें विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। मध्य युग में न तो साहित्य का इतना ज्ञान था, न इतना विकास और प्रसार; और जो कुछ भी था वह एकाध को छोड़ कर विशेषतः रूढ़िगत धार्मिक शास्त्रों और विचारों की सीमा में बद्ध था।

१६ वीं १७ वीं शताब्दियों में यूरोप में अनेक प्रतिभा-वान व्यक्तियों का उद्‌भव हुआ जिनका नाम विज्ञान के क्षेत्र में स्मरणीय है। इटली के लिओनार्डो डाविंसाई का नाम जो एक कलाकार होने के साथ साथ प्रकृति विज्ञान वेत्ता एवं

वनस्पति शास्त्री भी था, पहिले भी आ चुका है । पोलैण्ड के विज्ञान वेत्ता कोपरनिकस (१४७३–१५४३) ने आकाश के नक्षत्रों की चाल का गहन अध्ययन किया और यह सिद्ध किया की पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर जैसा ईसाई धर्मी लोग विश्वास करते थे । इटली के विज्ञान-वेत्ता गेलिलियो (१५६४-१६४२) ने "गति-विज्ञान" (Science of motion) की नींव डाली और सब से पहला दूर-दर्शक यन्त्र (Telescope) बनाया । फिर संसार के महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने (१६४२-१७२६) भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इस विश्व की एक रुप रेखा प्रस्तुत की और नक्षत्रों में आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का आविष्कार किया। विज्ञान की प्रगति की विधिवत् जानकारी रखने के लिये लन्दन में सन् १६६२ ई. में "रोयल–सोसाइटी" की स्थापना हुई और फिर कुछ ही वर्ष बाद फ्रांस में भी ऐसी ही एक अन्य संस्था की स्थापना हुई । दार्शनिक क्षेत्र में दो महान् व्यक्ति हुए जिन्होंने सब प्रकार की "अपरोक्ष, परा प्रकृति" शक्ति से अबाधित और मुक्त, प्राकृतिक और सृष्टि विज्ञान की नींव डाली। ये दो व्यक्ति थे इङ्गलैण्ड के फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) और फ्रांस के देकर्त (Descartes-१५९६-१६५० ई.) । उन्होंने बतलाया कि यह दृश्य संसार एक वास्तविक सत्य वस्तु है। इसके रहस्यों का उद्घाटन प्रायोगिक ढंग से होना चाहिए ।

ऐसे विचारों के प्रभाव से ही मानव मन स्वर्ग, नर्क, देव, भूत इत्यादि के अनेक निर्मूल भयों से मुक्त हुआ और वह अपने सुख दुःख का कारण इसी प्रकृति और समाज संगठन में ढूंढने लगा न कि किसी देव या भूत में।

नई दुनियां एवं नये मार्गों की खोज (मानव के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि) प्राचीन काल में क्या भारत क्या चीन एवं क्या ग्रीस और रोम में, कहीं भी लोगों को पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति एवं पृथ्वी पर स्थल भाग और जल भाग की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। बहुधा यही विश्वास था कि पृथ्वी चपटी है, गोल नहीं। प्राचीन भारत में चीनी और ग्रीक यात्रियों के भारत-यात्रा के वर्णन मिलते हैं किन्तु वे एक देश विशेष और वहां की सामाजिक स्थिति के वर्णन है न कि कोई भौगोलिक वर्णन। धर्म ग्रंथों में दुनियां के मान चित्रों का वर्णन मिलता है, किन्तु वह सब धार्मिक, आध्यात्मिक दृष्टि से किया हुआ वर्णन है। उससे इस पृथ्वी और यहां के देशों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता न तत्कालीन भिन्न भिन्न देशों के सही मानचित्र का। प्राचीन हिन्दू जैन साहित्य में एवं यहूदी बाइबल और ईसाई बाइबल और अन्य धर्म पुस्तकों में भिन्न भिन्न लोकों का जिक्र आता है किन्तु उन लोकों की कल्पना धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आधार पर की हुई है। अनेक नगरों

एवं देशों का भी जिक्र आता है किन्तु वह जिक्र भारत, मध्य एशिया, ग्रीस, रोम, चीन, पूर्वीय द्वीप समूह (वृहत्तर भारत) पच्छिमी एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका तक ही प्रायः सीमित है। यह केवल जिक्र है, उस काल में इन देशों के मानचित्र, प्राकृत्तिक दशा आदि का सुसंगठित ज्ञान नहीं। मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, प्रशान्त महासागर, प्रशान्त महासागर में स्थित अनेक अन्य द्वीप, एवं अमेरिका उस काल में अज्ञात थे। प्राचीन काल में केवल मिश्र के ग्रीक शासक टोल्मी के जमाने का भौगौलिक विज्ञान संबंधी एवं मानचित्र बनाने की विज्ञान कला का कुछ साहित्य उपलब्ध होता है, और कुछ नहीं।

वस्तुतः तो १५ वीं १६ वीं शताब्दी में जब से यूरोप के मानव की दृष्टि इसी दुनिया और प्रकृति की ओर अधिक आकृष्ट हुई तभी से पृथ्वी के देशों का अन्वेषण होने लगा, उनके आंतरिक भागों की खोज होने लगी। उनके संबन्ध में भौगौलिक ज्ञान संग्रहित किया जाने लगा और वैज्ञानिक ढङ्ग से (अक्षांश देशान्त के आधार पर) दुनियां और देशों के मानचित्र बनाये जाने लगे। सन १४७४ में इटली के टोस्कानेली (Toscanelli) ने वह चार्ट तैयार किया जिससे मार्ग दर्शन पाकर अटलांटिक महासागर के पार नाविकों ने यात्रायें की और नये द्वीपों और नये देशों का पता लगाया। इस दुनियां एवं प्रकृति की खोज के प्रतिपूर्व का

ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। पूर्वीय देशों के लोग इस बात में काफी पिछड़ गये। १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब भारत में एक तरफ अंग्रेजों का प्रमुत्व बढ़ रहा था और दूसरी ओर भारतीय मराठों की शक्ति भी बढ़ रही थी तब मराठा शासकों ने भारत का एक मानचित्र तैयार करवाया था, और उसी समय में कुछ अंग्रेज अन्वेषकों ने जो विदेशी थे अतः जिनका भारत का भौगोलिक ज्ञान भारतीयों की अपेक्षा जो भारत में ही हजारों वर्षों से रह रहे थे बहुत कम होना चाहिये था, भारत का एक मानचित्र तैयार किया। अंग्रेज अन्वेषकों ने जो नकशा तैयार किया था वह आज के भौगोलिक ज्ञान के प्रकाश में जब हम देखते हैं तो सही निकलता है और जो नकशा मराठा शासकों ने तैयार करवाया था वह गलत। यह तो यूरोप में पुनः जागृति काल के बाद की बात है किन्तु मध्य युग में तो वह एक स्थिर गतिहीन स्थिति में था बद्ध अन्धकार मय स्थिति में।

मध्य युग में यूरोप वासी समुद्र यात्रा से प्रायः बहुत डरते थे। तत्कालीन विद्वान यह समझते थे कि समुद्रों के आगे भूत प्रेतों का देश है, वहाँ पर नरक के द्वार हैं, राह में जलती हुई अग्नि है। पुनर्जागृति काल में मानसिक मुक्ति के साथ साथ तथ्य हीन विश्वास खत्म हुआ और अनेक साहसी लोग समुद्र की अनेक लम्बी लम्बी यात्राओं पर निकल पड़े। इन लोगों में

खोज का उत्साह था। मध्य युग में फारस की खाड़ी, लाल सागर, अरब सागर, और भूमध्यसागर में विशेषतया अरब मुसलमान मल्लाहों के जहाज चलते थे। अरब मुसलमानों का पीछा करते हुए, ईसाई मजहब फैलाने के विचार से यूरोपीय मल्लाह कई दिशाओं में निकल पड़े। इस समय कस्तुनतुनियां पर तुर्क लोगों का अधिकार होने की वजह से और भूमध्य सागर में तुर्क लोगों की शक्ति बढने से यूरोपीय लोगों को यह भी जरुरत महसूस हुई कि वे भूमध्यसागर के अतिरिक्त कोई दूसरा सामुद्रिक रास्ता पूर्व को जाने को ढूंढ निकालें। यूरोपीय देशों में परस्पर प्रति स्पर्धा हुई कि पूर्व के साथ उनका व्यापार एक दूसरे की अपेक्षा खूब बढ़े। इस काम में सर्वाधिक अगुआ दो देश रहे—पुर्तगाल और स्पेन। पुर्तगाल में एक शासक हुआ जिसका नाम हेनरी था। इतिहास में वह हेनरी नाविक (Henry the navigator) के नाम से प्रसिद्ध है। उसने यूरोप के लोगों को वह प्रेरणा दी जिससे समस्त संसार उनके ज्ञान और अनुभव की परिधि में आ गया।

१. अमेरिका की खोजः—इटली के जिनोआ नगर के वासी कोलम्बस ने इस विचार से कि दुनियां गोल है, भारत तक पहुँचने के लिए यह सोचा कि यदि वह पच्छिम की ओर समुद्र पर चलता रहा तो किसी न किसी दिन वह भारत पहुँच

जायेगा । उसके इस साहसी काम में पहिले किसी ने मदद नहीं की किन्तु बाद में स्पेन के कुछ व्यापारियों ने कोलम्बस की मदद की, और स्पेन के राजा और रानी फर्डीनेंड और ईसाबेला ने उसको आज्ञा पत्र दिया । तीन जहाज उसने तैयार किये और ८८ आदमियों को लेकर वह अज्ञात समुद्रों पर यात्रा के लिये निकल पड़ा । अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए लगभग सवा दो महीने की खतरनाक यात्रा के बाद ११ अक्टूबर सन् १४६२ के दिन वह नई दुनियाँ के किनारे पर जा लगा । कोलम्बस ने तो सोचा यह भारत था किन्तु वास्तव में यह एक नई दुनियां थी—अमेरिका । महाद्वीप, जहाँ पर उस समय तांबे के रंग के असभ्य लोग रहते थे जो (Red Indians) कहलाते थे । दुनियां के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना थी ।

सन् १५०० ई. में पुर्तगीज नाविक पेड्रो ने अमेरिका के उस भाग की खोज की जो ब्राजील कहलाता है । सन् १५१६ ई. में स्पेनिश नाविक कोर्टेज अमेरिका की ओर बढ़ा और उसने वहाँ के उस भाग में प्रवेश किया जो आजकल मैक्सिको है । वहां के आदि निवासी जो रेड इन्डियन (Red Indian) थे और जिनमें सौर-पाषाणी सभ्यता से मिलती जुलती ऐजटेक (Aztec) सभ्यता प्रचलित थी—उनको पदाक्रान्त किया और मैक्सिको में स्पेन का झण्डा फहराया । इसी प्रकार सन्

१५३० में एक अन्य स्पेन नाविक पिजारो ने अमेरिका के उस भाग में जो आधुनिक पीरु है स्पेन का झण्डा फहराया और वहाँ प्रचलित पीरुवियन सभ्यता को ध्वस्त किया। फिर तो यूरोपीय लोगों का तांता बंध गया और दो सौ वर्षों के अन्दर अन्दर उत्तर और दक्षिण अमेरिका में यूरोपीय जाति के लोगों के बड़े बड़े राज्य स्थापित होगये।

२. अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत के नये सामुद्रिक राह की खोजः— सन् १४९८ ई. में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचा, और इसी रास्ते से यूरोपीय देशों का भारत और पूर्व के अन्य देशों से व्यापार होने लगा। सन १८६९ ई. तक जब एक फ्रांसीसी इंजिनियर द्वारा निर्मित स्वेज नहर खुली, यूरोप का व्यापार भारत और चीन से इसी राह से हुआ। इसी सिलसिले में सन् १५१५ ई. में कई पुर्तगाली जहाजें मलक्का, जावा, सुमात्रा आदि पूर्वीय द्वीपों में पहुंच गई। समुद्र की राह से पूर्व का रास्ता खुल गया और पूर्व और पच्छिम का धीरे धीरे सम्पर्क बढ़ने लगा।

दुनिया की परिक्रमायेंः— (अ) सन् १५१८ ई. में एक रोमांचकारी घटना हुई। एक पुर्तगाली नाविक जिसका नाम मागेलन था, स्पेन के बादशाह से सहायता लेकर, पांच जहाज और २८० आदमी अपने साथ लेकर दुनिया को ढूँढने के लिये

नई दुनिया एवं नये मार्गों की खोज
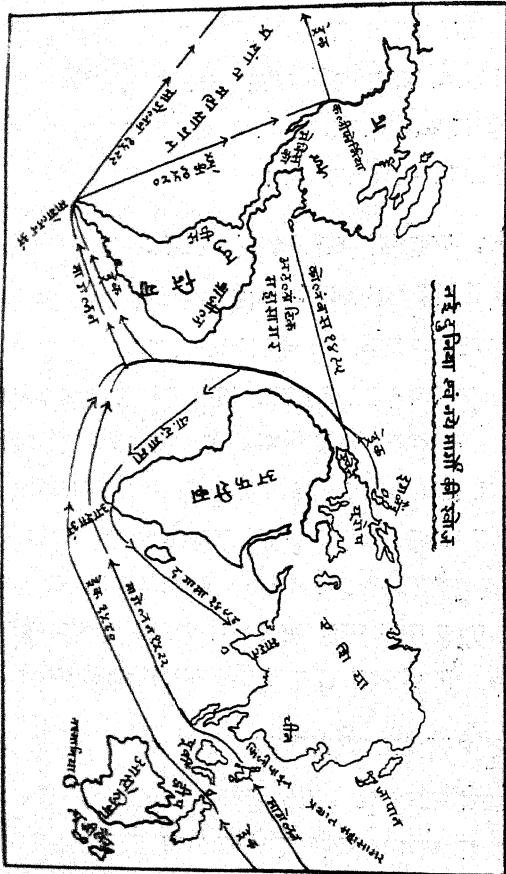
स्पेन से निकल पड़ा। भयंकर महा समुद्रों को पार करता हुआ, अटलान्टिक महासागर और फिर दक्षिण अमेरिका होता हुआ, फिर प्रशान्त महासागर पार करता हुआ लगभग आठ महिनों की खतर नाक यात्रा के बाद वह कुछ अज्ञात द्वीपों पर पहुंचा। ये द्वीप फिलीपाइन द्वीप थे। इस प्रकार मागेलन को ही फिलीपाइन द्वीपों का अविष्कारक माना जाता है। मागेलन तो फिलीपाइन द्वीप में वहां के आदि निवासियों द्वारा मारा गया किन्तु उसकी पांच जहाजों में से एक जहाज़ जिसका नाम विक्टोरिया था, और उसके कुछ साथी सन् १५२२ ई. में सारी पृथ्वी का चक्कर लगाकर फिर से स्पेन पहुंचे। इतिहास में यह सर्व प्रथम जहाज था जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा की।

(ब) इंगलैंड का प्रसिद्ध नाविक सर फ्रांसिस ड्रेक (Sir Francis Drake) सन् १५७७ ई. में सामुद्रिक राह से विश्व की परिक्रमा करने के लिये निकला। अटलान्टिक महासागर को पार करता हुआ, दक्षिण अमेरिका के मगेलन अन्तरीप के समीप पहुंचकर किनारे किनारे चलता हुआ उत्तर अमेरिका के केलीफोर्नियां प्राँत तक पहुंचा। वहां से उसने विशाल प्रशान्त महासागर में प्रवेश किया उसको पार करता हुआ, पूर्वीय द्वीप समूहों के नजदीक चलता हुआ वह हिन्द महासागर में दाखिल हुआ; वहां से अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ तीन वर्ष की

शानदार यात्रा के बाद सन् १५८० ई. में अपनी जन्मभूमि इंगलैंड पहुंचा ।

४. अफ्रीका:—वैसे तो अफ्रीका अति प्राचीन काल से ही एक ज्ञात देश था, किन्तु उसके केवल भूमध्यसागर तटीय प्रदेश एवं वहां की नील नदी की उपत्यका में स्थित मिश्र देश ही विशेष ज्ञात थे; इस महाद्वीप की शेष विशाल भूमि अज्ञात थी, अन्धकार से आच्छादित। प्राचीन युग में मिश्र के फेरोनिशो की प्रेरणा से उसके नाविकों ने समस्त अफ्रीका तट की परिक्रमा की थी किन्तु वह एक पुरानी बात हो गई थी और प्राय: भुला दी गई थी। आधुनिक युग में सर्वप्रथम स्पेन के नाविक दीआज़ (Dias) ने सन् १४८६-८७ ई. में स्पेन से रवाना होकर आधुनिक सम्पूर्ण पच्छिमी तट का चक्कर लगाकर दक्षिण छोर तक पहुंचा, तभी से उस सुदूर दक्षिण छोर का नाम आशा अन्तरीप हुआ । किन्तु अब तक भी समस्त आंतरिक प्रदेश अज्ञात ही था; आंतरिक प्रदेशों की खोज १६ वीं शती के मध्य में जाकर हुई । इङ्गलैण्ड के डेविड लिविंगस्टोन (१८४६-७३) ने अफ्रीका में दूर अन्दर तक प्रदेशों की कई यात्रायें कीं और उन प्रदेशों की वैज्ञानिक ढङ्ग से जानकारी हासिल की । वृक्षों की घनता में छिपे हुए साँप अजगरों की फूंकार से फुसफुसाते हुए, मृत्यु रुप सिंह, चीतों की दहाड़ से गरजते हुऐ, मलेरिया मच्छरों से आच्छादित भयावह अंधियारे जंगलों में;—और फिर

हजारों वर्ग मील लम्बे चौड़े सूखे, तप्त, निर्जल, निर्जन रेगिस्तानों में पग पग घूमकर उन प्रदेशों की खोज करना, मानव इतिहास की सचमुच एक रोमांचकारी कहानी है।

५. आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड एवं तस्मानिया:- डच नाविक अबेल-तास्मन ने १७ वीं शती में सर्व प्रथम न्यूजीलैण्ड का पता लगाया। १७ वीं शताब्दी में कई यूरोपीय खोजकों ने आस्ट्रेलिया और तस्मानियां के तटों का भी पता लगा लिया था किन्तु अभी तक इन देशों के अन्दरुनी हिस्सों में कोई भी नहीं पहुँचा था। १८ वीं शती में केपटन कुक ने आस्ट्रेलिया के पूर्वीय तटों की खोज की किन्तु तब भी कोई भी यूरोपीय लोग वहां जाकर नहीं बसे। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुदूर मध्य आस्ट्रेलिया को छोड़कर शेष प्रायः समस्त आस्ट्रेलिया का नकशा खोज कर के बना लिया गया था। उसी जमाने में आस्ट्रेलिया अंग्रेजों का एक उपनिवेश बना।

६. खोज की वह परम्परा जो रिनेसां युग में प्रारम्भ हुई, अब तक चालू है, और निःसन्देह मानव इस परम्परा को बनाये रक्खेगा। १९ वीं शताब्दी के मानव ने प्रायः सारी पृथ्वी की खोज कर डाली थी किन्तु अभी तक वह पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव तक नहीं पहुंच पाया था। यह काम भी मानव ने किया। सन् १९०९ में अमरीका, देश का साहसी यात्री पियरी

भयंकर ठंडे, सदा बर्फ से ढके हुए उत्तरीय ध्रुव में पहुंचा और इसी प्रकार ठण्डे दक्षिणी ध्रुव पर एमंडसन ने १६११ ई. में विजय प्राप्त की। नाविकों एवं वायुयान उड़ाकुओं की पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की यात्रायें मानव साहस की रोमांच-कारी गाथायें हैं।

इस प्रकार नये मार्गों, नये देशों, एव नये प्रदेशों की खोज में सर्व प्रथम स्पेन और पुर्तगाल के नाविक निकले, एवं १५-१६ वीं शताब्दियों में विशेष उनका ही प्रभाव रहा, किन्तु फिर इस साहसी कार्य की ओर डच (होलेण्ड) अंग्रेज और फ्रांसीसी लोगों का भी ध्यान गया, जब उन्होंने देखा कि स्पेन-वासी और पुर्तगीज तो बहुत धनिक हो रहे हैं। जर्मनी उस समय तक एक पृथक राज्य नहीं बन पाया था, वह पवित्र रोमन साम्राज्य का ही एक अंग था अतः उसका ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हो सकता था। धीरे धीरे अंग्रेज, फ्रांसीसी, स्पेनिश, डच और पुर्तगीज लोगों के इन नये देशों में, यथा उत्तर अमेरीका, दक्षिण अमेरिका, पच्छिमी द्वीप समूह, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड, फिलीपाइन द्वीप, पूर्वीय द्वीप समूह में अनेक उपनिवेश और बड़े बड़े राज्य स्थापित हो गये। यूरोपीय लोगों के आने से पूर्व ये विशाल देश सर्वथा भयंकर जंगलों से आच्छादित थे। कह सकते हैं कि वे अन्धेरे में पड़े

थे, मानव निवास के सर्वथा अयोग्य। यूरोपीय लोगों ने अथक परिश्रम और अध्यवसाय से जंगलों को साफ किया, भूमि को रहने योग्य बनाया और तब कहीं ये देश प्रकाश में आये। इन देशों के आदि निवासी सर्वथा असभ्य थे। कहीं कहीं जैसे पीरु, मैक्सिको, पूर्वीय द्वीप समूह में सौर-पाषाणी सभ्यता से कुछ मिलती जुलती सभ्यता प्रचलित थी। ये आदि निवासी संख्या में बहुत कम थे, इनको पदाक्रान्त करके या कहीं कहीं इनको सर्वथा विनिष्ट करके (जैसे तस्मानिया में) ही यूरोपीय लोगों ने अपने उपनीवेश बसाये। अमरीका के रेड इण्डिन और अफ्रीका के हब्शी आदि निवासी आज तो काफी सभ्य स्थिति में हैं और वे दूसरी सभ्य जातियों के साथ कंधा से कंधा जुड़ाकर चलने की तैयारी में हैं।

कह नहीं सकते कि अपनी इस पृथ्वी के सभी द्वीपों की खोज कर ली गई है-संभव है महासागरों में इधर उधर अब भी अनेक टापू अज्ञात पड़े हों। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त देशों और द्वीपों की खोज ने मानव की इस दुनियां को विस्तृत बना दिया और उसके इतिहास में एक नई गति पैदा कर दी।

३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तनः-मध्य युग में आर्थिक संगठन का मुख्य रुप था-सांमत-

वाद। उसमें दो वर्गों के लोग थे। उच्च वर्ग-जमींदार, राजा और पादरी; निम्न वर्ग-किसान, मजदूर (सर्फ)। इन्हीं दो वर्गों के इर्द गिर्द साधारण हस्त उद्योग में लगे हुए भी कुछ लोग होते थे। आधुनिक युग के प्रारम्भ होते होते व्यापार और हस्त उद्योगों में पर्याप्त वृद्धि हुई-इस वृद्धि में मुख्य सहायक थी- नये देशों और नये व्यापारिक मार्गों की खोज। इसके फलस्व-रुप व्यापारियों के एक स्वतन्त्र मध्यवर्ग का विकास हुआ-इसी वर्ग के उत्पन्न होने के फलस्वरुप सामन्तवादी व्यवस्था शनैः शनैः विच्छिन्न हो गई। अब तक सामन्तों की शक्ति पर ही राजा की शक्ति आधारित थी-क्योंकि सामन्त लोग ही फौजी सिपाही रखते थे-किन्तु अब गोला बारुद का आविष्कार हो चुका था-राजा को विशाल व्यापारिक संस्थाओं, बैंकों से रुपया मिल सकता था-अतः उसे सामन्तों पर निर्भर रहने की आव-श्यकता नहीं रही। इसलिये राजा सामन्तों को धीरे धीरे खत्म कर सके और शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य स्थापित कर सके। अपने अपने प्रदेशों का व्यापार बढ़ाने की आकांक्षा से स्थानीय एवं तदुपरान्त राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा एवं सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी। एक सामन्तवादी ईसाई यूरोपीय राज्य की जगह-या पवित्र रोमन राज्य के विचार के बदले अब पृथक पृथक राष्ट्रीय राज्यों-- यथा इङ्गलैंड, फ्रान्स, होलेंड, स्पेन, पुर्तगाल, इत्यादि इत्यादि

की उद्भावना हुई। साथ ही साथ राष्ट्रीय राज्यों के राजाओं में पूर्ण एकतन्त्रवाद का विचार घर करने लगा—अतः द्वन्द्व का भी एक नया कारण समाज में उत्पन्न हो गया यथाः राजा सत्ता और प्रजा के अधिकारों में द्वन्द्व। इन्हीं परिस्थितियों में इटली के फ्लोरेंस नामक नगर में प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक मकयाविली (Machiavelli) का उदय हुआ—जिसने प्रिंस (Prince) नामक एक ग्रन्थ की रचना की—जिसका मुख्य उद्देश्य राजाओं को यही राजनैतिक सबक सिखाना था कि वे (राजा लोग) किन्हीं भी साधनों से नैतिक हो अथवा अनैतिक पूर्ण शक्तिमान बनें रहें—वे पूर्ण सत्ताधारी हों। इस विचार ने पोप की अथवा गिरजा की शक्ति को ध्वस्त करने में, राजाओं द्वारा एकतन्त्रवादी निरंकुश सत्ता स्थापित किये जाने में बड़ी सहायता दी। सचमुच मकयाविली की विचार धारा ने यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) का एक युग ला खड़ा किया।

आधुनिक युग का आगमन—एक सिंहावलोकन—मध्य युग की अंतिम शताब्दियों में, यथा १४ से १६वीं शताब्दियों में, यूरोप में मानव चेतना में नव जागृति आई। वह मानव जो अपने आप को निशकिंचन समझे हुए था, जिसके विचारों का क्षेत्र गिरजा की चाहर दिवारी तक ही सीमित था, उठा और

उसमें अपनी क्षमता, अपनी शक्ति के प्रति आत्मविश्वास पैदा हुआ, उसमें एक स्फूरणा उत्त्पन्न हुई. विशाल कर्म और विचार क्षेत्र में स्वतन्त्र विचरण की। अनेक शताब्दियों से प्रचलित सर्फडम, सामन्तवादी समाज और सामन्तवादी राजनैतिक संगठन ध्वस्त हुए, व्यक्ति ने जो धार्मिक सामाजिक अन्ध विश्वासों का गुलाम था व्यक्तित्व स्वतन्त्रता की अनुभूति की, एक स्वतंन्त्र मध्यवर्गीय जन का उत्थान हुआ, और सामन्ती राज्यों की जगह केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों का। कला, साहित्य में नये सौन्दर्य, दर्शन में स्वतन्त्र विचारणायें और सर्वोपरि प्रकृति का निरीक्षण करते हुए, विज्ञान में नई उद्भावनायें उत्त्पन्न हुई। नये मार्गों, नये देशों, नये संसार की खोज हुई, मानव का दृष्टिकोण विशाल बना उसकी बुद्धि स्वतन्त्र और वह स्वयं उल्लसित और गतिशील। आधुनिक युग में मानव प्रविष्ट हुआ और उसने अपनी यात्रा प्रारंभ की। सन् १६०० ई. की यह बात है। मानव की यह महानता, उसका यह मुक्त भाव, जागृति की यह आत्मा अभिव्यक्त हुई, अपने सुन्दरतम रुप में उसी युग के महानतम कवि में, जब उसने मुक्त भाव से यह गाया–

"What a piece of work is man! how noble is reason! how infinite in faculty! in form and moving how express and

admirable! in action how like an angel! in apprehension how like a God! the beauty of the world! the paragon of animals!"

—*Shakespeare.*

"मनुष्य भी क्या एक अद्भुत कृति है! बुद्धि में कितना श्रेष्ठ, प्रतिभा में कितना अनन्त! गठन और चाल में कितना प्रभावोत्पादक और प्रशंसनीय! कार्य में कितना देव सम! अन्तस में ईश्वर तुल्य। सृष्टि का सौन्दर्य, प्राणियों में महान!"

—०—

४५

यूरोप में धार्मिक सुधारों और धार्मिक युद्धों का युग

(१५००–१६४८)

पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है कि यूरोप में किस प्रकार मानव चेतना पुनर्जागृत हुई, प्रत्येक तथ्य को वह अन्वेषक की दृष्टि से देखने लगी। कई शताब्दियों से संसार में जमे हुए धार्मिक विश्वासों को भी उसने इसी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। इस स्वतन्त्र चिंतन से मानव जब प्रेरित हुआ तो उसने

देखा कि धार्मिक-विश्वास के कई प्रचलित रूपों में-कई रस्मों में विशेष तथ्य नहीं है-केवल इतना ही नहीं,-वे बाह्य-रूप रस्म पतित हो चुके हैं।

सुधार की आवश्यकता: चर्च में बुराइयां:—१. इस युग के पोप, बड़े बड़े गिरजाओं के बड़े बड़े विशप (पादरी इत्यादि) सब धन एवं पार्थिव सत्ता संग्रहित करने में एवं राजाओं की तरह सत्ता का क्षेत्र विस्तृत करने में व्यस्त थे, सच्ची धार्मिक भावना उनमें लुप्त थी। रोम का पोप जो समस्त ईसाई दुनियां का एकमात्र धर्मगुरु और अधिनायक था, धन एकत्रित करने के लिये अपने अधीनस्थ पादरियों के द्वारा समस्त ईसाई देशों के नगर नगर गांव गांव में ऐसे पाप-विमोचन 'प्रमाण-पत्र' (Indulgences) बेचा करता था—जिनका आशय यह था कि जो कोई भी उनको खरीद लेगा, मानो वह अपने पापों और दुष्कर्मों के फल से मुक्त हो जायेगा। ऐसी दशा थी सर्व साधारण जन में धर्म, ईसा, पोप और चर्च के प्रति ऐसी अटूट श्रद्धा। धार्मिक मामलों में स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र विश्वासों की कोई गुञ्जाइश नहीं थी।

राजनैतिक कारण:—२. यूरोप में कृषि योग्य भूमि के विशाल भागों का पट्टा भिन्न भिन्न गिरजाओं के नाम था, जिसकी सब आय पादरियों के पास जाती थी—और उस आय

द। एक मुख्य भाग रोम के पोप के पास। इस व्यवस्था से राजाओं को बड़ी अड़चन महसूस होने लगी–जब कभी युद्धादि के लिये उन्हें धन की आवश्यकता होती थी–तो इन गिरजाओं के आधीन विशाल क्षेत्रों की आय से वे महरूम रहते थे–इससे कई राजनैतिक प्रश्न खड़े हो गये–और राजाओं और पोप में परस्पर विरोध का एक कारण उपस्थित हो गया। साथ ही साथ यूरोप के भिन्न भिन्न प्रदेशों में पृथक पृथक प्रादेशिक राष्ट्रीय भावना का उदय होने लगा था, और प्रादेशिक राजा अपने अपने क्षेत्र में रोम के पोप और धार्मिक पादरियों की सत्ता से मुक्त अपने स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य कायम करने की उत्कंठा में थे–वे इस प्रयत्न में थे कि चर्च और पादरी उनकी राजकीय सत्ता में बाधक न हो, बल्कि वे उनके आधीन रहें।

सुधारक लूथर–(Protestanism) ऐसी परिस्थितियों में जर्मनी में एक महान् सुधारक का उदय हुआ जिसका नाम मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) था एक किसान के घर में उसका जन्म हुआ था। अपने जीवन का प्रारंभिक भाग उसने ईसाई बिहार में कठोर संयम नियम में व्यतीत किया। १५१० में उसने रोम की यात्रा की- जहां पोप की पोल स्वयं उसने अपनी आंखों से देखी, उसे प्रेरणा मिली–सच्ची भावना से प्रेरित हो धर्म सुधार का उसने निश्चय किया। परिस्थितियां अनुकूल थी हीं। अपने

अदम्य उत्साह से धार्मिक सुधार की एक लहर उसने पैदा कर दी—पहिले जर्मनी में और फिर समस्त यूरोप में । वैसे लूथर के उदय होने के पूर्व भी धार्मिक गिरावट के विरुद्ध कुछ साहसी आत्माओं ने आवाज उठाई थी–जिसमें इंगलेंड के विक्लिफ, बोहेमिया (जर्मनी) के जीहनहस, फ्लोरेंस (इटली) के सवोनारोला उल्लेखनीय हैं । केथोलिक चर्च की कट्टरता इतनी जबरदस्त थी, एवं धार्मिक स्वतन्त्रता इतनी अमान्य समझी जाती थी कि हस और सवोनारोला को तो जिन्दा जला दिया गया था ।

लूथर के सुधार: - पोप का भेजा हुआ एक पादरी जर्मन में "पाप विमोचन प्रमाण पत्र" बेचने आया । लूथर ने इसका घोर विरोध किया । उसने लेख और पुस्तकें प्रकाशित की और घोषणा की कि पोप (जो पाप-मुक्त, एवं गल्तियों से परे माना जाया करता था) भी पाप से मुक्त नहीं है, वह भी गल्ती कर सकता है । "पोपा विमोचन प्रमाण पत्र" एवं रोमन चर्च की अनेक अन्य मान्यतायें पाखंड हैं।-बाइबल–ही केवल एक प्रमाण है=वही एक सत्य वस्तु है । प्राचीन रोमन केथोलिक चर्च में अंग भंग हुआ, बहुत से ईसाई इसके प्रभाव से निकलकर लूथर के अनुयायी बन गये जो प्रोटेस्टेंट कहलाये । रोमन केथोलिक चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट चर्च की स्थापना हुई । अब तक तो समस्त ईसाई प्रदेशों में रोमन कैथोलिक चर्च की जिसका अधिनायक रोम का पोप था, सार्वभौम सत्ता थी, अब इस सार्वभौम सत्ता से मुक्त जिन देशों ने

प्रोटेस्टेनिज्म स्वीकार किया, उन्होनें अपनी अपनी पृथक राष्ट्रीय चर्चें स्थापित करलीं। इंगलेंड, नोर्वे, स्वीडन डेनमार्क, उत्तरी जर्मन, एवं कहीं कहीं फ्रास में प्रोटेस्टेन्ट चर्चें स्थापित हुई। इटली; स्पेन, फ्रास, दक्षिणी जर्मनी, पोलेंड, हंगरी, आयरलेंड, कैथोलिक चर्च के साथ रहे। पूर्वीय यूरोप में सुधार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, ग्रीस, बुलगारिया, रुमानिया, समस्त रूस पृथक "ग्रीक-चर्च" के साथ रहे। इसका उल्लेख पीछे अध्याय में हो चुका है। लूथर ने तो एक लहर पैदा कर दी थी, उसके प्रभाव से अन्य सुधारक भी पैदा हुए। स्वीटजरलैंड में जोन कालविन (John Calvin) (१५३६-१५५४) ने इस विश्वास से प्रेरणा पाकर कि मनुष्य ईश्वर पर ही पूर्णतः आश्रित है-जन्मकाल से ही मनुष्य का भाग्य ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर दिया जाता है-चर्च का लोक-तन्त्रीय आधार पर संगठन किया। रोमन कैथोलिक चर्च में तो पोप या उच्चाधिकारी पादरी सर्वेसर्वा थे, उसकी व्यवस्था में जनता का कुछ भी अधिकार नहीं; प्रोटेस्टेन्ट चर्च के संगठन में राज्य (State) का अधिकार रहा; कालविन ने ऐसा संगठन बनाना चाहा जिसमें चर्च राज्य की दखल—अंदाजी से मुक्त हो, किन्तु साधारण जन का उसकी व्यवस्था में अधिकार हो। कालविन द्वारा संगठित चर्च प्रेसबाइटेरियन चर्च कहलाई। विशेष स्वीटजरलैंड एवं स्कोटलेंड में ऐसे चर्चों की स्थापना हुई।

धार्मिक सुधार होने के लिए क्या विशेष कारण उपस्थित हो गये थे इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यथा--चर्च, पादरियों, धर्माचार्यों इत्यादि में गिरावट पैदा हो जाना एवं राजनैतिक शासन क्षेत्र में राजाओं में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न होना कि चर्च की सत्ता उन पर न रहे। इन्हीं कारणों के फल स्वरुप सुधार की लहर ने भी मुख्यतयः दो दिशाओं की ओर प्रगति की। पहिली दिशा यह थी कि चर्च और धर्माचार्यों की गिरावट की प्रतिक्रिया स्वरुप आदि चर्च अर्थात् रोमन चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट गिरजाओं की स्थापना हुई—जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरुप आदि रोमन चर्च को भी कुछ होश आया और उसने अपनी आंतरिक स्थिति सुधारने का और अपनी गिरावट दूर करने का प्रयत्न किया। सन् १५४० ई. में स्पेन के एक सिपाही इगनेटियस लोयोला (Ignatius Loyola) ने ईसा के नाम पर सोसाइटी ऑफ जीसस (Society of Jesus) की स्थापना की।

इसी सोसाइटी से प्रभावित होकर तत्कालीन रोम के पोप पाल तृतीय ने इटली के ट्रेंट नामक स्थल पर रोमन कैथोलिक ईसाइयों की एक सभा बुलवाई जो ट्रेंट की सभा कहलाई। इस सभा की बैठकें उपरोक्त सोसाइटी के एक सदस्य की अध्यक्षता में सन् १५४५ से १५६३ तक होती रहीं। इसी के

तत्वाधान में रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों में कई परिवर्तन किये गये जो उसके संगठन के आज तक आधार माने जाते हैं।

"जीसस-सोसाइटी" के सदस्य पादरी होते थे—और इसका संगठन बहुत ही अनुशासन पूर्ण। इस भावना से ये सदस्य अनुप्राणित होते थे कि संस्था के कठोर अनुशासन में रहते हुए, आत्म त्याग का पालन करते हुए, ईसाई मत (रोमन कैथोलिक) और शिक्षा के प्रचार के लिये दुनियां भर में फैल जायें। और वास्तव में संसार भर में शिक्षा के क्षेत्र में इनका काम अद्वितीय रहा है। शनैः शनैः ये लोग चीन, भारत, जापान, पूर्वीय द्वीप समूह इत्यादि प्रदेशों में फैल गये, वहां ईसा का संदेश पहुंचाया और सुन्दर ढंग से व्यवस्थित शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं। यूरोप में इसने प्रोटेस्टेन्ट सुधारवाद की बाढ़ को रोका।

धार्मिक युद्धः—दूसरी दिशा जिस ओर सुधार की लहर की प्रतिक्रिया हुई-वह थी राजनैतिक भूमि। यूरोप के देशों के शासकों में सुधार के प्रश्न को लेकर अनेक झगड़े हुए-इन झगड़ों में धार्मिक सुधार की बात तो रहती ही थी-कोई राजा तो रोम के पोप के साथ संबंध विच्छेद करना चाहता था, कोई नहीं—किंतु उनका ऐसा चाहना नहीं चाहना किसी धार्मिक प्रेरणा में नहीं होता था। वह होता था उनकी राजनैतिक स्वार्थों की भावनाओं

से। यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में उपरोक्त प्रश्नों को लेकर समय समय पर लगभग एक शताब्दी तक युद्ध होते रहे । ये युद्ध और इन युद्धों के पीछे जो भी धार्मिक मतभेद और विचार थे सन् १६४८ में जाकर यूरोपीय राष्ट्रों में वेस्ट-फेलिया की संधि के साथ सर्वथा समाप्त हो गये ।

इङ्गलैण्ड में कभी तो कोई शासक प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो जाता था और कभी रोमन कैथोलिक । जब शासक प्रोटेस्टेन्ट होता था तो वह रोमन कैथोलिक लोगों पर अत्याचार करता था और जब शासक रोमन कैथोलिक होता था तो वह प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार करता था । अन्त में इङ्गलैण्ड में एक नई चर्च ने ही जन्म लिया जो न तो सर्वथा रोमन कैथोलिक सिद्धांतों को मानती थी और न सर्वथा प्रोटेस्टेनेट सिद्धान्तों को । अंग्रेजी चर्च अर्थात् (Church of England) एक नया ही मजहब बन गया । यह मजहब आदि चर्च के सेकरामेण्ट (Sacrament) के सिद्धान्त को अर्थात् यह सिद्धान्त की पूजा के भोजन या प्रसाद में ईसा की उपस्थिति होती है, मृतकों के लिये प्रार्थना करने से उनका कल्याण होता है एवं स्वर्ग में एक ऐसा स्थान है जहाँ पाप मोचन होता है:—आदि बातों को नहीं मानता था। अब तक इङ्गलैण्ड में प्रार्थना रोम की तरह लेटिन भाषा में होती थी। ईङ्गलैण्ड की चर्च स्थापित हो जाने के बाद,

प्रार्थना अंग्रेजी में होने लगी और उसके लिए अंग्रेजी में एक पुस्तक भी बनाई गई। रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल में यह चर्च सम्बन्धी क़ानून और भी सख्त बना दिये गये, जिससे पूजा की विधि और पादरियों के जीवन पर राजकीय कानून का और भी अधिक दखल हो गया। यह बात अनेक धर्मात्मा लोगों को अरुचिकर मालूम हुई जिससे अनेक लोगों ने इङ्गलैण्ड की चर्च के सिद्धान्तों को मानने से मना कर दिया। ये लोग नोन कनफोर्मिस्ट (Non-Conformists) कहलाये। नोन कनफोर्मिस्ट लोगों में भी दो शाखायें हो गई। एक प्यूरिटन लोगों की जो धर्म की दृष्टि से अधिक कट्टर सुधारवादी थे और जो चर्च के संगठन में पूर्ण क्रान्ति चाहते थे। दूसरे सेपेरेटिस्ट (पृथकतावादी) लोग जो पूजा की विधि पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहते थे, जो अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहते थे। इन लोगों ने इङ्गलैण्ड की चर्च से अपना संबंध तोड़ लिया था और आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करने को तैयार थे। इनमें से अनेक लोग तो इङ्गलैण्ड छोड़कर होलेण्ड चले गये। उस समय तक अमेरिका का पता लग चुका था। जब होलेंड में इनको अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलती दिखी तो ये लोग होलेंड छोड़कर अमेरिका को प्रस्थान कर गये। जिस जहाज में बैठकर ये लोग गये वह मफ्लावर Mayflower) कहलाई और वे स्वयं (Pilgrims fathers)

(यात्री पिता) कहलाये। सन् १६२० की यह घटना थी। मानव में धार्मिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा प्रकट करने में इस घटना का महत्व है।

जिस समय इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेन्ट मतवाली रानी एलिजाबेथ (१५५८–१६०३) का राज्य था उस समय स्कोटलेंड में रोमन कैथोलिक रानी मेरी स्टयूअर्ट का राज्य था। इसी समय स्पेन का राजा फिलीप द्वितीय था, जो कट्टर रोमन कैथोलिक था। फिलिप यह चाहता था कि एलिजाबेथ के स्थान पर मेरी इङ्गलैंड की साम्राज्ञी बनें और इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को समूल नष्ट किया जाये, जिसके लिये एक षडयन्त्र भी रचा गया, जिसका पता लग गया, और फलस्वरूप मेरी को प्राणदंड दिया गया। इस पर स्पेन का राजा फिलिप क्रुद्ध हुआ और उसने सैनिक जहाजों का एक जङ्गी बेड़ा (Armada) एकत्रित करके इङ्गलैंड पर चढ़ाई करने का इरादा किया। उस समय समस्त संसार में स्पेनिश जहाजी बेड़े की तूती बोलती थी। इस जहाजी आक्रमण की बात सुनकर इङ्गलैंड घबरा गया किन्तु इङ्गलैंड ने मुकाबला किया और भाग्य ने उसका साथ दिया एक भयङ्कर तूफान आया जिससे अनेक स्पेनिश जहाज़ टकराकर नष्ट हो गये और इङ्गलैंड की इस सामुद्रिक युद्ध में विजय हुई (१५८८)। स्पेन व इङ्गलैंड के इस सामुद्रिक युद्ध का मूल कारण तो धर्म ही था किन्तु इससे जो परिणाम निकला उसका

महत्व राजनैतिक है। स्पेनिश जहाजी बेड़े की इस हार से तत्कालीन देश इङ्गलैंड की जहाजी शक्ति को जबरदस्त मानने लगे और स्पेन की जहाजी शक्ति नष्ट प्रायः हो गई। अतः सामुद्रिक व्यापार एवं उपनिवेशों के प्रसार में इङ्गलैंड आगे बढ़ा।

फ्रांस में सुधारवादियों का एक नया दल खड़ा हुआ जो अपने आप को ह्यूजनोट कहते थे। फ्रांस के शासक रोमन कैथोलिक होते थे और वे ह्यूजनोट लोगों पर भयङ्कर अत्याचार करते थे। १५७५ ई. में २–३ दिन में ही हजारों ह्यूजनोटों का क्रूरता से संहार कर दिया गया। अन्त में फ्रांस के शासकों और ह्यूजनोट लोगों में एक गृह युद्ध छिड़ गया जो लगभग ८ वर्ष तक चलता रहा। फ्रांस में सुधारवाद सफल नहीं हो पाया। किन्तु वहां के मजहबी युद्ध इतिहास में एक काला टीका छोड़ गये। मजहब के नाम पर लगभग दस लाख प्राणी और कई सौ नगर नष्ट कर दिये गये थे।

नीदरलेंड का धार्मिक एवं स्वतन्त्रता युद्धः—नीदरलेंड का उत्तरी भाग होलेंड कहलाता था और वहां के निवासी डच। दक्षिणी भाग बेलजियम कहलाता था। होलेंड निवासियों पर धार्मिक सुधार का प्रभाव था। और वे सब प्रायः प्रोटेस्टेन्ट हो चुके थे। बेलजियम निवासी रोमन कैथोलिक ही बने रहे।

१६ वीं शताब्दी में नीदरलेंड पर स्पेन का शासन था। स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय (१५५६–१५९८) कट्टर रोमन कैथोलिक था। उसने होलेंड के प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। वहां अपने ही धर्म पादरी नियुक्त करना शुरु किया जो "धर्म-विचार सभायें" करते थे और प्रोटेस्टेन्ट लोगों को नास्तिक ठहराकर जिन्दा जला दिया करते थे। इस धार्मिक अत्याचार से एवं अन्य कई व्यापारिक एवं आर्थिक कारणों से जिनसे डच लोगों के सरदारों और व्यापरियों की सत्ता और उन्नति में अनेक नियन्त्रण लग गये थे, होलेंड में विदेशी स्पेनिश लोगों के विरुद्ध एक आग सी भड़क उठी। होलेंड के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के नेता थे विलियम ओफ ओरेंज (Villiam Of Orange)। स्पेन और होलेंड में यह युद्ध अनेक वर्षों तक चलता रहा। अनेक विद्रोहियों को फांसी दी गई। होलेंडवासियों को विशाल आत्म त्याग करना पड़ा। अन्त में १६०९ में एक संधि द्वारा स्पेन को होलेंड की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी और सन् १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार होलेंड सर्वदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी होलेंड तो स्वतन्त्र हो गया, किन्तु वेलजियम अभी तक स्पेन के ही आधीन रहा।

जर्मनी में तीस वर्षीय धर्म युद्धः—आधुनिक जर्मनी उस समय पवित्र रोमन राज्य का एक अंग था। यह राज्य अनेक

छोटे छोटे हिस्सों में बटा था। इन हिस्सों के अलग अलग राजा थे। धर्म सुधार की लहर के बाद कई राजा तो प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो गये एवं कई रोमन कैथोलिक ही रहे। अपने अपने धर्म का प्रभाव बढ़ाने की आकांक्षा से इन उपरोक्त जर्मन राज्यों में परस्पर युद्ध हुए। सन् १६२८ से १६४८ तक ये युद्ध चलते रहे। उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट हेब्सबर्ग (Habsburg) वंशीय फर्डीनेन्ड द्वितीय था, जो आष्ट्रिया का भी शासक था। वह चाहता था कि रोमन कैथोलिक देशों जैसे स्पेन की मदद से वह साम्राज्य के समस्त छोटे छोटे राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर ले। सम्राट की इस आकांक्षा ने यूरोप में एक अन्तरदेशीय या अन्तर्राष्ट्रिय राजनीति पैदा कर दी। फ्रान्स जो स्वयं एक रोमन कैथोलिक देश था सोचने लगा कि यदि, जर्मनी (पवित्र रोमन सम्राट) की शक्ति बढ़ गई तो उसके लिये यूरोप में खतरा पैदा हो जायेगा। इसी भावना को लेकर फ्रान्स सम्राट के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। अतएव जर्मनी का यह धार्मिक युद्ध एक ओर फ्रान्स की शक्ति (जिसकी मदद के लिये स्वीडन का राजा आया) और दूसरी ओर आष्ट्रिया एवं स्पेन की हेब्सबर्ग शक्ति के बीच हो गया। मानों यह युद्ध यूरोप में शक्तिसंतुलन (Balance Of Power) कायम रखने के लिये लड़ा जा रहा हो। इन शक्तियों में कई वर्षों तक युद्ध होने के उपरान्त अन्त में सन् १६४८ ई. में इन

राज्यों में एक संधि हुई जो वेस्टफेलिया की संधि कहलाती है। इस संधि-के अनुसार निम्न निर्णय हुए। १. कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट और कालविन ईसाई सम्प्रदायों को समान पद दिया गया और यह घोषित किया गया कि राजा अपने धर्म को राज्य धर्म बना सकता था। २. स्वीटजरलैंड और होलेंड रोमन (जर्मन) साम्राज्य से पृथक हुए और उनको पृथक स्वतन्त्र देश माना गया। ३. साम्राज्य के अलसेस प्रदेश का प्रमुख भाग फ्रांस को दिया गया। ४. साम्राज्य के एक छोटे राज्य ब्रेडनबर्ग को कई और प्रदेश दिये गये। ब्रेडनबर्ग राज्य भविष्य में जाकर जर्मनी राज्य के उद्भव का एक केन्द्र बना। इस प्रकार जर्मन साम्राज्य जो एक केन्द्रीय शक्ति होने की ओर उन्नति कर रहा था टूटफूट कर शक्तिहीन हो गया।

वेस्ट फेलिया की संधि का यूरोप के इतिहास में महत्त्व:—इस सन्धिकाल से अर्थात् सन् १६४८ ई. से यूरोप में धार्मिक सुधार युग का अन्त होता है। इसके पश्चात् यूरोप में किसी भी प्रकार का धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक युद्ध नहीं हुआ। धर्म विशेषत: एक व्यक्तिगत वस्तु रह गई। इसी सन्धिकाल से धर्म निरपेक्ष राजनैतिक युद्धों और क्रांतियों का काल प्रारम्भ होता है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय नियम एवं यूरोप के राष्ट्रों में श[illegible]क संतुलन (Balance Of Power) की नीति का प्रारम्भ हु[illegible]।

४६

आधुनिक यूरोपीय राज्यों का कब और कैसे उदभव हुआ ?

पृष्ठ-भूमि

ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल के निकट आते जाते हैं त्यों त्यों मानव की कहानी में यूरोप का महत्व बढ़ता जाता है। विशेषतया १७ वीं १८ वीं शताब्दी से तो हम ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानों कि यूरोप ही एक ऐसा देश हैं जहाँ मानव बहुत गतिमान और क्रियाशील है और १६ वीं शताब्दी के आते तक तो हम यूरोप को समस्त विश्व का अधिनायक पाते हैं। इन शताब्दियों में संसार में जो कुछ भी नया आन्दोलन, जो कुछ भी नई चहल पहल, जो कुछ भी नई विचार धारा, जो कुछ भी नया सामाजिक और राजनैतिक संगठन हम विश्व इतिहास में देख पाते हैं उन सब का उदय और विकास हम यूरोप में ही पाते हैं। अतएव आज यूरोप का बहुत महत्व है। यूरोप आधुनिक काल में विश्व चित्रपट पर एक बहुत दबंग, शक्तिमान और विकास शील ढङ्ग से आता है:-इसका प्राचीन क्या था यह हमें देखना चाहिये।

आज से लगभग २०–२५ हजार वर्ष पूर्व अन्तिम हिम-युग की, जो प्रायः ५० हजार वर्ष पहिले प्रारम्भ हुआ था सर्दी और बर्फ समाप्त हो चुकी थी। इसी काल में हम यूरोप के उन भूभागों में जो आज फ्रान्स, स्पेन, इटली, जर्मनी और दक्षिणी स्वीडन है गुफाओं और जंगलों में जंगली मानव बसता हुआ पाते हैं। यह जंगली मानव बहुत धीरे धीरे और बड़ी कठिनता से जंगली स्थिति से अर्द्ध सभ्य स्थिति की ओर विकास कर रहा था। उस अर्ध–सभ्य स्थिति के अवशेष चिन्हः– उनके पत्थरों के औजार एवं हथियार आदि मिले हैं। किन्तु ईसा के ढ़ाई तीन हजार वर्ष से पहिले के संगठित सभ्यता के कोई भी चिन्ह यूरोप में नहीं मिलते। इससे मालूम होता है कि यूरोप में संगठित सभ्यता ईसा के प्रायः ढ़ाई तीन हजार वर्ष पूर्व काल में आई इससे पहिले नहीं। यह सभ्यता भी मिश्र और एशिया (एशिया माइनर, सीरीया इत्यादि, से इजियन द्वीप समूह में से होती हुई यूरोप के भू मध्यसागरीय देशों में फैली। यह काष्र्णीय लोगों की सौर पाषाणी (कृषि, पशुपालन, बहुदेव–पूजा, मन्दिर और पुजारी) सभ्यता थी जिसका जिक्र कई बार पहिले हो चुका है। इसी सौर पाषाणी सभ्यता के भग्नावशेषों पर ईसा के प्राय १००० वर्ष पूर्व ग्रीक आर्य सभ्यता की ज्योति और जीवन का आगमन हुआ और उसके कुछ ही वर्ष बाद आर्य रोमन सभ्यता का आगमन और विकास हुआ। ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के

समय से ही हमें यूरोप का लिखित इतिहास मिलता है। कई शताब्दियों तक इन सभ्यताओं का विकास यूरोप में होता रहा, ग्रीक सभ्यता का ग्रीस, (दक्षिण इटली, सिसली, एवं अनेक भू मध्यसागरीय द्वीप), एशिया माइनर में विकास हुआ, एवं रोमन सभ्यता का पहले इटली में विकास हुआ, और फिर ग्रीक सभ्यता को पदाक्रान्त करती हुई यह सभ्यता ई. पू. १५० तक समस्त ग्रीक प्रदेशों, एवं फ्राँस, स्पेन, बाल्कन प्रदेशों में फैल गई। ईसा की ५ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक रोमन सभ्यता जीवित रही तदुपरान्त ठेठ उत्तर और उत्तर पूर्वीय प्रदेशों से कई नई असभ्य जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, रोमन सभ्यता का जो पतित और गलितावस्था में थी अन्त हुआ और सर्वत्र यूरोप में इन नयी असभ्य आगन्तुक जातियां के निरन्तर आक्रमण होते रहे। ये नई जातियां नोर्डिक आर्य्यन उपजाति की भिन्न भिन्न शाखायें थीं। (देखिये अध्याय-मानव की उपजातियाँ)। इन लोगों की उपजाति (Race) के संबंध में फिर हम यह बात दोहरादें। प्रायः मान्य राय तो यह है कि प्राचीन काल में गौरवर्ण लम्बे कद वाली एक उपजाति (Race) के लोग रहते थे, जिनका आदि स्थान मध्य एशिया (?) था-- इनको नोर्डिक या आर्य नाम दिया गया—ई. पू. की एक दो सहस्राब्दियों में, इनकी एक शाखा दक्षिण की ओर भारत में आई—जिन्होंने वैदिक आर्य सभ्यता का विकास किया; एक शाखा पच्छिम की ओर

गई जो ईरान में बसे; कई शाखायें पच्छिम की ओर बढ़ी, जिन्होंने ग्रीस में ग्रीक सभ्यता का विकास किया;—और कुछ लोग स्केन्डिनेविया में जाकर बस गये—जो कालाँतर में फिर ट्यूटोनिक, गाथ आदि जातियों के नाम से यूरोप में आये। अर्थात् भारतीय आर्य, ग्रीक, रोमन, ट्यूटोनिक जर्मन जातियों की पूर्वज एक ही आर्य उपजाति थी, और इन सब लोगों की भाषायें एक ही आदि आर्य जर्मन भाषा की पुत्रियां। कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि वे आर्य जिन्होंने भारत में वैदिक सभ्यता का विकास किया, उनका आदि निवास स्थान भारत ही था—इन्हीं भारतीय आर्यों की दस्यु जातियां—अथवा इन आर्यों में उपेक्षित कुछ निम्न वर्ग के लोग पच्छिम में ईरान और फिर सैंकड़ों वर्षों में धीरे धीरे और पच्छिम की ओर ग्रीस और रोम की तरफ बढ़ते गये—प्राचीन वैदिक परम्परायें कुछ भूलते जाते थे—कुछ स्मरण रहती थीं। एकाध विद्वान् का ऐसा मत है कि भारतीय आर्यों और मंगोल (ट्यूरेनियम) उपजाति के लोगों के सम्मिश्रण से नोर्डिक आर्य उपजाति बनीं। खैर। इन नोर्डिक आर्य जातियों को ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी में हम उत्तर में स्केन्डीनेविया के दक्षिणी भागों में और पूर्व में डेन्यूब नदी, एवं केस्पियन सागर तक फैला पाते हैं। रोमन दुनियां (ग्रीस, इटली, दक्षिणी फ्रांस और डेन्यूब के दक्षिण में बाल्कन प्रदेश) की सीमा के पार उत्तर में उपरोक्त जो अर्द्ध

सभ्य लोग फैले हुए थे उनको हम मुख्यतया ३ समूहों में बांट सकते हैं। १. केल्टिक लोगों का समूह, जो ईसा के पूर्व की शताब्दियों में ही समुद्र पार करके इङ्गलैंड, स्काटलेंड, वेल्स और आयरलेंड पहुँच गये थे। आधुनिक आयरिश लोग इन्हीं केल्टिक लोगों के वंशज मालूम होते हैं। २. ट्यूटोनिक लोगों का समूह जो विशेषतः स्केन्डीनेविया, में एवं राइन नदी और डेन्यूब नदी के सहारे फैले हुए थे। इन लोगों की मुख्य जातियां ये थीं:—गोथ, वेन्डल, फ्रेन्क, एंगल्स, सेक्सन्स, बवेरियन्स, लोम्बार्डस। इन जातियों में से फ्रांस में विशेषतः फ्रेन्क और गोथ लोग बसे। स्पेन में वेन्डल लोग, ब्रिटेन में एंगल्स और सेक्सन्स, इटली में लोम्बार्डस और गोथ लोग, जर्मनी में गोथ लोग। अतएव आधुनिक यूरोपीय देशों के आधुनिक निवासी इन उपरोक्त जाति के लोगों के वंशज हैं। ३. स्लैव लोगों का समूह जो उपरोक्त ट्यूटोनिक लोगों के पूर्व में बसे हुए थे। आधुनिक रूस, पोलेंड, जेकोस्लोवेकिया, सर्विया, रुमानिया इत्यादि देशों के निवासी इन्हीं लोगों की परम्परा में हैं।

ईसा की जिन प्रारम्भिक शताब्दियों का हम वर्णन कर रहे हैं उन शताब्दियों में मंगोल उपजाति के हूण लोगों के भी मंगोल और मध्य एशिया में चल कर यूराल पर्वत के दक्षिण से होते हुए, यूरोप में निरन्तर आक्रमण होरहे थे। यहाँ तक कि

प्रसिद्ध हूण अतिल (Attila) ने ईसवी सन् ४५० तक पच्छिम में गोल से ले कर पूर्व में मंगोलिया तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। यद्यपि ४५३ ई. में अतिल की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य तो सर्वथा छिन्न भिन्न हो गया था किन्तु अनेक हूण लोग यूरोप में ही बसे रह गये । निःसन्देह उपरोक्त भिन्न भिन्न नोर्डिक आर्य जाति के लोगों के साथ इनका समिश्रण और वर्ण-संकर हुआ, विशेषतया स्लैव जाति के लोगों के साथ जो यूरोप के पूर्वीय भागों में बस रहे थे।
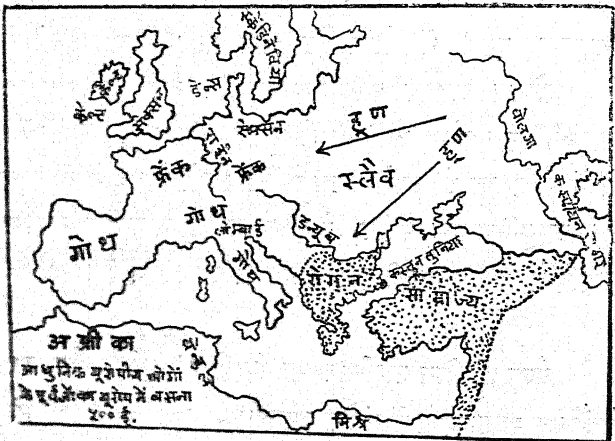
आज (२० वीं शताब्दी में) जो यूरोपीय देश हैं और जो यूरोप निवासी हैं उनका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से उपरोक्त नोर्डिक आर्य उपजाति की भिन्न भिन्न जातियों के लोगों ने (जैसे गोथ, एनगल्स, इत्यादि) पांचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य का अन्त करके धीरे धीरे अपने छोटे छोटे राज्य यूरोप में कायम करना शुरु किया । उस काल में इन लोगों में संगठित सभ्यता का प्रायः अभाव था । ये लोग बैलगाड़ियों में, छोटी छोटी समूहगत जातियों में बंधे हुए अपने परिवारों के साथ इधर उधर घूमा फिरा करते थे, कृषि और पशुपालन जानते थे किन्तु अधिकतर इधर उधर घूमते हुए, ढोरों को चराने का काम विशेष करते थे। लोहे के प्रयोग से ये परिचित थे। जीवन सरल, कठोर और साहसी था। ये सब लोग आर्यन परिवार की परस्पर मिलती जुलती सी बोलियों का प्रयोग करते थे जिनमें से ही धीरे धीरे विकास और कुछ रुपानन्तर होते हुए आधुनिक यूरोपियन भाषायें उद्भव हुई हैं । कालान्तर में इन भाषाओं के लिखित रुप के लिये रोमन लिपी अपना ली गई । इन लोगों के कई प्राचीन महा काव्य भी मिलते हैं जो इन लोगों के साहस, युद्ध वीरता और बर्बरता, बदले की भावना और प्रारम्भिक देव–पूजा और इनके जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं । यह महा-काव्य उन्हीं की प्राचीन बोलियों में हैं, जो उन जातियों के सागा (गायक) लोग गाया करते थे, और जो जबानी एक पीढ़ी

से दूसरी पीढ़ी तक चलते रहते थे,—जब तक कि अन्त में भाषा का लिखित रुप प्रकट होने पर वे लिख लिये गये । उस युग के इन महाकाव्यों में मुख्यतः दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं—बोवुल्फ (Beowulf) जो प्रारम्भिक जर्मन भाषा ऐंगलो सेक्शन का पूर्ववर्ती रुप) में लिखा हुआ मिलता है और जिसमें उन लोगों के पांचवीं शताब्दी के जीवन के दर्शन मिलते हैं, दूसरा चांसन दी रोलेण्ड (Chanson de Roland) जो प्रारम्भिक फ्रेंच भाषा का महाकाव्य है—और जिसमें सातवीं शताब्दी के जीवन का रुप मिलता है । इन महाकाव्यों में काव्यगत कला और भाव वे गुण नहीं हैं जो प्राचीन ग्रीक के इलियड और होमर में हैं।

जातिगत देवी और देवताओं में इन लोगों की सरल मान्यता थी और उनकी पूजा किया करते थे । इनकी पूजा और धार्मिक मान्यता में कार्थ्रीय (भूमध्य सागरीय काले गोरे) लोगों की तरह भय, शंका, और अन्धकार पूर्ण जादू और रहस्यमयता का भाव नहीं था, किंतु ग्रीक लोगों की तरह एक निर्भय मुक्त भाव था। देवता भी ऐसे थे जैसे ग्रीक या रोमन लोगों के थे। उदाहरण स्वरुपः—

ग्रीक या रोमन देवता	गोथ (जर्मन) लोगों के देवता	
जूपीटर	ओडिन	देवताओं का राजा
मार्स	थोर्स	युद्ध का देवता
वीनस	फ्रे या	सौन्दर्य और प्रेम की देवी।

स्कैंडिनेविया से डैन्यूब नदी तक जहाँ पहिले घने जंगल और दलदल भूमि थी, वहां शनैः शनैः ऋतु परिवर्तन के साथ साथ जंगल हटकर घास के मैदान पैदा होरहे थे। इन्हीं घास के मैदानों में ये नये ट्यूटोनिक और स्लैव लोग आकर बसे थे। और इटली, स्पेन, फ्राँन्स, बाल्कन आदि प्रदेशों में पतित, गलित और विशृंखल रोमन समाज पर, अपनी नई ताज़गी और साहस के साथ, क्रूरता से बढ़ते हुए जारहे थे-कल्पना कर सकते हैं ऐसी परिस्थितियों में कोई व्यवस्था नहीं थी-जो कुछ संगठन और व्यवस्था रोमन साम्राज्य में थी, वह सब उसके पतन के बाद ध्वस्त होचुकी थी, सर्वत्र अंधकार का राज्य था, किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं था-न कोई संगठित व्यवस्था थी,-उस दुनियां में शिक्षा के प्रबंध का कोई प्रश्न नहीं था,-उसको कला, साहित्य विज्ञान छू भी नहीं पाये थे-मैदानों को साफ किया जाकर बहुत धीरे धीरे गाँवों का, नगरों का विकास होरहा था। जब चौथी पांचवीं एवं आगे कुछ शताब्दियों तक यूरोप की यह अवस्था थी

तब शेष दुनियाँ का क्या हाल था ?–चीन में कई हजार वर्ष पूर्व से निरंतर एक सुसंगठित साम्राज्य और समाज का विकास होता हुआ चला आरहा था-और दर्शन, कला, साहित्य, शिक्षा और सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की परंपरा बन चुकी थी। यद्यपि कभी कभी किसी शक्तिहीन स्वार्थी सम्राट के राज्यकाल में अव्यवस्था फैल जाती थी, और देश एक सूत्र में बंधा न रह कर कई राज्यों में छिन्न भिन्न होजाता था तथापि सांस्कृतिक परम्परा कभी नहीं टूटती थी, कनफ्यूसियस के विचारों के अनुसार जीवन दृष्टिकोण के साथ साथ बुद्ध धर्म का प्रचार होने लगा था।-भारत में चौथी पांचवी शताब्दी में गुप्त वंश के सम्राटों के आधीन भारत का स्वर्ण युग था, लोग शिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत थे, व्यवस्थित समाज था, शिक्षा के लिये बड़े बड़े विश्वविद्यालय थे, हिंदू धर्म उन्नत दशा में था–बौद्ध धर्म इस देश से धीरे धीरे विलीन होरहा था,-जब महाकवि कालीदास अपनी 'शकुन्तला' गारहा था और संसार प्रसिद्ध अजन्ता की गुफाओं के सौन्दर्य की रचना होरही थी। पूर्वीय द्वीप समूहों में भारतीय फैल चुके थे-वहाँ उनका साम्राज्य था एवं विशाल क्षेत्र में व्यापार। पूर्वी यूरोप में (ग्रीस, बाल्कन, प्रदेश) पूर्वीय रोमन साम्राज्य जिसका अंत नहीं हुआ था-अपनी परम्पराओं को किसी तरह चला रहा था, यद्यपि गोथ और स्लैव लोगों के आक्रमण इन प्रदेशों में भी बराबर होरहे थे। एशिया माइनर,

सीरीया, इजराइल, मिश्र में भी पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अंतर्गत जीवन कुछ व्यवस्थित ढंग से चल रहा था ईसाई धर्म का प्रचलन था, यहूदी लोग भी इधर उधर फैल हुए थे-किंतु ईरान से ईरानी सम्राटों के आक्रमण इन एशियाई प्रदेशों में बराबर होरहे थे। फिर भी इन प्रदेशों में गांवों में कृषि निरंतर होती रहती थी एवं अनेक व्यापारिक नगर जैसे पलमिरा, एन्टीयोच, दमिश्क, इत्यादि बसे हुए थे और उनका व्यापार समृद्धि पर था। मेसोपोटेमिया और ईरान में ईरानी सम्राटों का राज्य था-पूर्वीय रोमन साम्राज्य से इनके युद्ध होते रहते थे–किंतु गांवों और नगरों में सामाजिक जीवन प्रायः व्यवस्थित ढंग से चलता रहता था-ईरान में जरथुस्त्र (पारसी) धर्म का प्रचलन था। इस्लाम धर्म के उदय होने में अभी कुछ वर्ष बाकी थे-ऐसे भी रिकार्ड अब मिले हैं जिनसे पता लगा है कि उस समय अफगानिस्तान और मध्य तुर्कीस्तान में भी सभ्य अवस्था थी--एवं वे बौद्ध धर्म से परिचित थे।

इन उपर्युक्त भूभागों को छोड़कर शेष दुनिया में यथा--ठेठ उत्तरीय यूरोप एवं एशिया (साईबेरिया) में, समस्त मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीका में, आस्ट्रेलिया एवं निकटस्थ अन्य द्वीपों में, और अमेरिका एवं निकटस्थ द्वीपों में मानव यदि बसा हुआ था तो अपनी आदिम अवस्था में था,–साधारणतया हम कह सकते हैं कि इन भूभागों में मानव चहलपहल प्रायः नहीं थी।

इसी प्रकार दुनियां की उस समय की स्थिति का जब यूरोप में आधुनिक यूरोपीय लोगों के इतिहास का प्रारम्भ हो रहा था, हम बहुत संक्षेप में अवलोकन कर आये हैं। ऊपर जो कुछ भी लिख आये हैं, उसके आधार पर, एवं उसके आगे यूरोप के विकास की कहानी को ध्यान में रखते हुए यूरोप के इतिहास को मोटे तोर से हम निम्न विभागों में बांट सकते हैं।

प्रागैतिहासिक–१. अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल–जब पाषाण युगीय मानव यूरोप में बसता होगा (विवरण अध्याय १०)

२. लगभग ३०००–१००० वर्ष ई. पू. भूमध्यसागर के द्वीपों में (क्रीट), एवं ईजीयन प्रदेशों में, सौर-पाषाणी सभ्यता (विवरण अध्याय १७)

प्राचीन–३. लगभग १०००–१५० ई. पू. तक-ग्रीक सभ्यता (ग्रीस और बृहद ग्रीस में--देखिये विवरण अध्याय २६)

४. लगभग १००० वर्ष ई. पू. से ४७० ई. सन तक–रोमन सभ्यता (समस्त दक्षिणी यूरोप) विवरण अध्याय २७

मध्य–५. पांचवीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक–यूरोप का मध्य युग (अंधकारमय) विवरण अध्याय ४२

आधुनिक-६. आधुनिक युगः-१५वीं शताब्दी में पुनर्जागरण काल से आजतक

अब हम बहुत संक्षेप में आधुनिक यूरोपीय राज्यों के उद्भव और विकास की रुपरेखा देकर आधुनिक यूरोप के मानव की (अलग अलग देशों की नहीं) सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक उन्नति और विकास की कहानी का अवलोकन करेंगे।

फ्रान्स

पच्छिमी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सर्वत्र यूरोप में जो एक बार अव्यवस्था और अस्त व्यवस्तता फैली, उस समय कोई भी राज्य, राजा, या संगठन ऐसा नहीं था जो एक साधारण, सभ्य, सुरक्षित समाज कायम रख सकता। ऐसी परिस्थितियों में धीरे धीरे जो पहिला सुगठित राज्य पच्छिम यूरोप में उद्भव हुआ वह था फ्रेंकिश (Frankish) राज्य और इसका संस्थापक था एक व्यक्ति जिसका नाम था क्लोविस (४८१-५११) क्लोविस यूरोप के उस भूभाग से जो आज बेलजियम है अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ करके, सब गोथ या फ्रेंक सरदारों या नेताओं को दबाता हुआ, ठेठ स्पेन के उत्तर में पेरीनीज पर्वत तक पहुंचा। क्लोविस की मृत्यु के बाद उसके राज्य के दो अंगों में विभाजन की एक लहर चली, एक तरफ तो उन फ्रेंक लोगों का अलग संगठन बनने लगा जो इटली के उत्तर पच्छिम

में उस भूभाग में बस गये थे, जिस पर पहिले रोमन सम्राटों का अधिकार था, जो उनके जमाने में गोल कहलाता था, और जहां रोमन लोगों की लेटिन भाषा प्रचलित थी। इन भूभागों में बसे फ्रेन्क लोगों ने कुछ कुछ लेटिन भाषा अपना ली थी। दूसरा संगठन उन फ्रेंक लोगों का बनने लगा जो राइन नदी के दूसरे पार बस गये थे जहाँ तक रोमन भाषा नहीं पहुंचती थी। उन्होंने अपनी आदि गोथ भाषा को ही अपनाये रक्खा। इस तरह क्लोविस ने जो राज्य स्थापित किया था उसमें भेद शुरु हुआ। इस राज्य का पच्छिमी भाग जहाँ की भाषा लेटिन से विकसित होकर फ्रेंच हुई फ्रान्स कहलाया, पूर्व की भाषा जर्मन रही और वह देश धीरे धीरे जर्मनी कहलाया।

इस भूभाग के एक राजा चार्ल्स मारटेल ने सन् ७३२ ई, में पोईटर के मैदान में मुसलमानों को हराया जो स्पेन विजय करने के वाद आगे यूरोप की ओर बढ़ रहे थे। चार्ल्स मारटेल की इस विजय ने मुसलमानों के लिये पच्छिम में यूरोप का रास्ता सर्वदा के लिये बन्द कर दिया।

चार्ल्स मारटेल के वाद एक अन्य महान् राजा का उदभव हुआ जो इतिहास में शार्लमत के नाम से प्रसिद्ध है। उसने अपने राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया। समस्त उत्तरी इटली, और आज फ्रान्स; जर्मनी, वेलजियम, होलेंड, स्वीटजरलैंड

इत्यादि जो प्रान्त हैं वे सब उसके राज्य के अन्तर्गत थे। सन् ७७८ से ८१४ तक उसका राज्य रहा। उपरोक्त विभाजन की लहर की वजह से फ्रांस और जर्मनी जो अलग अलग विभाग हो गये थे वे भी इसके राज्य काल में एक सुसंगठित राज्य में सम्मिलित थे। नये निर्माण होते हुए यूरोप का वस्तुतः यह प्रथम सम्राट था जिसने सुसंगठित शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। विशाल-काय, सतत क्रियाशील अजब स्फूर्ति वाला यह राजा था जो प्रतिपल गतिमान रहता था—जो स्वयं स्यात् चाहे पढ़ा न हो किन्तु विद्या और विद्वानों से प्रेम करता था। यह वही शार्लमन था जिसको रोम के पोप ने सन् ८०० ई. में पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट घोषित किया था। इसकी मृत्यु के बाद सन् ८४० ई. में उसके पोते के राज्य-काल में फ्रांस और जर्मनी हमेशा के लिये पृथक होगये। अब तक फ्रांस और जर्मनी का जो एक सम्मिलित इतिहास चल रहा था वह अब पृथक पृथक होगया।

८४० ई. से ९८७ ई. तक शार्लमन के वंशज कार्लोविंजियन राजाओं का राज्य रहा। सन् ९८७ ई. में एक सरदार ह्यू केपट (Hugh Capet) ने कार्लोविंजियन राजाओं को हटाकर फ्रांस का अनुशासन अपने हाथ में लिया ऐसा माना जाता है कि उसी समय से फ्रांस एक अलग राष्ट्र बना। इस समय तक तो केन्द्रीय

शक्ति अथवा राजा के आधीन राज्य का संगठन कुछ ठीक ठीक रहा किन्तु इसके अनन्तर कई शताब्दियों तक राज्य अनेक छोटे छोटे सरदारों के हाथों में बंटा रहा, केन्द्रीय शक्ति नाम मात्र रही। इस अरसे में इङ्गलेंड से १०० वर्ष का युद्ध हुआ जब फ्रांस की प्रसिद्ध वीर रमणी जांन आफ आर्क (१२८५-१३१४) ने अपने देश की रक्षा की। अन्त में सन् १६४३ ई. में जाकर सम्राट लुई XIV के राज्य काल में फ्रान्स एक शक्तिशाली सुसंगठित बना।

शार्लमन का साम्राज्य ८००ई.
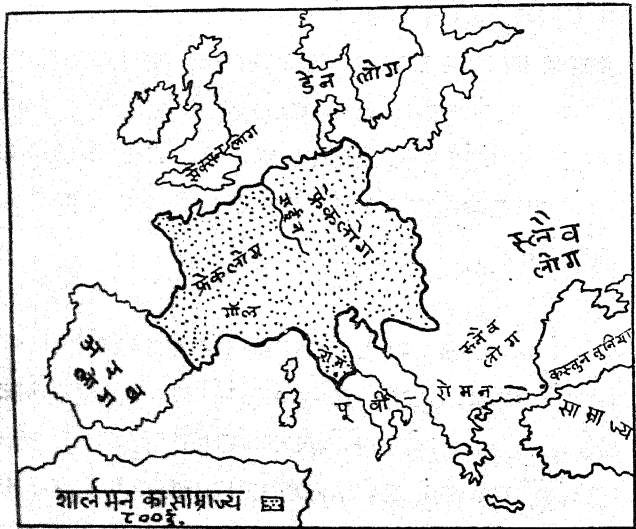
यूरोपियन जातियां इस समय पूर्व में अफ्रीका, भारत और चीन की तरफ और पच्छिम में अमेरिका की तरफ व्यापार के लिये और नये उपनिवेश स्थापित करने के लिये बढ़ने लग गई थीं। इसी सिलसिले में, १८ वीं शताब्दी में इङ्गलेंड और फ्रांस में विरोध उत्पन्न हुआ, अनेक युद्ध हुए और सन् १७६३ ई. में पेरिस की सन्धि हुई जिसके अनुसार फ्रांस को अमेरिका और भारत में अपने सब जीते हुए राज्य, या उपनीवेश छोड़ देनें पड़े।

राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ रही थी और शिक्षित मध्य-वर्गीय लोगों में असन्तोष और बेचेनी का प्रसार हो रहा था। फलतः प्रजातन्त्रीय राज्यों के लिये, मनुष्यों में समानता और मातृत्व के लिये, मानव की स्वतन्त्रता के लिये, सन् १७८९ ई. में इतिहास प्रसिद्ध फ्रांस की क्रान्ति हुई और देश में प्रजातन्त्र (रिपब्लिक) की स्थापना हुई। क्रांतिकारियों में जोश और उत्साह तो था किन्तु अनुभवहीनता की वजह से, कोई सुसंगठित दल न होने की वजह से ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुई कि वीर योद्धा जिसका नाम नेपोलियन था, वह प्रजातन्त्र खत्म करने में और स्वयं अकेले देश का अधिनायक बन जानें में सफल हुआ। इस इतिहास प्रसिद्ध नेपोलियन ने अपने राज्य का विस्तार किया किन्तु अन्त में ट्राफालगर के युद्ध में वह परास्त हुआ;—सन् १८१५ बियेना की सन्धि की गई

जिसके अनुसार फ्रांस के आधीन इतनी ही भूमि रही जितनी नेपोलियन के प्रकट होने के पूर्व उसके पास थी।

सन् १८१५ से १८४८ तक पुराने बोरबन राज्य वंश के राजाओं का राज्य चलता रहा।

सन १८४८ में दूसरी राज्य क्रान्ति हुई, दूसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना हुई किन्तु फिर नेपोलियन द्वितीय ने जो उपरोक्त योद्धा नेपोलियन का भतीजा था प्रजातन्त्र को ध्वस्त कर फिर से राज्यशाही स्थापित की।

किन्तु जर्मनी के साथ युद्ध ठन गया था। उसमें इस राज्य-शाही का खातमा हुआ। लोगों नें तंग आकर आखिर सन १८७१ ई. में फिर से प्रजातन्त्र की स्थापना की। फ्रांस में यह तीसरा प्रजातन्त्र था। इस बार प्रजातन्त्र के लिये एक संविधान तैयार किया गया और उसी के अनुसार अब तक फ्रांस का राज्य-शासन चल रहा है। तब से आज तक दो महायुद्ध हो दूगये, सरे महायुद्ध में फ्रांस, जर्मनी द्वारा पददलित और पदाक्रान्त भी किया गया। किन्तु सन् १९४५ में मित्र राष्ट्रों की विजय के उपरान्त फ्रांस ने युद्ध में खोई हुई अपनी शक्ति और समृद्धि को फिर से पा लिया।

जर्मनी

फ्रांस का हाल लिखते समय यह कहा जा चुका है कि यूरोप में सर्वत्र फैली हुई अनिश्चित अवस्था में से जब धीरे धीरे राज्यों का उद्‌भव और विकास होने लगा था उस समय सबसे पहला राज्य जिसका उद्‌भव हुआ वह था क्लोविश और शार्लमन का फ्रेंकिश (Frankish) राज्य जिसमें प्रायः आधुनिक फ्रांस और जर्मनी दोनों सम्मिलित थे। यह भी लिखा जा चुका है कि भिन्न भिन्न भाषा संस्कार की वजह से एवं संकुचित जाति भावना की वजह से अन्त में सन् ८४० ई. में फ्रांस और जर्मनी हमेशा के लिये पृथक होगये। यह भी हम कह आये हैं कि शार्लमन के राज्यकाल में सन् ८०० ई. में रोम के पोप ने शार्लमन को पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट घोषित किया और उस समय उसके राज्य विस्तार में अन्य प्रदेशों के अतिरिक्त जहां आधुनिक फ्रांस और जर्मनी हैं उनकी सीमायें भी सम्मिलित थी। सन् ८४० ई. में जब फ्रांस और जर्मनी दोनों पृथक हुए तो फ्रांस ने तो पवित्र रोमन साम्राज्य कहलाये जाने का लोभ संवरण करके स्वतन्त्र अपना विकास करना प्रारम्भ किया, किन्तु जर्मनी के शासक पर रोम के पोप का प्रभाव रहा और जर्मनी का राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से चलता रहा और वहां का शासक पवित्र रोमन सम्राट के नाम से। सन् ८४० के बाद से ही जर्मनी (या पवित्र रोमन

साम्राज्य) अनेक छोटे छोटे सामन्तशाही भागों में विभक्त था; पृथक पृथक भाग के सामन्त "ड्यूक" कहलाते थे। बीच में एक शक्तिशाली सम्राट ओटो प्रथम ने (९१२-९७३ ई.) अपने प्रयास और शक्ति से समस्त राज्य को एक केन्द्रीय शक्तिशाली राज्य में परिवर्तित किया और पूर्व में उसका विस्तार वहां तक किया जहां तक सम्राट शार्लमन का राज्य विस्तार था। ओटो महान् के काल से ही जर्मन पृथक एक राष्ट्रीय जाति मानी जाती रही है किन्तु ओटो महान् के बाद साम्राज्य फिर अपनी उन्हीं सामन्तशाही डचीज़ (ड्यूक सामन्तों के अधिकार में छोटे छोटे राज्य) की अवस्था में आ गया। इस साम्राज्य का सम्राट वंशगत नहीं होता था किन्तु उसकी नियुक्ति भिन्न भिन्न ड्यूक लोग एवं गिरजाओं के मुख्य पादरियों के द्वारा निर्वाचन से होती थी, जिसमें पोप का बहुत जबरदस्त हाथ रहता था। अनेक डचीज़ थीं एवं अनेक गिरजा। अतएव सम्राट के निर्वाचन में बड़े झगड़े होते थे। अन्त में सम्राट चार्ल्स चतुर्थ ने अपने राज्य काल में गोल्डन बुल (१३५३ ई.) नाम से एक नियम घोषित किया जिसमें निर्वाचन का अधिकार केवल तीन गिरजाओं के (मोंज, कोलोन और टिर्बिज़) पादरियों को एवं तीन डचीज़ (सैक्सोनी, राइन, बोहेमियां) को दिया गया। निर्वाचन भी केवल एक सिद्धान्त की वस्तु रह गया, व्यवहार की नहीं,—व्यवहार में तो बहुधा वंश परम्परा से ही सम्राट बनते

रहे। किन्तु इससे भी शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना नहीं हो सकी। जब कि इङ्गलैंड, फ्रांस और स्पेन तो राजाओं के केन्द्रीय शासन के आधीन संगठित और शक्तिशाली राज्य बन रहे थे, जर्मनी अर्थात् पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट सत्ताहीन बना रहा, चाहे सिद्धान्त में वह समग्र पच्छिमी यूरोप का भौतिक (Temporal) अधिनायक एवं सम्राट माना जाता था। इस साम्राज्य में दो राज्यों की प्रमुखता बढ़ रही थी। एक तो उत्तर में प्रशा की जहां होहनजोर्लन वंश के राजा राज्य करते थे; दूसरे आस्ट्रिया की जहां हप्सबर्ग वंश के शासक राज्य करते थे। सन् १४३८ ई. में आस्ट्रिया के हप्सबर्ग वंश का शासक सम्राट चुना गया। इस वंश के सम्राट १८०६ ई. तक शासनारूढ़ रहे। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी वंश क मैक्समिलन प्रथम (१४५३-१५१६ ई.) सम्राट बना, उसने एक अन्तिम बार शासन विधान सुधारने का प्रयत्न किया। इससे इतना तो हुआ कि भिन्न भिन्न छोटे छोटे राज्यों के शासकों में झगड़े तय करने के लिये एक राजकीय गृह (Imperial Chamber) स्थापित हो गया किन्तु सम्राट की सत्ता केन्द्रीभूत होकर शक्तिशाली नहीं बन पाई। इसके बाद १६ वीं शताब्दी से मार्टिन लूथर के नेतृत्व में धार्मिक सुधार की एक शक्तिशाली धारा प्रवाहित हुई। साम्राज्य के कुछ राज्यों ने लूथर के सुधारों का पक्ष लिया, कुछ राज्यों ने पुराने कैथोलिक पोप का

पक्ष लिया अतः तीस वर्षीय (१६१८–१६४८) धार्मिक युद्ध हुए जिनमें सम्राट की केन्द्रीय शक्ति और भी शीथिल हो गई, साम्राज्य का विस्तार भी कम हो गया। जर्मन राज्य कई सैकड़ों छोटे छोटे राज्यों (डचीज़) में विभक्त रहा। इन झगड़ों में प्रशा के शासक ने अपनी शक्ति बढ़ाई, आस्ट्रिया के बाद वही प्रमुख था। १८वीं शताब्दी में जर्मन जाति के लोगों में प्रशा की शक्ति और महत्व बढा। फेड्रिक महान् (१७४०–१७८०) के नेतृत्व में प्रशा एक सुसंगठित राज्य बना। उसने अपनी विजयों से अपने राज्य प्रशा में आस्ट्रिया, पोलेंड के भी कई भाग मिलाये। किन्तु १८वीं शती के अन्तिम वर्षों में फ्रांस में नेपोलियन का उदय हुआ, अपनी यूरोप विजय में नेपोलियन ने सन् १८०६ में पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त किया, साम्राज्य का पूर्व भाग आस्ट्रिया जहां का हप्सबर्ग वंश का शासक साम्राज्य का सम्राट होता था, साम्राज्य से अलग हुआ; पच्छिमी भाग के राज्यों को मिलाकर राइन कन्फीडरेशन (राइन संघ) बनाया गया। तभी से (१८०६) आस्ट्रिया के शासक फ्रान्सिस द्वितीय ने अपनी उपाधि 'पवित्र रोमन सम्राट' का त्याग कर दिया और अपने आपको केवल आस्ट्रिया का सम्राट घोषित किया। फिर नेपोलियन की पराजय के बाद वियना की कांग्रेस में सन् १८१५ में राइन कन्फीडरेशन के छोटे छोटे राज्यों का अन्त करके केवल ३६ राज्यों का एक संघ बनाया गया। इस संघ के राज्यों में सर्वाधिक महत्व प्रशा

का ही रहा—आस्ट्रिया तो सन् १८०६ में अलग हो ही गया था। धीरे धीरे प्रशा ने संघ के सब राज्यों पर (जो जर्मन जाति के ही थे) राष्ट्रीयता की प्रेरणा से अपना प्रभाव डाला। इसी समय प्रशा के शासक का प्रधान मन्त्री प्रसिद्ध लोह पुरुष बिसमार्क था। उसके नेतृत्व में संघ खत्म किया गया (१८६४ ई.) और जर्मनी एक राज्य घोषित किया गया। जर्मनी का एकीकरण फ्रांस-प्रशा युद्ध में फ्रान्स की पराजय के बाद सन् १८७० से पूरा हुआ, जब प्रशा का शासक "एक जर्मन राज्य" का सम्राट (केसर) घोषित किया गया। सम्राट ने एक राष्ट्र सभा (राइकस्टेग) और एक कार्य कारिणी (राइकस्टीट) की घोषणा की। जर्मनी को एक शक्तिशाली सुसंगठित राज्य बनाने का श्रेय बिस्मार्क को हो जाता है। सन् १८७० में एकीकरण के बाद जर्मनी ने प्रत्येक क्षेत्र में, क्या उद्योग, क्या सैन्य शक्ति, क्या शिक्षा, विज्ञान, अनुशासन और संगठन सब में अभूतपूर्व उन्नति की, और वह यूरोप का एक महान् राष्ट्र बन गया। सन् १६१४ में उसने प्रथम विश्व युद्ध लड़ा, युद्ध में उसकी पराजय हुई एवं युद्ध के बाद बरसाई की संधि (१६१६ ई.) में उसको बहुत हानि हुई; किन्तु फिर सन् १६३६ तक केवल २० ही वर्ष में वह संसार का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनकर खड़ा हो गया। फिर द्वितीय विश्व-युद्ध (सन् १६३६–४५) उसने लड़ा, इसमें पराजय हुई। आज सन् १६५० में जर्मन भूमि के चार भिन्न भिन्न विभाजित

क्षेत्रों में एक एक में अलग अलग अमरीकन, रूसी, इंगलिश और फ्रान्सिसी सेनाओं का अधिकार है,-द्वितीय महायुद्ध के बाद अब तक कोई स्थायी संधि नहीं हो पाई है।

इंगलैंड

इङ्गलैंड का इतिहास भी उन नोर्डिक आर्यन लोगों का इतिहास है जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से शूरु कर ११वीं शताब्दी तक समय समय पर यूरोप महाद्वीप से इङ्गलिस चेनल को पार करके इङ्गलेंड पहुँचते रहे और वहां बसते रहे।

हजारों वर्ष पहिले इङ्गलेंड में प्रागेतिहासिक युग में जंगली-अवस्था के लोग रहते थे जो यूरोप महाद्वीप से वहाँ पहुंचे होंगे। उनके कोई अवशेष चिन्ह नहीं हैं। फिर महाद्वीप से पाषाणी सभ्यता के वे लोग वहां पहुंचे जिनको आइबिरियन या गेलिक नाम दिया जाता है। इन लोगों के भी कोई वंशज नहीं है। फिर ईसा के पूर्व कुछ शताब्दियों में नोर्डिक-आर्यन लोगों की केल्टिक जाति के लोगों का प्रवाह इङ्गलैंड गया। ये वे ही लोग थे जो बाद में ब्रिटेन कहलाये। और जिनकी गाथायें उनके पौराणिक राजा आर्थर की कथाओं में गाई गई हैं। ई. पू. की शताब्दियों में इन्हीं लोगों के जमाने में प्राचीन काल के प्रसिद्ध मल्लाह और व्यापारी फिनिसियन लोग वहाँ पर टीन की तलाश में पहुंचे थे, जिसका वे कांसा नाम की धातु बनाने में प्रयोग करते

थे। उस काल में कांसा धातु के औजार और हथियार बना करते थे।

ईसा काल के शुरु में इङ्गलेंड में रोमन लोगों के भी आक्रमण हुए। वह प्रथम रोमन योद्धा जो सर्वप्रथम इङ्गलेंड पहुँचा था, प्रसिद्ध रोमन जनरल जूलियस सीजर था। ५५ ई. पू. में इसका प्रथम आक्रमण हुआ, किन्तु इङ्गलेंड को विजय करने के उद्देश्य से निरन्तर आक्रमण ४३ ई. से प्रारम्भ हुए और तभी से वहां उनका राज्य स्थापित हुआ। लगभग ४०० वर्षोंतक रोमन लोगों ने वहां राज्य किया। अपने राज्यकाल में उन्होंने देश भर में अच्छी अच्छी सड़कें बनाईं जिनके कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं और देशभर में एक शांतिपूर्ण और सुव्यवस्थित राज्य कायम रक्खा। ये लोग वहां पर बसने के उद्देश्य से नहीं गये थे, केवल कुछ जनरल, सिपाही और अफसर राज्य करने के लिए वहाँ पहुंच गये थे। लगभग ४१० ई. में वे वहां से लौट आये।

अब ५वीं शताब्दी में (४४९ ई. से शुरु होकर) नोर्डिक लोगों के आक्रमण प्रारम्भ हुए जो वहां जाकर बसे और जो आज के अंग्रेज लोगों के पूर्वज हैं। इन नोर्डिक लोगों में प्रथम आक्रमण ऐन्गल्स्, सेक्सन्स और जूट लोगों का था। इनका प्रवाह छठी शताब्दी तक चलता रहा, सर्वत्र इंगलेंड में इनकी बस्तियां फैल गईं और ये स्थायी रूप से वहां बस गये। केन्ट,

मुसेक्स्, वेसेक्स्, इसेक्स् इत्यादि छोटे छोटे राज्य उन्होंने स्थापित किये। इन लोगों के आने के पूर्व जो कोल्टिक लोग इङ्गलेंड में बसे हुये थे वे पच्छिम की ओर खिसकते गये पहिले वे वेल्स में जाकर बसे और अन्त में आयरलेंड में। ये ही केल्टिक लोग आज के आइरिश लोगों के पूर्वज हैं। उपरोक्त सुसेक्स्, वेक्सेस् इत्यादि जो छोटे छोटे राज्य एङ्गलोसेक्सन लोगों ने स्थापित किये, उन्हींमें से वेसेक्स् के राजा एगबर्ट ने अपना प्रभाव बढाया, और सन् ८२६ ई. में अन्य सब छोटे छोटे सरदारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इङ्गलेंड का सर्वप्रथम राजा यही एगबर्ट माना जाता है इसी परम्परा में इङ्गलेंड का एक राजा अलफ्रेड महान हुआ (८८६ ई.) जिसने देश की व्यवस्था में कई सुधार किये, शिक्षा का प्रचार किया और लोगों के जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया।

नोर्डिक लोगों का दूसरा प्रवाह ८वीं ९वीं शताब्दी में चला। यह प्रवाह एक दूसरी नोर्डिक जाति, डेनिश लोगों का था। ये वे ही डेनिश लोग थे जो मुख्यतया दक्षिणी स्वीडन और होलेंड में बसे हुये थे, जो बड़े साहसी मल्लाह थे और जिन्होंने उस जमाने में ग्रीनलेंड और आइसलेंड की यात्रा की थी। इन लोगों ने इङ्गलेंड के कई भागों में अपना राज्य स्थापित किया। सन् १०१६ ई. में प्रसिद्ध डेनिश राजा केन्यूट का इङ्गलेंड, डेनमार्क और स्वीडन में राज्य था। किन्तु फिर एक तीसरी

नोर्डिक जाति के इङ्गलेंड में आक्रमण प्रारम्भ हुए। नोर्डिक लोगों का यह तीसरा प्रवाह उन नोरमन लोगों का था जो कई शताब्दियों से फ्रांस में बसे हुए थे। फ्रांस के एक प्रदेश नोर्मेंडी के ड्यूक विलियम ने इङ्गलेंड पर आक्रमण किया (१०६६ ई.)। यह विलियम इतिहास में "इङ्गलेंड का विजेता" के नाम से प्रसिद्ध है। इङ्गलेंड में अब नोरमन लोगों का राज्य स्थापित हुआ। इनकी भाषा और संस्कृति फ्रेंच नोरमन थी। किन्तु डेडसौ वर्षों में ये इङ्गलेंड के एन्गल्स् और सेक्सन्स अर्थात् अंग्रेज लोगों में इतने घुलमिल गये और इनका उनके साथ इतना सम्मिश्रण होगया कि नोरमनफ्रेंच भाषा और संस्कृति बिल्कुल भुलादी गई और इनकी जगह एंगलोसेक्सन भाषा (जिसका विकसित रूप आधुनिक अंग्रेजी भाषा है) और एंगलोसेक्सन रहन सहन इन्होंने ग्रहण की।

हमने देखा कि इङ्गलेंड पर एंगलोसेक्सन, डेन्स नोरमन इत्यादि भिन्न २ जाति के लोगों के आक्रमण हुए, किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वास्तव में इन लोगों में सामाजिक और उपजातिगत (Racial) अन्तर नहीं के बराबर था।

उपरोक्त एंगलोसेक्सन, डेन्स, नोरमन लोग इंगलेंड आये, सैंकड़ों वर्ष साथ रहते रहते एक परम्परा, एक जाति का विकास हुआ। यह जाति अंग्रेज जाति थी। इस जाति के भिन्न भिन्न राज्यवंशों के राजा इङ्गलेंड में राज्य करते रहे। १३वीं

शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक इङ्गलेंड का इतिहास इसी बात का इतिहास है कि राजा बड़ा या प्रजा, राजा बड़ा या प्रजा के प्रतिनिधि बड़े। एंग्लोसेक्सन लोगों के जमाने से देश में यह एक रस्म चली आती थी कि राजा जाति के नेताओं को बिना पूछे कोई नया नियम नहीं बना सकते थे एवं बिना उनकी अनुमति के कोई नया कर भी नहीं लगा सकते थे। १३वीं शताब्दी में इङ्गलेंड का जोन नामक एक शक्तिशाली राजा था। उसने वैरन्स (जो बड़े २ सामन्त होते थे) की अनुमति के बिना नियम बनाने चाहे और कुछ पैसा एकत्रित करना चाहा। बस इसी बात पर झगड़ा होगया। अन्त में राजा को झुकना पड़ा और उसे इतिहास के उस प्रसिद्ध पत्र पर जिसे "मेगनाकार्टा" कहते हैं अपनी स्वीकृति की सील लगानी पड़ी। यह सन् १२१५ की घटना है। इसमें मुख्य बात यही थी कि राजा को भी किसी नियम तोड़ने का अधिकार नहीं है और न उसे बिना कौंसिल की अनुमति के नियम परिवर्तन करने का अधिकार है। यह मेगनाकार्टा इङ्गलेंड का वह प्रसिद्ध कानूनी पत्र है जिससे हमेशा के लिए यह स्थापना सिद्ध हुई कि देश के कानून के परे और ऊपर कोई भी व्यक्ति नहीं—चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा।

१३वीं शताब्दी में इङ्गलेंड के राजा लोग अपनी सलाहकार समिति में बैठने के लिये सामन्तों के अतिरिक्त नगरों के मध्य-वर्गीय व्यापारियों एवं छोटे जागीरदारों के प्रतिनिधियों को भी बुलाने लगे। किन्तु इन लोगों ने सामन्तों से पृथक बैठना ही अधिक अच्छा समझा और इस प्रकार धीरे धीरे राजा की

जो कौंसिल थी और जिसमें केवल बैरन्स (Barons) (बड़े बड़े सामन्त) लोग सम्मिलित होते थे वह पार्लियामेंट (राष्ट्र सभा) के रुप में परिवर्तित हो गई और उस पार्लियामेंट के दो विभाग हो गये। एक (House of Lords) जिसमें बड़े बड़े सामन्त बैठते थे और दूसरा (House of Commons) जिसमें साधारण लोग बैठते थे।

१४९२ में महादेश अमेरिका का पता लग चुका एवं धीरे धीरे अन्य कई छोटे बड़े द्वीपों का भी पता लग गया था। यूरोप निवासी बड़ी बड़ी समुद्र-यात्रायें करने लग गये थे और दूर देशों में उपनिवेश और व्यापार-सम्बन्ध कायम करने लग गये थे; यूरोपीय देशों में इन बातों में होड़ भी होने लगी थी। सन् १५८८ ई. में इंगलेंड के प्रसिद्ध सैनिक सर फ्रांसिस ड्रेकने, जिसने जहाज में दुनिया का चक्कर लगाया था, स्पेनिश जहाजी बेड़े को करारी हार दी और तभी से इंगलेंड समुद्र की रानी बन गया। नौ-शक्ति एवं व्यापारिक वृद्धि के फल-स्वरुप १६-१७वीं शताब्दी में महारानी एलिजाबेथ के राज्य काल में इंगलेंड एक बहुत ही धनिक और समृद्धिशाली देश बन चुका था। इसी जमाने में इंगलेंड का संसार प्रसिद्ध कवि और नाटककार शेक्सपियर हुआ।

उपरोक्त राजा और पार्लियामेंट की लड़ाई चलती रही, राजा को सन् १६२८ ई. में एक "अधिकार पत्र" (Petition

of Rights) पर जिसमें पार्लियामेंट के अधिकार सुरक्षित किये गये थे अपने हस्ताक्षर करने पड़े किन्तु राजा ने इसकी परवाह नहीं की अतएव सन १६२४ ई. में गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ, राजा हारा, ओलिवर क्रोमवेल के नेतृत्व में पार्लियामेंट जीती और इंगलेंड प्रजातन्त्र राज्य घोषित हुआ । राजा चार्ल्स को फांसी दी गई, ओलिवर क्रोमवेल देश का शासक बना । सन् १६५३ से ५८ तक उसका शासन रहा किन्तु अधिक सफल नहीं; अतएव सन् १६६० ई में राज्यशाही की फिर से स्थापना की गई और चार्ल्स द्वितीय को देश का राजा बनाया गया। किन्तु चार्ल्स द्वितीय और उसके बाद जेम्स द्वितीय रोमन केथोलिक मतावलम्बी थे–जब कि प्रजा प्रोटेस्टेंट, और साथ ही ये राजा मनमानी करते थे, पार्लियामेंट के महत्व को स्वीकार नहीं करते थे। फलस्वरुप फिर इंगलेंड में राज्य क्रान्ति हुई (१६८८) जिसे रक्त-हीन क्रान्ति एवं गौरव–पूर्ण राज्य क्रान्ति कहते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति और तैयारी को जानकर जेम्स द्वितीय बिना युद्ध किये गद्दी छोड़कर भाग गया–और पार्लियामेंट ने एक प्रोटेस्टेंट राजा विलियम को गद्दी पर बैठाया । रक्तहीन राज्य-क्रान्ति से इंगलेंड में "राजा के दैवी अधिकार का सिद्धान्त" ख़त्म हुआ, उसके स्थान पर देश में [नियमानुमोदित वैधानिक शासन (Constitutional Knot) की स्थापना हुई। यह स्पष्ट रुप से स्थापित हो गया कि पार्लियामेंट ही देश के

शासन में प्रधान अंग है। विलियम के शासनारूढ़ होने पर पार्लियामेंट ने उससे "अधिकार घोषणापत्र" (Bill of Rights) पर हस्ताक्षर करवा लिये—जिसके अनुसार राज्य का धन, सेना, तथा राजनियम सब पार्लियामेंट के आधीन होगये। पार्लियामेंट की प्रभुता दृढ़ रूप से स्थापित होगई। १६८९ से भिन्न भिन्न राजा राज्य करते रहे—किन्तु सन् १७१४ में हनोवर वंश के राज्य-काल से इङ्गलेंड के इतिहास की गति में आधुनिक नये तत्व पैदा हुए।—१६८८ में पार्लियामेंट का अधिकार स्थापित हो ही चुका था—अतः अब देश के शासन का संचालन राजा द्वारा नहीं किंतु पार्लियामेंट के मन्त्री-मण्डल (Cabinet) द्वारा होता था। शासन प्रबंध सब मंत्री मंडल के हाथ में आगया—राजा का काम परामर्श देना या देश का प्रथम 'व्यक्ति' (Gentleman) का स्थान सुशोभित करना रह गया-तभी से दुनियां के भिन्न भिन्न भागों में अंग्रेजों के उपनिवेश और धीरे धीरे उनका साम्राज्य स्थापित होने लगा। देश में सन् १७५० से यांत्रिक एवं औद्योगिक क्रान्तियां हुईं—जिनने देश को समृद्ध बना दिया—वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास में इंगलेंड यूरोप के सब देशों से आगे रहा; साम्राज्य विस्तार में भी वह प्रथम रहा। सन् १८१५ तक भारत के कुछ भाग, दक्षिण-अफ्रीका, आस्ट्रेलिया का पूर्वी किनारा, एवं कनाडा के कुछ भागों में इंगलेंड के उपनिवेश राज्य थे, सन् १८८० तक सम्पूर्ण भारत, सम्पूर्ण

आस्ट्रेलिया, मिश्र, सूडान, सम्पूर्ण दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलेंड, सम्पूर्ण कनाडा, पच्छिमी द्वीप समूह, एवं अनेक छोटे छोटे टापू, ब्रिटिश साम्राज्य के आधीन होगये १६वीं शताब्दी में सामाजिक सुधार और उत्थान, सामाजिक सुव्यवस्था, वैज्ञानिक उन्नति, व्यक्ति अधिकारों का प्रसार इत्यादि अनेक मानवीय काम हुए। २०वीं शती में इंगलेंड ने दो विश्व-युद्ध लड़े-दोनों में वह जीता-यद्यपि दूसरे युद्ध (१६३९-४५) में उसकी शक्ति का काफी ह्रास हुआ; भारत, मिश्र, बर्मा, लंका स्वतन्त्र हुए। आज समाजवादी मजदूर दलीय सरकार इंगलेंड में स्थापित है।

इटली

सन ४७० ई. में 'इटली-रोम' में प्राचीन रोमन साम्राज्य एवं सभ्यता का अंत हुआ—उत्तर, उत्तर पच्छिम से अपेक्षाकृत असभ्य गोथिक लोगों के आक्रमण हुए—और वे इटली में बस गये। उन्हींके कई सरदारों की इटली में इधर उधर सत्ता कायम हुई-पाँचवीं शती में प्राचीन रोमन साम्राज्य के अन्त-काल से १६वीं शती तक इटली भौगोलिक दृष्टि से तो एक इकाई (एक देश) बना रहा किन्तु राजनैतिक दृष्टि से वह कभी भी एक देश नहीं बन पाया। ५वीं से १६वीं शताब्दी तक मध्य इटली—यथा रोम और आसपास के प्रदेशों में तो रोमन पोप की सत्ता बनी रही,-किंतु उत्तर दक्षिण इटली कई छोटे छोटे राज्यों

में बंटा रहा, जहां बहुधा विदेशी शासक (मुख्यतया आस्ट्रिया के शासक) शासन करते रहे।

५वीं शती से १२वीं शती तक इटली पर प्रायः अन्धकार–मय युग का आवरण छाया रहा। १२वीं शती में उत्तरी इटली में पो नदी के मैदान में जो लोमवार्डी का मैदान कहलाता था, एक विशेष चहल-पहल प्रारम्भ हुई–इस प्रदेश में कई व्यापारिक नगरों का उदय और अभूतपूर्व उत्थान हुआ जिनमें मुख्य थे—वेनिस, जिनोआ, पीसा, पैडुआ, फ्लोरेंस, मिलान इत्यादि। ये नगर उस काल की ज्ञात दुनियां में प्रसिद्ध व्यापारिक और धनी केन्द्र बन गये।—पूर्वीय देशों का जैसे फारस, अरब, मिश्र, भारत और पच्छिमी यूरोप का समस्त व्यापार इन्हीं नगरों के द्वारा होता था। इन नगरों में स्वतन्त्र अपने अपने गण-राज्य या व्यापारिक राजाओं के राज्य स्थापित होगये—जहां कला-कौशल, ज्ञान विज्ञान की भी खूब उन्नति हुई–मानो वे प्राचीन रोमन सभ्यता के नगर राज्यों की पुनरावृत्ति कर रहे हों। १५वीं शती तक इन नगर राज्यों की खूब उन्नति हुई—जब नये सामुद्रिक मार्गों और नये देशों की खोज से पूर्व और पच्छिम का व्यापार अन्य राष्ट्रों जैसे स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि के हाथ में चला गया—और इन नगरों की समृद्धि और इनका महत्व लुप्त होने लगा। कुछ काल तक इन राज्यों की परम्परा चलती रही—नाम मात्र ये राज्य चलते रहे, अन्त में १८वीं शती के उत्तरार्ध में नेपोलियन

ने इनको समाप्त किया। नेपोलियन की पराजय के बाद सन् १८१५ में वियेना की कांग्रेस में इटली कई राजनैतिक भागों में विभक्त होगया—उत्तर में लोम्बार्डी और विनेशिया के प्रदेशों में आस्ट्रिया का आधिपत्य स्थापित हुआ—वस्तुतः समस्त प्रायद्वीप पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व रहा; मध्य भाग में रोम नगर के चारों तरफ पोप का राज्य रहा; कई छोटी छोटी डचीज कायम हुई जो आस्ट्रिया के प्रभुत्व में थी; सार्डेनिया और उत्तर पच्छिम इटली में देशवासी सार्डेनिया के राजा का राज्य स्थापित हुआ, और दक्षिण इटली और सिसली में दो अलग राज्य स्थापित हुए। मतलब यह है कि इटली में कोई राजनैतिक एकता न थी, भौगौलिक एकता चाहे हो। १९वीं शती में इटली में, वहां के देश भक्त महान् व्यक्तियों-गैरीबाल्डी और मैजिनी के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम चले, और एक तीव्र आन्दोलन चला कि इटली के भिन्न भिन्न राज्य मिलकर एक संगठित राज्य कायम हों। ये आन्दोलन सफल हुए; सन् १८७० ई. में सार्डिनिया के इटालियन राजा के आधीन इटली का एकीकरण हुआ, और एक स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ—वैधानिक राजतन्त्र। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद इटली में राजतंत्र खत्म किया गया और वहां जनतंत्र गणराज्य स्थापित हुआ। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के पूर्व मुसोलिनी की एकतन्त्रीय तानाशाही कुछ वर्षों तक कायम रही, किन्तु युद्ध में

वह खत्म हुई और आज इटली एक गणराज्य है।

होलैंड (नीदरलैंड) और बैलजियम

जिस प्रकार यूरोप के अन्य भागों में ५-६ शताब्दियों में नोर्डिक आर्य-लोगों की भिन्न भिन्न शाखाओं के लोग बस गये थे उसी प्रकार होलैंड, बैलजियम में भी वे बस गये थे। कई शताब्दियों तक ये प्रदेश फ्रान्स या बरगेंडी के ड्यूक या स्पेन के शासक हेब्स-बर्ग वंश के आधीन रहे। १६ वीं शती में ये प्रदेश स्पेन के हेब्स-बर्ग सम्राट फिलिप द्वितीय के आधीन थे। फिलिप द्वितीय कट्टर रोमन कैथोलिक था, किन्तु ये प्रदेश धार्मिक सुधार की लहर में प्रोटेस्टेन्ट बन गये थे। फिलिप ने इस नये धर्म को इन प्रदेशों से उखाड़ फेंकना चाहा, फलतः उसके विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिये विद्रोह होगया। ४० वर्ष तक यह कठिन स्वतन्त्रता संग्राम होता रहा; १५७६ ई. में इन प्रदेशों का उत्तरीय भाग (अर्थात् डच, होलेंड) तो स्वतन्त्र हो गया और १६४८ ई. की वेस्ट-फेलिया की संधि के अनुसार यह एक स्वतन्त्र राज्य मान्य भी कर लिया गया, किन्तु दक्षिणी भाग बैलजियम स्पेन के सम्राट के आधीन रहा। यह हालत नेपोलि-यन काल तक चलती रही जब १६ वीं शती के प्रारम्भ में नेपोलियन ने इन प्रदेशों को फ्रेन्च साम्राज्य का अंग बनाया। १८१५ में नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोपीय राष्ट्रों की

वियेना कांग्रेस की संधि के अनुसार होलेंड और बेलजियम दोनों को मिलाकर एक अलग नींदरलेंड राज्य कायम किया गया। सन् १८३६ ई. में बेलजियम परस्पर एक सन्धि के अनुसार होलेंड से पृथक होगया।

डेनमार्क, नोर्वे और स्वीडन

नोर्समैन नोर्डिक उपजाति के ही लोग थे जो ५–६ शताब्दियों में डेनमार्क, नोर्वे, स्वीडन इत्यादि उत्तरी प्रदेशों में बसे हुए थे। इन लोगों ने इन प्रदेशों में अपने स्वतन्त्र राज्य कायम किये। ऐसा अनुमान है कि लगभग दसवीं शती तक नोर्वे के छोटे छोटे ठिकाने मिलकर एक राजा के आधीन एक राज्य बन गये थे। ऐसी ही प्रगति स्वीडन और डेनमार्क में भी हुई होगी। ११वीं शती तक यहां के सब लोग ईसाई बन चुके थे। ११वीं शताब्दी में डेनमार्क का राजा कन्यूट महान् नोर्वे, इङ्गलैंड, स्वीडन के दक्षिणी भाग का भी राजा था। सन् १३६७ ई. में नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क राज्यों को मिलाकर डेनमार्क राजा के नेतृत्व में एक संघ बना था जिसका नाम कलमर संघ था। सन् १५२२ ई. में स्वीडन ने तो इस संघ से पृथक होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया किन्तु नोर्वे लगभग ४०० वर्ष तक डेनमार्क राज्य का ही अंग बना रहा। सन् १८१५ में नेपोलियन युद्धों के बाद यूरोप के राष्ट्रों की वियेना कांग्रेस में निर्णित प्रबंध

के अनुसार नोर्वे डेनमार्क से पृथक कर दिया गया और स्वीडन राज्य में मिला दिया गया। किन्तु नोर्वे के लोग इस व्यवस्था का विरोध करते रहे और अन्त में सन् १६०५ में वे स्वीडन से पृथक हुए और उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क—इन तीनों राज्यों में आज वैधानिक राजतन्त्र स्थापित है—और तीनों देश बहुत ही उन्नत, संस्कृत और समृद्धिवान हैं।

रूस

नोर्डिक लोगों के भिन्न भिन्न कबीलों के लोगों ने पांचवीं छठी शताब्दियों में यूरोप में फैलकर रोमन साम्राज्य का अन्त किया था। इन्हीं लोगों की एक जाति के लोग नोर्स-मन आठवीं, नवीं शताब्दियों में रूस की तरफ बढे और उन्होंने दो नगर उपनिवेश बसाये–उत्तर में नोवगोरोड और दक्षिण में कीव। साथ ही साथ नोर्डिक लोगों की एक अन्य जाति के लोग जो स्लैव कहलाते थे, यूरोप के पूर्वीय भागों में फैल चुके थे। उन स्लैव लोगों के भी छोटे छोटे जमीदारी राज्य स्थापित हो गये थे। इनमें प्रमुख जमींदारी राज्य 'मास्को' था। १०वीं शताब्दी तक ये सब लोग ईसाई बन चुके थे। १३–१४ वीं शताब्दियों में पूर्व से मंगोल लोगों के आक्रमण हुए और रूस पर (विशेषतया पूर्वी रूस पर) उनका आधिपत्य स्थापित हो गया। उनके आधीन

भी ईसाई स्लैव लोगों की डचीज (सरदारी राज्य) चलती रहीं, और वे मंगोल सम्राट को कर अदा करते रहे। १५वीं शताब्दी में मास्को का महान् ड्यूक आइवन तृतीय (१४६२-१५०५ ई.) हुआ जिसने मंगोल सम्राट की अधीनता उतार फेंकी, और साथ ही साथ पूर्व में अपने राज्य का विस्तार किया और पच्छिम में नोवगोरोड और 'कीव' के प्रजातन्त्र राज्य भी अपने राज्य में सम्मिलित किये। इस प्रकार उसने यूरोप में रूस की नींव डाली। मास्को के शासक ज़ार (सम्राट) कहलाने लगे। सन् १६८२ ई. में पीटर महान् (१६८२-१७२५) रूस का शासक बना। उस समय तक रूस बिल्कुल एक अविकसित देश था—उस पर मध्य-युगीय एशियाई प्रभाव अधिक और आधुनिक पच्छिमी प्रभाव कम। किंतु, पीटर ने रूस का पच्छिमीकरण किया और १८वीं शताब्दी में रूस यूरोप का एक आधुनिक राष्ट्र बन गया। तभी से धीरे धीरे उसका विस्तार पूर्व की ओर होने लगा; १६वीं शती में वह एशिया के समस्त भूभाग साईबेरिया का अधिपति हो गया-पूर्व में प्रशान्त महासागर तक वह फैल गया। १६वीं शती के उत्तरार्ध में रूस का ज़ार एक विशाल साम्राज्य का शासक था। २०वीं शती में १६१७ में वहां साम्यवादी क्रान्ति हुई, और तब से आज तक वहां साम्यवादी एकतन्त्र कायम है।

स्पेन और पुर्तगाल

पांचवीं छठी शताब्दी में उत्तर से नोर्डिक उपजाति के

गोथ लोग यूरोप के अन्य भागों की तरह स्पेन में भी धीरे धीरे बस रहे थे। ७वीं शताब्दी में इस प्रायद्वीप में अरब लोगों के हमले होने लगे। ८वीं शताब्दी तक उत्तर-पूर्व के एक छोटे से ईसाई राज्य को छोड़कर बाकी का समस्त प्रायद्वीप अरबों के आधीन था। १२वीं शती में जब पेलेस्टाइन में धार्मिक-युद्ध (Crusades) लड़े जा रहे थे उस समय ईसाई योद्धा स्पेन के भी उत्तर पच्छिम के छोटे से ईसाई राज्यों लीओन, और केरिटल की मदद के लिये, अरब लोगों को स्पेन से हटा देने के लिये, आते थे। धीरे धीरे ईसाई राज्य बढ़ रहे थे और अरब अधिकार क्षीण होजाता था। १०९५ ई. में एक धार्मिक ईसाई योद्धा हेनरी ने ओपार्टो नगर के आसपास भूमि में स्वतन्त्र पुर्तगाल राज्य कायम किये। १३वीं १४वीं शताब्दी में अरब लोग दक्षिण की तरफ ढ़केल दिये गये और स्पेन के अब दो प्रमुख ईसाई राज्य केसटाइल और एरागन अपना विस्तार करते रहे। सन् १४९२ ई. में अरब लोगों को स्पेन से सर्वथा निकाल दिया गया; और केसटाइल और एरागन के दोनों ईसाई राज्यों ने मिल कर एक स्पेनिश राज्य कायम किया इस प्रकार १५वीं शताब्दी में उस स्पेन राज्य का उदय हुआ जैसा आज हम उसे जानते हैं।

आस्ट्रिया

आस्ट्रिया प्रदेश के लोग अधिकतर जर्मन भाषा-भाषी हैं;-जर्मन नोर्डिक उपजाति के ये लोग हैं। सन् १८०६ तक

आस्ट्रिया पवित्र रोमन साम्राज्य का एक राज्य रहा । सन् १४३८ ई. से आस्ट्रिया के हेब्सबर्ग वंश के शासक ही पवित्र साम्राज्य के सम्राट चुने जाते रहे। १८०६ ई. में इन प्रदेशों में नेपोलियन की विजय के फलस्वरुप पवित्र रोमन साम्राज्य खत्म हुआ; आस्ट्रिया के शासक ने पवित्र साम्राज्य के सम्राट की अपनी उपाधि त्याग दी, तब से आस्ट्रिया का अपना एक अलग राज्य कायम रहा । उस समय उस राज्य में हंगरी के सब प्रदेश एवं इटली के उत्तरीय प्रदेश भी सम्मिलित थे । इटली के प्रदेश तो १८६६ ई. में स्वतन्त्र हो गये । हंगरी १६१६ ई. में अलग एक राज्य कायम हो गया । तब से प्राचीन विशाल आस्ट्रिया का हेब्स-बर्ग राज्य एक छोटा सा राज्य रह गया । द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) के बाद आज सन् १६५० में आस्ट्रिया पर अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्राँस एवं रूस का सैनिक शासन है।

हंगरी

आधुनिक हंगेरियन लोग पुरानी मग्यर जाति के लोग हैं । मग्यर जाति मंगोल–तुर्की उपजाति की एक शाखा थी–और ये लोग यूराल-आल्टिक (मंगोल) भाषा परिवार की एक भाषा बोलते थे। मध्य एशिया से चलते हुए लगभग ५०० ई. में यूरोप के पूर्व में वोल्गा नदी के आसपास इन लोगों की हलचल प्रारंभ हो गई थी एवं धीरे धीरे ६०० ई. तक हंगरी में स्थायी रुप से

बस गये थे। १००० ई. तक ये सब ईसाई बन चुके थे। अब भी ये अपनी पुरानी मंगोल-तुर्की भाषा ही बोलते हैं। हंगरी के अतिरिक्त एक और देश फिनलैंड को छोड़कर जहां पर भी पुरानी टर्की-फिनिश भाषा बोली जाती है, यूरोप के अन्य समस्त देशों में आर्यन-परिवार की भाषायें प्रचलित हैं।

हंगेरियन लोग स्वतन्त्र कई शताब्दियों से बसते रहे होंगे। १५वीं शताब्दी में उसमान तुर्क लोगों के हंगेरियन प्रदेशों पर हमले होने लगे, और हंगरी के अधिकतर प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अंतर्गत हो गये १८वीं शती के प्रारम्भ में प्रायः सारा का सारा हंगेरियन प्रदेश पवित्र रोमन साम्राज्य के एक राज्य आस्ट्रिया के हेब्स बर्ग सम्राट ने जीत लिया, और हंगरी आस्ट्रियन राज्य का एक अंग बन गया। प्रथम महायुद्ध के अंत तक हंगेरियन प्रदेश आस्ट्रिया का अंग रहा। महायुद्ध में आस्ट्रिया की पराजय के बाद आस्ट्रियन साम्राज्य को विछिन्न कर दिया गया और हंगरी पृथक एक स्वतन्त्र राज्य कायम कर दिया गया। यूरोप में वस्तुतः हंगरी राज्य की स्वतन्त्र सत्ता प्रथम महायुद्ध के बाद सन १९१९ से ही है।

जेकोस्लोवेकिया

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया की पराजय के बाद, जब आस्ट्रिया के हेब्स-बर्ग साम्राज्य को विछिन्न कर हंगरी

अलग एक राज्य कायम किया गया, तभी आस्ट्रियन साम्राज्य के उत्तरी प्रदेशों को जिनमें अधिकतर स्लैव जाति के लोग बसे थे पृथक कर जेकोस्लोवेकिया एक नया राज्य कायम कर दिया गया।

पोलेंड

जब नोर्डिक स्लैव जाति के लोग पूर्व यूरोप में मास्को के जमींदारी राज्य में संगठित हो रहे थे प्रायः उसी समय १०वीं ११वीं शताब्दियों में स्लैव जाति के एक दूसरे लोग जो पोल कहलाते थे यूरोप के उस भू-भाग में संगठित हो रहे थे जो आज पोलेंड कहलाता है। १६वीं १७वीं शताब्दियों में मध्य यूरोप में पोल लोगों का राज्य काफी विस्तृत था किन्तु इन पोल लोगों के राज्य में कोई एक सुसंगठित केन्द्रीय शक्ति नहीं थी अतः आस्ट्रिया प्रशा आदि सुसंगठित राज्यों की निगाह पोलेंड पर बनी रहती थी। आस्ट्रिया प्रशा अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे और अन्यत्र कहीं अवसर न पाकर पोलेंड के ही भू-भाग धीरे धीरे अपने राज्यों में मिला रहे थे। सन् १७७२, सन् १६६३, सन् १७६५ में पोलेंड का ३ बार विच्छेदन हुआ यहां तक कि सन् १७६५ में पोलेंड यूरोप के पर्दे पर से सर्वथा मिट गया। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक पोलेंड विलीन रहा। सन् १६१६ की वरसाई सन्धि में फिर से पोलेंड पृथक एक स्वतन्त्र जनतन्त्र

राज्य कायम किया गया द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) में जर्मनी द्वारा फिर पोलेंड खत्म किया गया किन्तु सन् १९४५ में जर्मनी की पराजय के बाद पोलेंड फिर एक स्वतन्त्र राज्य बना। सन् १९४७ में रुस का प्रभाव पोलेंड पर बढ़ने लगा और आज पोलेंड में रुस द्वारा अनुमोदित साम्यवादी सरकार कायम है।

टर्की

पच्छिमी एशिया--विशेषतः एशिया माइनर, टर्की, इराक, सीरिया, फलस्तीन आदि प्रदेशों में लगभग १२वीं शती में सेल-जुक तुर्क लोगों के साम्राज्य के पतन के बाद तुर्कों की एक अन्य जाति-के लोगों की—उस्मान तुर्कों की सत्ता स्थापित हुई। १४ वीं शती के मध्य में ये लोग डार्डनीलीज़ मुहाना पार कर गये और यूरोप में उन्होनें पैर जा जमाया। इस समय बाल्कान प्रायद्वीप में पूर्वीय पवित्र रोमन साम्राज्य शक्तिहीन था। तुर्क लोग आगे बढ़ते गये, १४ वीं शती के अंत होते होते उन्होंने कस्तुनतुनिया को छोड़ समस्त बाल्कन प्रायद्वीप अपने आधीन कर लिया।-सन् १४५३ ई. में कस्तुनतुनिया का भी पतन हो गया और इस प्रकार यूरोप में पवित्र रोमन साम्राज्य का अंत हुआ। सन् १५२० ई. में टर्की साम्राज्य का विस्तार यूरोप में समस्त बाल्कन प्रायद्वीप तक एवं एशिया में ईरान, सीरीया, मिश्र, एशिया माइनर और ईराक तक था–इस साम्राज्य का

शासक था सुल्तान सुलेमान "शानदार" (१५२०-६६ ई.) इस सुल्तान के शासन-काल में टर्की अपनी उन्नति की उच्चत्तम शिखर पर था। तुर्की सुल्तानों ने भूमध्यसागर और यूरोप की तरफ और भी बढ़ने के प्रयत्न किये किन्तु सन् १५७१ में वेनिस, आस्ट्रिया, एवं स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेड़ों ने टर्की जहाजी बेड़े को लेपान्तो में परास्त किया। यह वही युद्ध था जिसमें डोन क्विक्सोट के लेखक सरवेन्टीज ने भाग लिया था-जिसके विषय में उसने कहा था-"ईसाई साम्राज्य ने उस्मान तुर्की का मद-चूर कर दिया है"। वस्तुत तभी से यूरोप में जिधर उस्मानी तुर्क तीव्र गति से बढ़ रहे थे और ऐसी कल्पना की जाने लगी थी कि वे समस्त यूरोप को पदाक्रांन्त कर डालेंगे टर्की की प्रगति रुक गई, और धीरे धीरे वहां टर्की साम्राज्य का ह्रास होनें लगा। १७ वीं शती के उत्तरार्ध में एक बार फिर टर्की शक्ति का उत्थान हुआ और उस्मानी तुर्क लोग यूरोप में बढ़ते बढ़ते वियना तक जा पहुँचे। उनकी शक्ति को रोकने के लिये आस्ट्रिया-वेनिस और पोलेंड के राज्यों का रोम के पोप की सरंक्षता में एक पवित्र संघ (होली लीग) बना और इस संघ ने टर्की का विरोध किया। बाद में उत्तर से रूस के पीटर महान् ने भी टर्की साम्राज्य पर हमला कर दिया। अन्त में सन् १६६६ ई. परे टर्की को (Carlo) की संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े जिसके अनुसार टर्की का अपने साम्राज्य के कई भागों से विच्छेद हो

गया। टर्की साम्राज्य का अंग हंगरी आस्ट्रिया को मिला और कुछ नगर रूस, पोलेंड व वेनिस को मिले। इस संन्धि काल के बाद से यूरोप में टर्की का प्रभाव निश्चित रूप से समाप्त होता है और टर्की साम्राज्य का पतन शुरू होता है १९ वीं शती के प्रारम्भ तक तो प्रायः समस्त वाल्कन प्रायद्वीप पर टर्की राज्य कायम था किंतु वाद में टर्की साम्राज्य के भिन्न भिन्न जातियों के लोग जैसे स्लैव, बुलगेरियन, सर्व और ग्रीक साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। और २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते होते कोन्सटेंटिननोपल नगर और समीपस्थ भूमि को छोड़कर टर्की का यूरोप में कुछ नहीं रहा। प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८) में यह भाग भी खत्म हो जाता किन्तु टर्की के एक प्रसिद्ध योद्धा मुस्तफा कमालपाशा ने बचाये रक्खा। आज यूरोप में प्राचीन विशाल टर्की साम्राज्य केवल कोन्सटेंटिननोपल और आस-पास की थोड़ी भूमि तक ही सीमित है। आज टर्की एक जनतन्त्र राज्य है।

बाल्कन प्रायद्वीप के देश

१३वीं १४वीं शताब्दी तक तो ये पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अंग रहे। १४वीं शताब्दी के अंत में और १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उस्मान तुर्क लोग उधर आने लगे। १४५३ तक समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर उन्होंने अपना राज्य कायम कर लिया।

१६वीं शती में टर्की साम्राज्य विछिन्न होने लगा। १८६३ ई. में ग्रीस जिसने १८२१ से १८२६ तक स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी, एक स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ। १८६१ में रुमानिया, १८८२ में सरबिया (यूगोस्लोविया) १८७८ में बलगेरिया और सन् १६१२ में अलबेनिया स्वतन्त्र राज्य कायम हुए।

फिनलेन्ड, अस्टोनियां, लेटविया, लिथूनिया
(१६१९-४५)

प्रथम महायुद्ध के बाद बाल्टिक सागर के किनारे ये छोटे छोटे ४ देश रुसी साम्राज्य से पृथक कर अलग राज्यों के रुप में कायम किये गये। द्वितीय महायुद्ध के बाद फिनलेन्ड तो अलग स्वतन्त्र राज्य रहा किन्तु अन्य ३ राज्यसोवियट रुस में सम्मिलित होगये।

आयरलैंड

नोर्डिक उपजाति के केल्ट लोग ईसा की पांचवी छठी शताब्दियों के पहिले ही आयरलेन्ड में बस गये थे। उस समय नोर्डिक उपजाति की अन्य जातियाँ जैसे ट्यूटन, गोथ इत्यादि यूरोप के अन्य भागों में बस रहीं थी। १२वीं शताब्दी में अंग्रेज लोगों ने इस द्वीप पर हमला करना शूरु किया। पहला हमला ११५४ में हुआ। धीरे धीरे वे आयरलेंड की भूमि को जीतने लगे, और वहाँ बसने लगे। १७वीं शताब्दी तक एक छोटे से पच्छिमी

भाग को छोड़कर सर्वत्र अंग्रेज लोग बस गये थे। वहाँ इङ्गलेंड का राज्य कायम हुआ। १८वीं १६वीं शताब्दियों में आइरिश लोगों में स्वतन्त्रता की लहर चली। कई विद्रोह हुए और अंत में सन् १६२६ में आयरलेंड के एक छोटे से उत्तरी भाग अस्टर को छोड़कर एक स्वतन्त्र आयरलेंड राज्य की स्थापना हुई। आयरलेंड के आइरिश लोग रोमन-केथोलिक ईसाई हैं। अंग्रेजी से मिलती जुलती आइरिश भाषा बोलते हैं। अस्टर के लोग प्रोटेस्टेंन्ट हैं।

स्वीटजरलेन्ड

वे पहाड़ी प्रदेश जो आज स्वीटजरलेंड हैं, यूरोप में नोर्डिक लोगों के बस जाने के बाद ६वीं शताब्दी में स्थापित पवित्र साम्राज्य के अंग थे। १२६१ ई. में आल्प पहाड़ी प्रदेशों में स्थित ३ छोटे छोटे प्रदेशों ने मिलकर सम्राट के विरुद्ध विद्रोह किया, और उन्होंने एक स्वतन्त्र लीग (स्विस संघ) स्थापित की। धीरे धीरे इस लीग में और छोटे छोटे प्रदेश मिलते गये, १६वीं शताब्दी के आते आते इसका विस्तार उतना ही होगया जितना आज स्वीटजरलेन्ड का है। सन् १६४८ ई. में वेस्ट-फेलिया की सन्धि के अनुसार यूरोप के राज्यों ने स्वीटजरलेन्ड की स्वतन्त्रता मान्य करली। स्वीटजरलेंड के स्विस लोग कोई एक उपजाति नहीं है, वे तो आसपास के देशों के यथा इटली,

फ्रांस, और जर्मनी के लोग हैं जो अलग अलग जाति के होते हुए भी मध्य युग से एक स्वतन्त्र, सभ्य, विकसित और स्थायी गण राज्य बनाये हुए हैं।

—:o:—

४७

आधुनिक चीन

६. चीन का यूरोप से सम्पर्क (१६४४ से १९११)

सन् १६४४ में फिर चीन के राज्य वंश ने पलटा खाया। चीन के उत्तर में जहां आजकल मंचूरिया है मंगोल और चीनी मिश्रित एक नई जाति का उदय हुआ जिसके लोग अपने आप को मंचू कहते थे। इन लोगों ने चीन पर आक्रमण किया, मिंग सम्राटों को परास्त किया और सन् १६४४ में चीन में मंचू राज्य-वंश की स्थापना की। एक दृष्टि से तो ये लोग विजातीय और विदेशी थे किन्तु इन लोगों ने देश की शासन प्रणाली, देश के राज्य कर्मचारी-गण इत्यादि में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। देश का शासन और जीवन पूर्ववत कायम रक्खा गया। किन्तु एक बात मंचू शासकों ने चीनी लोगों पर लादी। वह यह कि मंचू लोगों ने जो स्वयं सिर पर एक लम्बी चोटी रखते थे

चीनीयों को भी विवश किया कि वे सिर पर लम्बी चोटी (Hig-tail) रक्खें। मंचु राज्य-वंश का जो चिन वंश भी कहलाता है सबसे प्रसिद्ध सम्राट "काँग-ही" हुआ, जिसने सन् १६६१ से १७२२ ई. तक ६१ वर्ष के एक लम्बे अर्से तक राज्य किया। यह सम्राट फ्रान्स के सम्राट लुई चौहदवें का समकालीन था जिसने फ्रान्स में भी ७२ वर्ष के लम्बे अर्से तक राज्य किया। काँग ही के राज्य काल में ३ बहुत बड़े सांस्कृतिक कार्य हुए। (१) उसने चीनी भाषा का एक बहुत बड़ा शब्द-कोष संग्रह करवाया। (२) समस्त ज्ञान विज्ञान का एक सचित्र ज्ञान-कोष (Encyclopedea) संग्रहित करवाया। यह ज्ञान कोष अपने आप में मानो एक पुस्तकालय के समान था, इसकी सौ जिल्दें (Volumes) थीं। (३) उसने समस्त चीन साहित्य में प्रयुक्त शब्दों और कहावतों का एक संग्रह तैयार करवाया। इस संग्रह में कवियों, इतिहासज्ञों एवं निबन्ध-लेखकों के तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किये गये। इसके काल में अनेक यूरोपीय व्यापारी एवं ईसाई पादरी चीन में व्यापार करने और अपने धर्म का प्रचार करने के हेतु से आये। चीनी सम्राट काँग-ही ने इन ईसाई-पादरी और व्यापारी लोगों की चहल-पहल और इनके कार्यों का परिचय पाने के लिए अपना एक उच्च कर्मचारी नियुक्त किया। इस कर्मचारी की रिपोर्ट पर से सम्राट ने यही निश्चय किया कि चीन को विदेशियों और विधर्मियों के

चंगुल से बचाने के लिए यही उचित है कि उनके व्यापार और पादरियों को देश में नहीं फैलने दिया जाए। किन्तु उत्तर में रूस का यूरोपीय राज्य पूर्व की ओर बढ़ रहा था और रूस के सम्राट पीटर-महान् के समय से एशियाई--साइबेरिया उसके आधीन था। चीनी लोगों से भी पेकिंग के उत्तर में अमूर नदी की घाटी में इन रूसी लोगों की मुठभेड़ हुई जिसमें रूसी लोग हार गये और सन् १६७६ ई. में दोनों देशों में एक संधि हुई जिसके अनुसार चीन और साईबेरिया की सरहद का निर्णय कर लिया गया और दोनों देशों में एक व्यापारिक समझौता भी हो गया। किसी यूरोपीय राष्ट्र के साथ चीन का यह प्रथम राजनैतिक संबन्ध था।

मंचु वंश का दूसरा सबसे बड़ा सम्राट चीन-लुंग हुआ जिसने सन् १७३६ से १७६६ तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में दो महान कार्य हुए:- १. साहित्यिक कार्य—इस सम्राट ने समस्त जानने योग्य साहित्यिक कृतियों की एक विषद् सूची तैयार करवाई। इस सूची में केवल पुस्तकों का नाम ही संग्रहित नहीं था परन्तु प्रत्येक पुस्तक का परिचयात्मक वर्णन भी। अपनी प्रकार का यह एक अनोखा ही काम था। इसी काल में चीनी उपन्यास, गल्प और नाटक साहित्य का उद्भव विकास हुआ, और अनेक उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएं प्रकाश में

आई। कलापूर्ण मिट्टी के बर्तनों का एवं अन्य कलात्मक उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात् यूरोपीय देशों में बहुत बढ़ा। इङ्गलैण्ड के साथ वैसे तो चाय का व्यापार मंचु राज्य-काल के प्रारम्भ में ही होने लगा था किन्तु चीन-लुंग के राज्य-काल में इस व्यापार में बहुत वृद्धि हुई। चीन-लुंग ने अपने राज्य का भी बहुत विस्तार किया। उसके साम्राज्य में मंचुरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान सभी प्रदेश शामिल थे जिन पर सीधा केन्द्रीय शासन था। यद्यपि चीनी सम्राटों की यह नीति बनी रही कि यूरोपीय देशों के सम्पर्क से वे दूर ही रहे तथापि यूरोपीय देशों में एक यान्त्रिक और औद्योगिक क्रान्ति हो रही थी, उनकी शक्ति का विकास हो रहा था और उनको इस बात की आवश्यकता थी कि उनके यन्त्रों से बने हुए माल की बिक्री के लिये उनको कहीं बाजार हासिल हों, अतएव जबरदस्ती चीन से अपने सम्पर्क बढ़ाने के प्रयत्न उन्होंने जारी ही रक्खे।

यूरोप से सम्पर्क की कहानीः-संसार प्रसिद्ध यात्री मार्को-पोलो १३वीं शताब्दी के आरम्भ में चीन में आया था। वह २० वर्ष से भी अधिक चीन में तत्कालीन यू-आन वंश के सम्राट की नौकरी में रहा। सन् १५८० में एक अन्य इटालियन यात्री पादरी मेटीओरीसाई (Matteo-Ricci) चीन में आया था जिसने चीन की राजधानी पेकिंग में सर्व-प्रथम रोमन-

केथोलिक गिरजा बनाया एवं गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की कई पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। फिर धीरे धीरे यूरोप के देशों ने १७वीं और १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन से व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाये। यूरोपीय लोग पहिले तो ईसाई धर्म सिखाने आये, फिर व्यापारी के रुप में आये और फिर व्यापार और साम्राज्य के लोभ में विजेता के रुप में। यह सब देखकर मंचू सम्राट ने १८वीं सदी के मध्य में यूरोपवासियों के लिये चीन का द्वार बन्द कर दिया। किन्तु जबरदस्ती वे आते रहे, मंचु राजाओं से अनेक युद्ध हुए, इनके फलस्वरुप यूरोपियन लोगों को व्यापार के लिये अनेक रिआयतें मिली, कई बन्दरगाह और भूमि-खण्ड मिले। अंग्रेज व्यापारियों ने भारत से जहाज के जहाज अफीम भरकर चीन में लाना प्रारम्भ किया। चीन में कुछ लोग तो अफीम पहिले से ही खाते या पीते थे, अब यह व्यसन और भी अधिक बढ़ गया। चीनी राज्य ने अनेक प्रयत्न किये कि लोग इस व्यसन में न पड़ें किन्तु कुछ न हो सका। चीनी राज्य ने अंग्रेज व्यापारियों को भी अफीम का व्यापार बन्द करने के लिये कहा किंतु वे न माने। अन्त में सन् १८३९ ई. में चीन और इङ्गलैण्ड के बीच युद्ध हुआ जिसे "अफीम युद्ध" कहते हैं। तीन वर्ष तक यह युद्ध होता रहा, अन्त में चीन की हार हुई। इस युद्ध के बाद विदेशियों के लिये चीन का दरवाजा जो १८वीं शताब्दी के मध्य से प्रायः बन्द था,

खुल गया। इसी वर्ष अर्थात् सन् १८४२ से चीन आधुनिक अन्तर-राष्ट्रीय दुनियां की चहल-पहल का एक अंग बन गया। प्रसिद्ध नगर और बन्दरगाह शांघाई, हौंग-कांग एवं अन्य कई बस्तियाँ यूरोपियन लोगों के आधीन हो गईं। देश के अन्तरंग भाग में कई स्थानों पर इन्होंने अपने बड़े बड़े औद्योगिक कारखाने खोले। ईसाई पादरियों ने अनेक स्थलों पर आधुनिक कालेज खोले जिनमें पश्चात्य प्रणाली से अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी। सैंकड़ों चीनी नवयुवक पाश्चात्य देशों में शिक्षा पाने गये विशेषतया इङ्गलैण्ड, फ्रान्स और अमेरिका में जहां आधुनिक विचार-धारा से उनका सम्पर्क हुआ और उनमें राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। इस समय चीन में ऐसी स्थिति थी कि मंचू राज्य-वंश के सम्राट का राज्य केवल नाम-मात्र था, चीन के समस्त मुख्य व्यापार और उद्योग पर यूरोपियन लोगों का आधिपत्य था। इस आर्थिक आधिपत्यका प्रभाव राजनैतिक शक्ति संचालन पर पड़ना अवश्यंभावी था। ऐसा लगता था मानों चीन के समस्त सामुद्रिक तट और मुख्य भूमि पर भी पाश्चात्य लोगों का आधिपत्य हो।

७. नव उत्थान काल–(जनतंत्र की स्थापना से आजतक १६१२-१९५०) बीसवीं सदी के आरंभ में चीन में तीन शक्तियां काम कर रही थीं। (१) यूरोपीय लोगों का आर्थिक

आधिपत्य। (२) वैधानिक दृष्टि से समस्त चीन पर मंचू सम्राट का शासन। यह शासन बिल्कुल ढ़ीला पड़गया था। चीनी साम्राज्य के अंतर्गत भिन्न भिन्न प्रांतों के शासक अपने आपको सर्वथा स्वतंत्र मानने लगगये थे और अपने अपने प्रांतों में मनमाना शासन करते थे। इन प्रांतीय शासकों की शक्ति भी कोई कम नहीं थी। देश इस प्रकार छिन्न-भिन्न अवस्था में था; किन्तु सम्राट तो बना हुआ ही था। (३) उपरोक्त प्रान्तीय शासकों (War Lords) की शक्ति जिनमें राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था।–ऐसी परिस्थितियों में चीन के प्रसिद्ध नेता डा. सनयातसन के नेतृत्व में एक राष्ट्रवादी संगठन का उदय हुआ जो कोमिंटांग (चीनी राष्ट्रवादी दल) के नाम से प्रसिद्ध था। इस दल के सदस्य चीन के शिक्षित अनेक नवयुवक थे। कारखानों में काम करने वाले मजदूर एवं मध्यवर्ग के लोग भी इसमें सम्मिलित थे। डा. सनयातसन ने शुद्ध राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित होकर यह कल्पना की कि चीन में जन साधारण के कल्याण के लिये एक स्वतंत्र जनतंत्र (Republic) राज्य की स्थापना हो, चीन के समस्त प्रांत एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन के अंतर्गत हो, एवं देश के समस्त निवासियों को काम और जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध हों। डा. सनयातसन के नेतृत्व में देशव्यापी एक आंदोलन प्रारंभ हुआ, कोमिंटांग दल ने एक राष्ट्रीय सेना का संगठन किया और उसकी सहायता से पहिले तो चीन में

स्थित यूरोपीयन लोगों की शक्ति का अंत किया गया और फिर १९११ में मंचु वंश के अंतिम सम्राट का अंत करके चीन की राजधानी पेकिंग में स्वतंत्र चीन जनतंत्र की घोषणा की। चीन जनतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति डा. सनयातसन स्वयं चुना गया। डा. सनयातसन के मुख्य सहयोगियों में चांगकाईशेक था जिसने कोमिंटांग के आधीन राष्ट्रीय सेना का संचालन किया था। सन् १९२५ में डा. सनयातसन की मृत्यु हुई, और चांगकाईशेक चीन का राष्ट्रपति बना। डा. सन के उपरोक्त तीन आदर्शों में से एक आदर्श की (यथा-चीन में जनतंत्र स्थापित हो) तो प्राप्ति होगई, किंतु शेष दो काम, अर्थात् प्रान्तीय शासकों का अंत होना और जनसाधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी होना, अभी बाकी थे। प्रांतीय शासकों का अंत करने के लिये सन् १९२६ में चांगकाईशेक की विजय कूच प्रारम्भ हुई-सैनिक विजय करता हुआ एक के बाद दूसरे प्रांतों को वह पदाक्रांत करता गया-और इस प्रकार समस्त चीन को एक सूत्र में बांधने में वह बहुत हद तक सफल हुआ। किंतु चीन का एक तीसरा और शत्रु पैदा होगया था, और वह था जापानी साम्राज्य। चीन में एक और शक्ति या राजनैतिक दल का दौरा दौर प्रारंभ होगया था; यह था चीन का साम्यवादी दल (Communist Party), जिसके नेता थे माओत्सेतुन्ग। वास्तव में सन् १९२१ में जब चीन की अवस्था बहुत डावांडोल थी, उस समय डा. सनयातसन ने यूरोपीय देशों

से मदद मांगी थी, जिससे कि वह प्रान्तीय शासकों (War Lords) को दबाकर एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित करने में सफल होसके। कोई भी यूरोपीय राष्ट्र यह नहीं चाहता था कि चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र बनजाये, अतः कहीं से भी कुछ भी मदद नहीं आई। फिर डा. सनयातसन की दृष्टि रुस की ओर गई, रुस मदद करने को राजी हुआ, फलस्वरुप रुस के कई राजनैतिक सलाहकार चीन में आये जिन में बोरोडिन एवं एक भारतीय साम्यवादी युवक मानवेन्द्रनाथ राय प्रमुख थे। धीरे धीरे साम्यवादी रुस का प्रभाव राष्ट्रवादी दल (कोमिंतांग) के सदस्यों में फैलने लगा। दल के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हुआ; मानवेन्द्रनाथ राय की सलाह से वाम-पक्षीय विचार के सदस्य कोमिंतांग से पृथक हुए और उन्होंने चीन की साम्यवादी पार्टी का निर्माण किया। इस प्रकार चीन में दो राजनैतिक दल होगये थे–एक तो राष्ट्रपति चांगकाई शेक के नेतृत्व में कोमिंतांग (राष्ट्रवादी) सरकारी दल और दूसरा माओत्से-तुंग का साम्यवादी दल। ये दोनों दल अपना ध्येय तो डा. सनयातसन के आदर्शों को ही मानते थे और यही घोषणा करते थे कि वे डा. सनयातसन के अधूरे काम को पूरा करना चाहते हैं; किन्तु दोनों की कार्यप्रणाली में आधारभूत भेद था। चांगकाई शेक तो शुद्ध राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरुप राष्ट्रीय सैनिक शक्ति से प्रान्तीय शासकों को विध्वंस कर

केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बना, जापानी साम्राज्यवाद से टक्कर ले, तत्पश्चात जन साधारण की स्थिति सुधारना और सब को एक राष्ट्रीय सूत्र में बांधना—इस प्रकार की कल्पना करते थे। मास्को में साम्यवादी पाठ पढ़े हुए माओत्से-तुंग एक भिन्न प्रकार की कल्पना करते थे। जन साधारण द्वारा साम्यवादी क्रान्ति में ही उनका विश्वास था। चीन की साधारण जनता का त्राण, जापानी साम्राज्यवाद से टक्कर लेना और समस्त चीनीयों को एक सूत्र में बांधना, वह एक ही रास्ते से सम्भव समझता था, और वह यह था कि सबसे पहिले देश में साम्यवादी क्रान्ति हो। इन्हीं दो भिन्न विचारधारा और कार्य-प्रणालियों को लेकर दोनों नेताओं में–चांगकाई शेक और माओत्सेतुंग में गहरा मतभेद और मन मुटाव था, जो इतना बढ़ा कि चांगकाई शेक को यह जचने लगा कि प्रान्तीय शासकों के साथ साथ यदि देश के साम्यवादियों को समूल नष्ट नहीं किया गया तो देश में एक केन्द्रीय राज्य स्थापित होना और देश का एक शक्तिशाली समृद्ध राष्ट्र बनना ही असम्भव था। इसी विचार से परिचालित होकर उसने साम्यवादियों के विरुद्ध भी एक जिहाद बोल दिया और माओत्से-तुंग और उसकी फौजों को हराकर उनको ठेठ उत्तर पच्छिम के प्रान्तों में खदेड़ दिया। माओत्से-तुंग का अपनी फौजों, एवं सिपाहियों के समस्त परिवार और सामान को लेकर किआंगसी प्रान्त से उत्तर पच्छिम शेंसी प्रान्त में

६००० मील के रास्ते को पैदल पार करके कूच कर जाना, एक आश्चर्यजनक महत्त्वपूर्ण घटना है, इतिहास में यह "चीनी साम्यवादियों की कूच" के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा मानो साम्यवादी हमेशा के लिये दबा दिये गये थे। किंतु धीरे धीरे उत्तर के प्रांतों में वे अपनी शक्ति संग्रह कर रहे थे। इधर चांगकाई शेक जब समस्त चीन को एक राष्ट्रीय सूत्र में बांधने की ओर प्रगति कर रहा था, उसी समय सन् १६३७ में जापानी साम्राज्य वाद का पंजा चीन पर पड़ा। इसके पहिले सन् १६२१ में वांशिगटन (अमेरिका) में ६ राष्ट्रों की (अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, हौलेंड, बेलजियम, डेनमार्क, चीन, जापान) एक बैठक हुई थी जिसमें इन नो राष्ट्रों ने एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये थे कि चीन पर कोई देश अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न न करेगा, गोकि सब देशों को वहां व्यापार करने का समान अधिकार होगा। जापान ने इस संधि को कोई महत्त्व नहीं दिया। जापान के हाथ में मंचूरिया पहिले से ही था; फिर सन् १६३७ से प्रारम्भ कर उसने द्वितीय महायुद्ध काल में (१६३९-४५) प्रायः समस्त चीन पर अपना आधिपत्य जमालिया। जापान के इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिये माओत्से तुंग की साम्यवादी पार्टी और फौजें चीन की राष्ट्रीय सरकार के साथ एक होगई थीं। समस्त चीन मार्शल चांगकाईशेक के नेतृत्व में जापान का मुक़ाबला करने लगा था। किंतु जापान

की संगठित, सुव्यवस्थित, बढ़ती हुई शक्ति के सामने ये लोग ठहर नहीं सके और चीन जापानी साम्राज्य का एक अंग हो गया। किंतु तुरंत बाद, सन् १६४५ में द्वितीय महा युद्ध ने फिर पलटा खाया, जापान और दूसरे धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली) की हार हुई और मित्र राष्ट्रों की विजय। चीन में फिर से मार्शल चाँगकाईशेक के अधिनायकत्व में राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना हुई किंतु दुर्भाग्य से साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का फिर वही पुराना झगड़ा प्रारंम्भ हो गया और समस्त चीन एक घोर और विनाशकारी गृह-युद्ध के पचड़े में फंस गया। सन् १६४९ के आखिर तक गृह युद्ध चलता रहा; आखिर राष्ट्रीय सरकार की हार हुई। मार्शल चांगकाईशेक ने चीन से भागकर फारमूसा द्वीप में शरणली और चीन में साम्यवादी नेता माओत्से तुंग के अधिनायकत्व में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। वही साम्यवादी सरकार आज चीन में स्थित है। इस चीनी साम्यवादी सरकार के नेता माओत्सेतुंग ने १४ फरवरी १९५० के दिन साम्यवादी रुस के साथ एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार मंचूरिया और मंगोलिया पर (जिन पर रूस का प्रभाव था) चीन का सर्वाधिकार रहेगा, रूस चीन को औधोगिक उन्नति के लिये कर्ज देगा जिससे वह रूस से मशीनरी इत्यादि खरीद सके; और किसी भी एक देश पर बाह्य आक्रमण के समय दोनों एक दूसरे को आर्थिक और

सैनिक सहायता देंगे। नव स्थापित चीनी सम्यवादी सरकार के सामने इस समय अनेक जटिल समस्यायें हैं—देश में अव्यवस्था, करोड़ों लोगों की गरीबी, अशिक्षा, इत्यादि। साम्यवादी सरकार इन समस्याओं का निराकरण करने के लिये गंभीरता और कड़ाई से आगे बढती हुई दिखाई देती है। ऐसे समाचार हैं कि साम्यवादी सरकार आने के पूर्व चीन के राजकाज में बड़ी शिथिलता थी, कुशलता और अनुशासन का अभाव था, खूब घूसखोरी चलती थी, चोर बाजार खूब होता था, और कुछ प्रांतीय योद्धा सरदार अपनी सेनाओं के बल पर अभी तक स्वतंत्र बने हुए थे। १६४६ ई. के अंतिम महीनों में साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद, एक मात्र साम्यवादी अधिनायक माओत्से-तुंग ने अपने सुगठित सम्यवादी दल की सहायता से इतनी कड़ाई और कठोर अनुशासन से काम लिया कि केवल कुछ ही महीनों में राजकाज की शिथिलता दूर हो गई, घूसखोरी और चोर बाजारी करने की किसी की हिम्मत न रही, और प्रान्तीय यौद्धा सरदारों को ऐसी सफाई से खत्म कर दिया गया कि मानो कभी वे इतिहास के परदे पर थे ही नहीं; उनकी सेनायें सब केन्द्रीय साम्यवादी सेना संगठन में मिलाली गई। इसके अतिरक्त सब जमीदारों को खत्म कर दिया गया, उनकी जमीनें किसानों में बांट दी गई, और अर्थ और युद्ध नियंत्रण संबंधी कुछ ऐसे क़दम उठाये गये जिससे अन्न वस्त्र के मूल्य

गिरे और जन साधारण के मन का भार कम हुआ। चीन इस प्रयत्न में संलग्न है कि उसकी स्वतन्त्रता नव-स्थापित साम्यवादी व्यवस्था सुरक्षित रहे, इसीलिये माओत्से-तुंग एक अभूतपूर्व शक्तिशाली सेना का संगठन कर रहा है। कहते हैं आज वहां ५० लाख सैनिकों की एक विशाल सेना तैय्यार है जो दुनिया की सबसे बड़ी जन सेना है। प्रत्येक सैनिक को साम्यवादी सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती है, और साम्यवादी की नई संस्कृति के अनुरुप उसका मानस बनाया जाता है। चीन यह समझता है कि सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि उसके पड़ोसी देश उसके मित्र हों, और यदि कोई देश 'साम्यवाद चीन' विरोधी भावना रखता है तो उस पर अपना प्रभाव स्थापित किया जाये। कोरिया देश में जब पूंजीवादी अमेरीका का हस्तक्षेप हुआ तो इस ख़याल से कि यदि कोरिया में अमरीका की या अमरीका से प्रभावित किसी सरकार की स्थापना हो गई तो उत्तर की ओर से वह हमेशा के लिये एक खतरा बना रहेगा, तब उसने झट अपनी सेनायें कोरिया में भेजदीं, और आज कोरिया के युद्ध क्षेत्र में चीन की साम्यवादी सेनायें अमरीका, ईंगलेंड और आस्ट्रेलिया की सम्मिलित फौजों से टक्कर लेरही हैं और उनको पीछे खदेड़ती हुई जारही हैं। इसी ख़याल से दिसम्बर ५० के प्रारम्भ में चीन की कुछ साम्यवादी सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया, एवं वहां अपनी संरक्षता में एक

तिब्बती लामा सरकार की स्थापना की। फार्मूसा द्वीप, हिंद चीन, मलाया और बरमा की ओर भी चीन की दृष्टि है।

पूर्वी दुनिया में आज सन् १९५० में चीन एक विशाल साम्यवादी शक्ति के रूप में एक नई सभ्यता का प्रतीक बनकर खड़ा है।

—❀—

४८

चीन का इतिहास

एक सिंहावलोकन

हमने अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक चीन के इतिहास की एक बहुत ही संक्षिप्त रूप-रेखा खेंचने का प्रयत्न किया है। चीन का राजनैतिक इतिहास भिन्न भिन्न राज वंशों के सम्राटों की कहानी है। एक एक राजवंश कई कई सो वर्षों तक चलता रहता है। बार बार प्रांतीय शासक केन्द्रीय सम्राट के कमजोर पड़जाने पर, स्वतन्त्र हो जाते हैं, स्वयं अपने प्रांत के एकाधिपत्य शासक बन बैठते हैं। फिर कोई विशेष कुशल सम्राट आता है, भिन्न भिन्न प्रान्तों को फिर सुगठित एवं सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के आधीन कर लेता है। कभी कभी कोई प्रान्तीय शासक ही केन्द्रीय शासन व्यवस्था अपने हाथ में ले

लेता है, स्वयं सम्राट बन जाता है, और इस प्रकार एक नये ही राजवंश की स्थापना करता है। इस प्रकार चीन के प्रथम सम्राट ह्वांगटी "पीत-सम्राट" से लेकर जिसके राजवंश की स्थापना २६६७ ई. पू. में हुई, आधुनिक मंचू राजवंश की सन् १६११ में समाप्ति तक, जब चीन में आधुनिक प्रकार की एक जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई, चीन का राजनैतिक इतिहास स्वयं चीनी राष्ट्र और चीनी मानस की तरह मंथर गति से चलता रहता है। यूरोप में प्राचीन ग्रीक और रोमन साम्राज्यों का अंत हो जाता है और उन साम्राज्यों के अंत के साथ साथ ग्रीक और रोमन सभ्यताओं का भी अन्त हो जाता है; ग्रीक और रोमन विचार धारा, दर्शन, काव्य और कला सब भुला दी जाती हैं, शताब्दियों तक लुप्त हो जाती हैं; प्राचीन ग्रीक और रोमन "मानव" हमेशा के लिए लुप्त हो जाता है। किन्तु चीनी सभ्यता की धारा, चीनी जन साधारण के जीवन की ओट में सतत बहती रहती है। चीन के बड़े बड़े सम्राटों का बार बार अन्त होता है, विशाल चीनी साम्राज्य भी बार बार विध्वस्त होकर टुकड़े टुकड़े हो जाता है, फिर बनता है और फिर बिगड़ता है किन्तु चीनी जन समुदाय के जीवन की लहर मंथर गति से मानो एक सी बहती रहती है। कनफ्यूसीयस और बुद्ध की विचार धारा उसके अंतस में समाई रहती है, सुन्दर सुन्दर चित्र बनते रहते हैं, सुन्दर सुन्दर चीनी के बर्तन और उन पर अनेक रंगों की चित्र-

कारी होती रहती है, कविता और साहित्य का निर्माण होता रहता है; चाय की प्याली परिवार का कवित्वमय केन्द्र बनी रहती है; चीन और चीन के लोगों के जीवन से सौन्दर्य और कला का आधार कभी विलग नहीं होता; चीनी मानव की यही एक आकर्षक सुषमा है; वह इतना संस्कृत है कि उसका मिजाज कभी बिगड़ता नहीं।

यह "पुरातन चीनी मानव," आज १६५० में, अपने पुरातन व्यक्तित्व को छोड़ आधार भूत एक नये व्यक्तित्व, नई भावना, नई संस्कृति का आवाहन कर रहा है, एक नई 'मानवता' की अवतारणा कर रहा है।

—※—

४६

जापान का इतिहास

(प्रारंभिक काल से आजतक)

जापान, जिसका कि चीन द्वारा दिया हुआ नाम है—दाईनिपन = Dai Nippon = उदययान सूर्य की भूमि, छोटे बड़े मिलाकर ४०७२ ज्वालामुखी द्वीपों का बना एक अद्भुत् द्वीप समूह है। द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) के पहिले केवल यही

एक एशियाई देश था जो आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों दृष्टि से पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र था, जिस पर किसी प्रकार का यूरोपीय प्रभुत्व नहीं था। यहां का एकाधिपत्य शासक जापानी सम्राट हिरोहितो था, जिसको विदेशी लोग मिकाडो (स्वर्ग का द्वार) कहकर पुकारते थे। यह छोटा सा देश, जहां छोटे छोटे कद के आदमी बसते हैं,—जिसका स्वतन्त्र प्राचीन कोई गौरवमय इतिहास नहीं, न अपनी स्वतन्त्र जिसकी कोई संस्कृति, न संसार की सभ्यता को कोई देन, २०वीं सदी में सहसा इतना उन्नत होकर खड़ा हुआ मानो संसार के सब से बड़े महाद्वीप ऐशिया का नेतृत्व करने चला हो। सचमुच २०वीं सदी के आरंभ में इसने अपनी शक्ति और अपने अभूत पूर्व विकास से संसार को चकित कर दिया, और उसको चकित कर संसार की आधुनिक हलचल में, मानव की आधुनिक कहानी में, इसने अपना स्थान निर्माण कर लिया। अतः इस देश के इतिहास और उसके विकास की मुख्य रेखायें जान लेना, अपनी कहानी को समझने के लिये आवश्यक है।

आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर वास्तविक मानव के उद्भव होने के बाद, कब वह सर्व प्रथम जापान में जाकर बसा कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। वहां प्राचीन अथवा नव पाषाण युग के अवशेष चिन्ह नहीं

मिले हैं; ईसा की प्रायः तीसरी शताब्दी के पहिले जापान के किसी भी ऐतिहासिक तथ्य का पता नहीं लगता। लगभग ११०० ई. पू. में अनेक चीनी लोग चीन छोड़कर चीन के उत्तर पूर्व में उस भाग में जाकर बस गये थे जो कोरिया कहलाता है। वहां उन्होंने अपने एक स्वतन्त्र र ज्य की स्थापना की, और उसका विकास किया। कालाँतर में कोरिया में रहने वालों में से अनेक चीनी लोग समुद्र पार करके जापान में जाकर बस गये। जापान के दक्षिण पूर्व में स्थित 'पूर्वीय द्वीप समूहों' के प्राचीन मलायन निवासियों में से भी अनेक लोग जापान में आकर बसे, और चीन के आये हुए लोगों से उनका सम्मिश्रण हो गया। यह घटना ईसा के कई शताब्दियों पूर्व की होगी। एक बार अनेक समूह आकर बस गये होंगे, फिर उनका सम्पर्क अपने आदि देशों से टूट गया होगा। इस प्रकार जापानी लोग मुख्यतयः मंगोल उपजाति के लोग हैं (क्यों कि चीनी मंगोल उपजाति के ही माने जाते हैं) जिनमें मलायन लोगों का सम्मिश्रण है। इन्हीं लोगों से जापान का इतिहास बना।

जापानियों की भी अपने उद्भव और राज्य के विषय में एक पौराणिक कथा है—ऐसी ही कथा जैसी प्रत्येक देश और जाति ने अपने पुरातन उद्भव के विषय में रच रक्खी है। इस कथा के अनुसार "सूर्य देवी" जापानियों के प्रमुख आराध्य

ईश्वर हैं । सूर्य देवी ने अपने ही वंश की "जिम्मू" नामक संतान को जापान में सम्राट बनाकर भेजा और उसी से (६६० ई. पू. से) जापानी सम्राटों की वंशावली चली । आधुनिक जापान में नगाया नगर के निकट उपरोक्त "सूर्य देवी" का प्रसिद्ध मन्दिर है जहां विशेष अवसरों पर जापान के सम्राट एवं मंत्रीगण पूजा करने के लिये जाते हैं । यही मन्दिर जापानी राष्ट्र का प्रतीक है—और जापानी सम्राट स्वयं "जापानी सृष्टि" का प्रमुख देव–पुरुष ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जापानी पौराणिक परम्परा तो जापान का सभ्य सामाजिक राजकीय इतिहास ई. पू. ७वीं शताब्दी तक ले जाती है, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमें ईसा के बाद की दूसरी तीसरी शताब्दी तक वहां पर किसी भी प्रकार के राज्य का संगठन नहीं दिखाई देता । वास्तव में ईसा के बाद पांचवीं शताब्दी तक जापानी लोग (वे चीनी और मलायन लोग जो प्रागैतिहासिक काल में जापान में बस गये थे) अन्धकार पूर्ण और असभ्य अवस्था में ही पाये जाते हैं । ईसा की ६ठी शताब्दी में जापान पर तत्कालीन चीनी लोगों का आक्रमण हुआ । यह कोई राजनैतिक अथवा सैनिक आक्रमण नहीं था । हम इसे सांस्कृतिक आक्रमण कह सकते हैं । इस आक्रमण ने जापान को, वहां के जीवन और समाज को मूलतः परिवर्तित

कर दिया। सभ्यता के प्रकाश की प्रथम किरणों का उदय हुआ। एक लिखित भाषा का प्रचार हुआ। भाषा वही जापानी रही जो उपरोक्त आदि निवासियों में विकसित हो गई होगी, किंतु उसका लिखित रुप चीनी चित्र-लिपि बनी। चीन से ही जापान में बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ; चीन से ही जापान ने कनफ्यूसियस धर्म, चित्रकला, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, रेशम पैदा करना और उसके कपड़े बनाने की कला, पुष्पों की सजावट और उद्यान कला, चाय पैदा करना और चाय पीने की कला—इत्यादि बातें सीखीं। सम्भव है इस चीनी सम्पर्क के बिना जापान अकेला अपने द्वीपों में बसा हुआ, सभ्य नहीं हो पाता।

बुद्ध धर्म के आने के पहले जापानियों का स्वयं अपना एक प्राचीन धर्म था जिसे "शिण्टो" धर्म कहते हैं। अपने प्रारम्भिक रुप में यह धर्म एक प्रकार से प्रकृति पूजा और पूर्वजों की पूजा का धर्म था; यह एक आदिकालीन (Primitive) प्रकार का ही धर्म था। दार्शनिक दृष्टि से यह कोई विकसित धर्म नहीं था। आत्मा, परमात्मा, जीव और जीव के भविष्य के विषय में इस धर्म में किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं था। इस धर्म के मुख्य तत्व ये थे:—सम्राट की पूजा, जोकि स्वयं आदि 'सूर्य देवी' का वंशज है; पूर्वजों की पूजा; एवं देश के लिये जिसका कि प्रतीक स्वयं सम्राट है, बलिदान। आधुनिक काल में शिंटो धर्म में ये

ही तत्व प्रमुख रहे हैं। युद्ध भूमि पर लड़ता हुआ जो कोई भी सैनिक अपने प्राण दे देता, उसकी गिनती जापान के देवताओं में होने लग जाती और उस वीर (देवता) के वंशज उसकी पूजा और सम्मान करते रहते। ईसा की छठी शताब्दी में जब बुद्ध धर्म जापान में आया तब उसमें और वहां के आदि धर्म शिंटो में कुछ विरोध हुआ, किंतु धीरे धीरे बुद्ध धर्म समस्त देश में फैल गया, और परस्पर इन दोनों धर्मों में ऐसी स्थिति बन गई कि व्यक्तिगत धर्म के साथ साथ सम्राटों की संरक्षता में शिंटो धर्म राष्ट्रीय धर्म बना रहा और प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बौद्ध हो, ईसाई हो या अन्य धर्मावलम्बी, अपना राष्ट्रीय शिण्टो धर्म का भी अनुयायी बना रहा; उसी प्रकार जैसे चीन में चाहे कोई बौद्ध हो, ईसाई हो, मुसलमान हो, एवं चाहे कनफ्यूसियस धर्मावलम्बी हो, किन्तु पूर्वजों की धार्मिक पूजा का समारोह तो सभी में चलता ही रहता है। आधुनिक काल में बुद्धिवादी—एवं धार्मिक झंझटो से ऊपर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले अनेक व्यक्ति जापान में पैदा हुए किन्तु इस बात में कि "शिंटो" धार्मिक मान्यताओं में जनसाधारण का विश्वास बना रहे, उन्हें राष्ट्रीय राजनैतिक शक्ति का एक अटूट स्रोत दिखाई दिया, एतदर्थ आधुनिक काल में उन लोगों (शिक्षित वैज्ञानिक) ने भी "शिण्टो" मत को बहुत प्रोत्साहित किया। इसी शिण्टो धार्मिक भावना से प्रभावित होकर अनेक जापानी नवयुवक खुशी खुशी

देश के सम्मान और समृद्धि के लिये अपने प्राणों की बलि चढ़ाते रहते हैं। देश के सम्मान में ही सम्राट का सम्मान निहित है,—सम्राट जोकि जापानियों के आदि ईश्वर "सूर्यदेवी" का पुत्र है।

जैसा कि प्रायः सब देशों के प्राचीन इतिहासों में देखा जाता है जापान में भी अपने अपने विशिष्ट पूर्वजों में विश्वास रखने वाले लोगों के जातिगत अनेक समूह (Claus) रहते थे। जापानी इतिहास के प्रारम्भिक काल में अपना अपना प्रभुत्व कायम करने के लिये इन जातिगत समूहों में यह और झगड़े होते रहते थे। ऐसा अनुमान है कि ईस्वी सन् २०० तक जापान का एक सम्राट के अधिनायकत्व में संगठन हो चुका था और यहां की प्रथम साम्राज्ञी जिंप्पो नामकी एक महिला थी। जो कुछ हो, यहां का विश्वासनीय लिखित इतिहास तो ५३६ ई. से ही मिलता है।

जापान में सम्राट का व्यक्तित्व सर्वोपरि रहा है; वह समस्त राष्ट्र और देश का प्रतीक माना जाता रहा है। राष्ट्र की दृष्टि में समस्त आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक शक्तियों का केन्द्र भी सम्राट माना जाता रहा है। किन्तु इतना होने पर भी जापानी इतिहास की यह एक विशेषता रही है कि समस्त राजकीय शक्ति वस्तुतः सम्राट के हाथों में न रह कर और किन्हीं

हाथों में केन्द्रित रही है। ५३६ ई. से, जब से जापान का तिथिकत इतिहास मिलता है, जापान का प्रमुख राजनैतिक प्रश्न यही रहा है कि जापान में कौन वे लोग हैं जो सम्राट को चला रहे हैं और जिनके हाथों में शक्ति केन्द्रीभूत है। इस दृष्टि से जापानी इतिहास को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. महान परिवारों का प्रमुत्व (५३६-११९२ ई.)
२. शोगुनों का एक तांत्रिक प्रभुत्व (११९२-१८६८ ई.)
३. सम्राट की संरक्षता में वैधानिक राजतंत्र (१८६८-ई.)

जापान का इतिहास इन्हीं तीन काल खंडो के अनुसार अध्ययन करेंगे।

१. जापान-महान परिवारों का प्रभुत्व (५३६-११९२ ई.)

वह प्रसिद्ध जापानी परिवार जिसके हाथ में राजकीय सत्ता रही 'शोगा' नामका परिवार था। इस परिवार का सबसे प्रमुख व्यक्ति 'शोट्कू ताइसी' था, जो कि जापानी इतिहास का एक महान व्यक्ति माना जाता है। इसने धीरे धीरे विभिन्न विभिन्न जातिगत समूहों को हराया और देश के सम्राट के आधीन उन सबका संगठन किया। चीन के महात्मा कनफ्यूसियस की शिक्षाओं से प्रभावित होकर नैतिक आधार पर राज्य का संगठन करने का उसने प्रयास किया। 'शोट्की ताइसी' की मृत्यु के बाद सम्राटों को चलाने वाले शोगा परिवार का प्रमुत्व भी समाप्त

हुआ। अब जापान के इतिहास में "काकाटोमी नो कामटोरि" नामक एक अन्य महान व्यक्ति का आगमन हुआ। इसने फ्यूजीवारा परिवार की स्थापना की। चीनी राजकीय ढंग का अध्ययन करके इसने जापान के राजकीय संगठन में अनेक उचित परिवर्तन किये, एवं जातिगत समूहों को और भी अधिक दबाकर राज्य की केन्द्रीय शक्ति को अधिक संगठित और महत्वशाली बनाया। इन फ्यूजीवारा परिवार के शासक लोगों ने किसान लोगों से भूमि कर एकत्रित करने के लिये एक जमींदार वर्ग का निर्माण किया। ये जमीदार लोग "ढाईमीओरस" कहलाते थे, छोटी छोटी फौजें रखते थे, अपनी फौजी शक्ति के बल पर भूमि कर एकत्रित करते थे, उसमें से मुख्य भाग स्वयं रख कर शेष शासकों को देदेते थे।

धीरे धीरे इन "ढाईमी ओरस" (जमींदार) लोगों की शक्ति का ह्रास होने लगा और उनमें यह घमंड आगया कि वे शासक परिवारों को भी बदल सकते हैं और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करसकते हैं।

इसकाल में जापान की राजाधानी कोयटो थी। देश में दो प्रमुख 'ढाईमीओरस' परिवार 'ताहिरा' और "मीनामोती" थे। इन दोनों जमीदार परिवारों ने शासक परिवार फ्यूजीवारा को अन्त करने में सम्राट को मदद दी। इस प्रकार फ्यूजीवारा

परिवार का अन्त हुआ। किन्तु इसका अन्त होने पर उपरोक्त दोनों जमीदार परिवारों में प्रभुत्व के लिये झगड़े हुए और अनेक लड़ाइयां हुई। अन्त में 'मीनामोती' परिवार की विजय हुई और उस परिवार के प्रमुख व्यक्ति योरीतोमो को जापानी सम्राट "शोगुन" की पदवी से विभूषित किया। इस पदवी का अर्थ था—"जङ्गली लोगों पर विजय प्राप्त करने वाले सरदार।" यह घटना ११६२ ई. में हुई और तभी से जापान में सम्राट के नाम-मात्र अधिनायकत्व में "शोगुन" लोगों का राज्य प्रारम्भ हुआ।

जापान-शोगुनों का प्रभुत्व (११६२-१८६८)

उपरोक्त शोगुनों की "पदवी" वंशानुगत थी। इस प्रकार—एक शोगुन की मृत्यु के बाद उसी का पुत्र शोगुन की पदवी धारण करके राजकार्य सम्भालता था। राजकीय वास्तविक शक्ति उसीके हाथों में रहती थी यद्यपि वह राजकार्य सम्राट के नाम से एवं सम्राट के आधीन रहकर ही करता था। जापान का प्रथम शोगुन शासक "योरीतोमो" था। उसके एवं उसके वंश के शोगुन लोगों का राज्य सन् १३३३ ई. तक रहा। इस काल में देश में शान्ति रही अतएव देश खूब समृद्ध भी बना। मुख्यतः चावल की खेती होती थी, सामुद्रिक किनारों पर मछलियां पकड़ी जाती थी, जोकि भोजन का एक प्रमुख अंग थी। घरों पर स्त्रियां रेशम के कीड़े पालती थीं, रेशम पैदा करती थीं और

रेशमी कपड़े बुनती थीं। चावल की खेती के अलावा रेशम का उत्पादन ही देश का प्रमुख उद्योग था जो चीन से आया था इसके अतिरिक्त चीन से ही सीखी हुई कला के अनुसार सुन्दर सुन्दर चित्रकारी वाले मिट्टी के बर्तन भी बनाये जाते थे। नावें और जहाजें भी थीं, जिनमें आसपास के देशों से व्यापार होता था।

ऐसा अनुमान है कि सन् ११९१ में एक बौद्ध भिक्षु चाय के बीज जापान में लाया और तभी से जापान में चाय की भी खेती होने लगी और जापानी बड़े समारोह के साथ चाय पीने लगे। किंतु देश के प्रमुख धनी और सत्तावन घरानों में लड़ाई झगड़े चलते ही रहते थे–इसी उद्देश्य से कि राज सत्ता उनके हाथ में हो। इसी प्रकार सम्राट और शोगुन में भी विरोध चलता रहता था कि वास्तविक राजसत्ता किसके हाथ में रहे। उन्हीं झगड़ों में प्रथम शोगुन परिवार का अंत हुआ। सन १३३८ ई. में "असीकागा" नामक शोगुन राज्य की स्थापना हुई। इस वंश के शोगुन लोगों का राज्य १६०३ ई. तक रहा। पारस्परिक युद्ध चलते ही रहते थे, एवं १६०३ ई. में उपरोक्त शोगुन वंश का अंत होकर "टोकुगावा" नामक वंश के शोगुन राज्य की स्थापना हुई जिसने जापान के आधुनिक काल में १८६८ ई. तक राज्य संचालन किया।

जापान-यूरोप से सम्पर्क-उपरोक्त (टोकुगावा) शोगुन वंश के राज्यकाल में जापान का यूरोपीय देशों से सम्पर्क हुआ। सन् १५४२ ई. में कुछ पुर्तगाली जहाजें जो चीन के साथ व्यापार करने के लिये आई होगी वहकर जापानी किनारे पर लग गई, तब तक यूरोप जापान से बिल्कुल अनभिज्ञ था और जापान यूरोप से बिल्कुल अनभिज्ञ। उपरोक्त घटना के बाद तो स्पेन के, इङ्गलैंड के, फ्रांस के एवं होलैंड के अनेक व्यापारी और ईसाई पादरी जापान में आने लगे। इन्हीं यूरोपीय व्यापारियों के साथ जापान में सबसे पहिले बंदूकों का आगमन हुआ। पहिले तो जापानियों ने इन पाश्चात्य ईसाई पादरी और व्यापारियों को अपने देश में बसने के लिये और व्यापार करने के लिये आज्ञा देदी, किंतु उन्होंने देखा कि स्पेन के लोगों ने जो फिलीपाइन द्वीप में व्यापार करने के लिये आये थे, उस द्वीप पर अपना आधिपत्य ही जमा लिया था। जापान के एक प्रसिद्ध राजनैतिक हिदेयोशी को भान हुआ कि ये यूरोपीय लोग तो भले मानुस नहीं हैं। धर्म के नाम पर आते हैं किन्तु जिस देश में वे जाते हैं धीरे धीरे उसी को हथियाने का प्रयत्न करते हैं। जापानी सम्राट और शासक लोगों को भी यह भान कराया गया। अतएव जापानी चेते और सम्राट ने एक के बाद दूसरा फरमान निकाला कि जापान में जितने भी विदेशी हैं वे सब जापान छोड़कर चले जायें; कोई भी विदेशी जापान की भूमि पर न उतरे; कोई

जापानी भी विदेशों में न जाये। सब विदेशियों को यहां तक कि चीनीयों को भी जापान छोड़कर जाना पड़ा; विदेशी आवगमन सब बंद होगया, और इस प्रकार बाहरी दुनिया के लिये जापान के दरवाजे बिल्कुल बंद होगये। सन् १६३७ ई. से १८५३ तक, २०० वर्षों से भी अधिक जापान अपने में ही सीमित, अन्य देशों से यहां तक कि अपने पड़ोसी देश चीन और कोरिया से भी बिल्कुल सम्पर्क-विहीन, एक बंद घर की तरह पड़ा रहा।

जापान–सामाजिक दशा (५३६–१८६८ ई. तक) अब तक के वर्णित जापान के इतिहास से इतना तो भान हुआ होगा कि जापान के इतिहास के आरम्भ काल से लेकर लगभग १३०० वर्षों तक जापान की कहानी मात्र, विभिन्न धनी, शक्तिशाली सामंती एवं सैनिक परिवारों में परस्पर झगड़े और युद्ध की कहानी रही। देश अधिकांशतः गृह-युद्धों से पीड़ित और अन्धकार पूर्ण रहा। धन और शक्ति–लोलुप सामंती परिवार देश के बहुसंख्य जन–समुदाय किसानों से तलवार के बल पर मन चाहा जितना धन कर के रूप में लेते रहे, किसान वर्ग में से ही सिपाही एकत्रित करते रहे और आपस में लड़ते रहे; उन्हीं के प्रभाव में सम्राट का शासन चलता रहा।

यद्यपि चीन से लेखन कला, छपाई (Block-Printing=लकड़ी के ब्लोकों से छपाई) और चित्रकला जापान में

इसके इतिहास के प्रायः प्रारंभिक काल में ही आ गई थीं, किंतु ये सब बातें जन साधारण से बिल्कुल दूर रहीं, केवल राजकीय एवं सामंती परिवारों में ही शिक्षा और कला का प्रसार हो पाया। तत्कालीन समाज में मुख्यतः ३ वर्ग माने जा सकते हैं। १. उच्चवर्ग (जिसमें राजकीय परिवार, राजकीय शासक वर्ग और सामंती लोग थे)।

२. कृषि वर्ग ३. सैनिक वर्ग।

यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि चीन की तरह यहां मंडारिन (शिक्षित संस्कृत) लोगों का वर्ग नहीं था, एवं जहां चीन में प्रथक सैनिक वर्ग नहीं था, यहां जापान में ऐसे वर्ग का निर्माण हो चुका था। साधारण वर्ग के लोग खेती करते थे, पूर्वजों में विश्वास बनाये रखते थे, और सम्राटों को सर्वोपरि दैवीय पुरुष मानते रहते थे। इसी विश्वास में उनका जीवन चलता रहता था।

६ठी शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक उपरोक्त १३०० वर्षों के काल में किसी विशेष कला, दर्शन और विज्ञान की उन्नति देश में नहीं हुई और न कोई बड़ा धार्मिक महात्मा, विचारक या कवि या दार्शनिक पैदा हुआ जो संसार की संस्कृति में अपना योग दे सकता।

हाँ जापानी लोगों के चरित्र और मानस का विकास चीनी लोगों की अपेक्षा एक भिन्न दिशा में हुआ। चीनी लोग

तो बहुत ही ज्ञानवान (Reasonable) लोग हैं, प्रकृति और समाज में बिना ऐंठ के, सरलता से, सहजभाव से चलते हुए, जीवन की घटनाओं के प्रति एक विनोदात्मक समरसपूर्ण (Humorous, harmonious) दृष्टि बनाये रखते हैं, किंतु जापानी लोग (Fanatic, unreasonable) है,— किसी भी काम के पीछे अंधा होकर पड़ने वाले। वे तार्किक ढङ्ग से बहस नहीं कर सकते और न वे सहन कर सकते किसी भी काम में शिस्त और अनुशासन की ढिलाई। जीवन और नैतिकता की गहन समस्यायें उनको परेशान नहीं करती और न व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता की महानता को वे समझते। बल्कि वे इस बात की ओर अधिक जागरुक हैं कि व्यक्ति समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करता है या नहीं। अपेक्षाकृत वह व्यक्तिवादी कम समष्टिवादी अधिक है। मिल जुल कर काम करने की कला में वे बड़े दक्ष और उत्साही हैं। राष्ट्र और देश के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को मिटाने वाले — यहाँ तक इस बात का भान होने पर कि राष्ट्र के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य अच्छी तरह से नहीं निभाया या कि उन्होंने ऐसा कोई काम किया जो राष्ट्र की इज्जत के अनुकूल न था, तो वे सहर्ष अपने हृदय में छुरा भोंक लें, और इस प्रकार अपने जीवन को समाप्त कर डालें—इसे वे "हाराकरी" कहते हैं। इस प्रकार जापानी मानस का विकास धीरे धीरे हुआ।

३. जापान-आधुनिक काल (१८६८-१९५०)

तोकूगावा शोगुन के राज्यकाल में सन् १६३७ में जापान ने जो अपना दरवाजा बन्द करदिया था वह १८५३ ई. तक बन्द रहा। फिर १८५३ ई. में कोमोडोरपैरी नामक एक अमेरिकन जहाजी अफसर ने जापान के दरवाजे खटखटाये। उसके तुरन्त बाद ही अमेरिका ने जापान के सामने मांग पेश की कि अमेरिका के नागरिकों को जापान में दाखिल होने का और व्यापार करने का अधिकार होना चाहिये। किन्तु जापान ने कुछ नहीं सुना। फिर सन् १८६३ ई. में इङ्गलैण्ड, अमेरिका एवं अन्य यूरोपीय देशों के जहाजी बेड़ों ने मिलकर जापान के सामुद्रिक तट के नगरों पर भीषण गोलाबारी की, जिससे मजबूर होकर जापान को पाश्चात्य देशों के लिये अपने घर के दरवाजे खोलने पड़े। किन्तु मजबूर होकर ऐसा करने में एक तीव्र बदले की भावना उनके मन में घर कर गई।

उस समय जापान में तोकूगावा शोगुन का राज्य था। इस शोगुन शासक की अवस्था बहुत ही बिगड़ी हुई, और कमजोर थी। दो अन्य जातिगत परिवारों ने, यथा 'सतसुमाश' और 'चोरसुस' ने, मिलकर तोकूगावा परिवार को उखाड़ फैंका और सम्राट को वास्तविकतः जापान की राजगद्दी पर शासनारुढ़ किया। शोगुन शासन-प्रणाली का अन्त हुआ और सम्राट समस्त

जापानी शक्ति का प्रतीक बना। यह घटना सन् १८६८ ई. की है जो जापानी इतिहास में मेजी पुनर्स्थापन (Megi Restoration) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय जो सम्राट शासनारुढ़ हुआ उसका नाम मुतसुहितो था और वह मेजी नाम से प्रसिद्ध था।

सन् १८६८ ई. में मेजी पुनर्स्थापन के बाद जापान का इतिहास मानो मूलतः बदल गया। इतिहास की गति तीव्र हुई और समस्त जापानी राष्ट्र पच्छिम के प्रति एक बदले और विरोध की भावना से उत्तेजित हो आगे क़दम बढ़ाने लगा। अभूतपूर्व तेज इसकी रफ्तार हुई और उसी शस्त्र से जिससे यूरोपीय देशों ने इसको चिड़ाया था, इसने यूरोप को परास्त करने का संकल्प किया। समस्त देश ने मिलकर यान्त्रिक आधार पर तुरन्त औद्योगीकरण किया, आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लेस एक बहादुर फौज खड़ी की, बड़े बड़े आधुनिक जहाज बनाये और एक विचक्षण नौसेना तैय्यार की। जितनी औद्योगिक उन्नति यूरोप १०० वर्षों में भी नहीं कर पाया था उतनी उन्नति जापान ने बहुत ही कुशल ढङ्ग से केवल ३०-३५ वर्षों में करली। संसार के इतिहास में किसी देश ने इतने कम समय में इतनी उन्नति नहीं की।

जापान अब तैय्यार था। सशक्त हो कर खड़ा था, मध्य-युग के अंधियारे से निकलकर आधुनिक युग के प्रशस्त

पथ पर खड़ा था । यूरोपीय देशों की भांति उसने भी अब आर्थिक विजय के लिये कूच प्रारंभ की । सन् १८९४-९५ में पहला चीन जापान युद्ध हुआ । चीन को अपना फारमूसा द्वीप जापान को सौंपना पड़ा और कोरिया पर से अपने अधिकारों को तिलाञ्जली देनी पड़ी । सन् १९०४-५ यूरोप के विशाल देश रूस से इस छोटे से द्वीप जापान की लड़ाई हुई । जापान ने रुस को परास्त किया । दुनिया में जापानी शक्ति का सिक्का जमा और कोरिया जापान के आधीन हुआ । फिर जापान के प्रधान मंत्री जनरल तनाका ने अपने देश और सम्राट को जचाया कि विश्व में जापान की पताका फहराने के लिये पहिले आवश्यक है कि जापान मंचूरिया एवं मंगोलिया पर विजय प्राप्त करे । एतदर्थ सन् १९३१ ई. में मुकदन (Mukden) घटना हुई जिसके फल स्वरुप मंचूरिया और मंगोलिया पर शनैः शनैः जापान का आधिपत्य स्थापित हुआ । फिर सन् १९३९ में संसार व्यापी द्वितीय महायुद्ध हुआ; जब कि जर्मनी तो तीव्रगति से यूरोप को पदाक्रांत कर रहा था, जापान पूर्व में नई व्यवस्था (New Order) स्थापित करने में संलग्न हुआ । समस्त सुदूर पूर्वीय देश एक के बाद दूसरे जापानी साम्राज्य के अन्तर्गत आने लगे; जापान ने फिलीपाइन द्वीप से अमेरिका को खदेड़ा; हिंदेशिया (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि) से डच लोगों को; मलाया और वर्मा

से ब्रिटेन को, और फिर अंत में विशाल देश चीन पर अपना अधिकार जमाया। अभूतपूर्व यह विजय थी और अभूतपूर्व किसी साम्राज्य का विस्तार।

किंतु सन् १९४६ में युद्ध ने पलटा खाया। नवीनतम अविष्कृत एक प्रलंयकारी शस्त्र अमेरिका के हाथ में लग गया था,—वह शस्त्र था अणुबम। संसार के इतिहास में सर्व प्रथम इन महाविनाशकारी बमों का प्रयोग जापान के दो नगरों—हिरोशिमा और नागासाकी पर हुआ—सैंकड़ों मीलों तक तरु, पल्लव, जीव, मानव सब साफ हो गये; लाखों जापानी मानव अचानक विनिष्ट हो गये। इस घटना ने जपान की पीठ तोड़ दी और अपने हथियार डालकर उसे मित्र राष्ट्रों (ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, रूस) से संधि करने के लिये विवश होना पड़ा। सन् १९४६ में मित्र राष्ट्रों की तरफ से अमेरिका के सेनापति जनरल मैक आर्थर की अध्यक्षता में जापान में अंतरिम सैनिक राज्य स्थापित हुआ–उस समय तक के लिये जब तक जापान के साथ कोई स्थायी संधि नहीं हो जाती और जापानी स्वयं मित्र राष्ट्रों की इच्छा और जनतांत्रिक आदर्शों के अनुकूल अपना प्रबंध स्वयं करने के लिये तैय्यार नहीं हो जाते। अभी तक ऐसी न तो कोई स्थायी संधि हो पाई है, और न ऐसा कोई प्रबंध। ४ वर्षों से जनरल मैक

आर्थर का सैनिक राज्य जापान में चल रहा है और उसकी संरक्षता में जापान में इस प्रकार की शिक्षा के प्रचलन का प्रयास होरहा है कि जापानी मानस किसी प्रकार जनत्रांतिक बन पाये।

—०—

५०

मलाया, हिन्देशिया, हिन्दचीन का इतिहास

(प्रारम्भ से आज तक)

मलाया, हिंद्चीन, और हिंदेशिया के विशाल द्वीपों का मानव के आधुनिक इतिहास में बहुत महत्व है। अतएव इन देशों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित होजाना बहुत आवश्यक है। इन देशों के इतिहास को हम ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. प्राचीनकाल—सौर-पाषाणी सभ्यता का युग–आज से लगभग १०–१२ हजार वर्ष पूर्व से ईसाकाल के प्रारम्भ तक।
२. हिन्दू एवं बौद्ध साम्राज्य काल—लगभग १००–१४०० ई.
३. मलका मुसलमान साम्राज्यकाल—लगभग (१४००–१५११ ई.)
४. यूरोपीय साम्राज्यकाल— (१५११–१६४६ ई.)

५. आधुनिक स्वतन्त्र युग (१६४६-)

१. प्राचीन काल (सौर-पाषाणी सभ्यता युग आज से १०-१२ हजार वर्ष पूर्व से-ईसाकाल के प्रारम्भ तक)

आज से लगभग दस बारह हजार वर्ष पूर्व सौर पाषाणी सभ्यता पश्चिम में ठेठ स्पेन से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैली हुई थी यथा, भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश, मिश्र, उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, मेसोपोटेमिया (इराक़), इरान, संभवतः अरब, सिन्धु प्रदेश, दक्षिण भारत, चीन के तटवर्ती प्रदेश और फिर दक्षिण पूर्वीय एशिया के प्रदेश जैसे:-हिंदचीन, मलाया प्रायद्वीप, मलक्का, सुमात्रा एवं जावा द्वीप। अब तक स्यात् न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया में मानव नहीं बसे थे। उपरोक्त देशों में फैली हुई सौर-पाषाणी सभ्यता काष्र्णीय लोगों की (गोरे काले मिश्रित वर्ण वाले लोगों की) सभ्यता थी। ईसा के १०-१२ हजार या इससे भी अधिक वर्ष पूर्व उपरोक्त सभ्यता वाले देशों में अपनी ही एक विचित्र दुनियां थी, मानो उस प्राचीन युग में यदि संसार में कहीं भी कुछ मानवीय चहल पहल, हलचल थी तो इन्हीं देशों और इन्हीं काष्र्णीय लोगों में।

तो दक्षिण पूर्वीय एशिया में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, न्यूगिनी द्वीपों को छोड़कर समस्त मलेशिया, हिंदचीन, एवं हिंदेशिया (पूर्वीय द्वीप समूह) के देशों का इतिहास उपरोक्त

सौरपाषाणी कालीन काष्र्णोय लोगों की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। याद होगा कि ये काष्र्णोय लोग आर्य, मंगोल, निग्रो लोगों से भिन्न थे। उस प्राचीन, आदिकालीन मानव जाति के प्रमुख अंग ये काष्र्णोय लोग थे, जिन्होंने कृषि, पशुपालन, देव पूजा, बलि, जादू टोणा वाली सभ्यता की चहल पहल इस दुनिया में मानव के अवतरण के बाद सबसे प्रथम प्रारम्भ की थी। सौर पाषाणी सभ्यता के युग के बाद मलाया, हिंद्चीन, स्याम और उपरोक्त पूर्वीय द्वीप समूह का इतिहास ईसा काल से आरम्भ तक प्रायः अन्धकार पूर्ण रहता है। जिस प्रकार मिश्र और मेसोपोटेमिया में, दक्षिण भारत और सिंध-प्रान्त में सौरपाषाणी सभ्यता के आधार पर प्रथक प्रथक सुसंगठित सभ्यताओं का विकास हुआ, ऐसा कोई भी विकास एशिया के दक्षिण पूर्वीय देशों में नहीं हुआ। संभव है इन देशों का सम्पर्क अन्य विकास-मान सभ्य देशों से टूट गया हो, अतएव इनका विकास रुक गया हो।

२. हिंदू बौद्ध साम्राज्य काल (१००–१४०० ई.)

ईसा काल के प्रारम्भ तक अनेक शक्तिशाली हिंदू राज्य दक्षिणी भारत में स्थापित हो चुके थे। दक्षिण भारत के सामुद्रिक किनारों पर रहने वाले हिन्दू लोग कुशल नाविक थे और कुशल व्यापारी। दूर दूर देशों तक उनका व्यापार चलता था। ये ही

हिन्दू व्यापारी लोग ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी में बहुत बड़ी संख्या में पूर्वीय द्वीप समूहों की ओर बढ़े, वहां जा कर वे रहने लगे और अपने बड़े बड़े उपनिवेश बसा लिये। फिर धीरे धीरे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और अनेक उपनिवेश बौद्ध उपनिवेश हो गये।

अ. हिन्द चीन में साम्राज्य—यहां भारत से आगंतुक हिन्दू व्यापारियों की पहिले तो छोटी छोटी बस्तियां बसीं और फिर वहां छोटे छोटे हिन्दू राज्य स्थापित हो गये। बड़े बड़े सुन्दर नगरों, भवनों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। ईसा की तीसरी शताब्दी में हम पान्डुरगम नगर का विकास होता हुआ पाते हैं। पांचवीं शताब्दी में कम्बोज नामक विशाल नगरी समृद्धवान थी। ईसा की ६वीं शताब्दी में जयवर्मन नामक सम्राट के अधिनायकत्व में कम्बोडिया साम्राज्य स्थापित हुआ हम पाते हैं। जयवर्मन स्यात् बौद्ध था। उसने अंगकोर नामक एक सुन्दर विशाल नगरी बसाई जो उसके साम्राज्य की राजधानी भी थी। पूर्वीय देशों में इस नगरी के सौन्दर्य और समृद्धि की बहुत प्रशंसा थी। अनेक विशाल सौन्दर्य पूर्ण भवन और मन्दिर बने हुए थे। वे सब दक्षिण भारत की भवन निर्माण कला के नमूने थे, और स्यात् भारतीय शिल्पकारों ने ही आकर इन भवनों का निर्माण किया था। चार सौ वर्षों तक इस साम्राज्य का विकास

होता रहा किन्तु फिर उत्तर से चीनी लोगों का दबाव इस पर पड़ा और साथ ही साथ एक दुर्भाग्य-पूर्ण प्राकृतिक घटना हुई ।

वृहद्-भारत
१०० ई.पू - १२०० ई

मेंकोंग नदी में जिसके किनारे अंगकोर नगर बसा हुआ था भयंकर बाढ़ें आईं, उपजाऊ भूमि में चारों ओर पानी फैल गया और उसने नगर और भूमि सबको विनिष्ट कर दिया। इन कारणों से कम्बोडिया साम्राज्य का अन्त हुआ—और उसके स्थान पर छोटे छोटे राज्य रह गये।

ब. श्रीविजय साम्राज्य—ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के पल्लव वंशीय हिन्दू लोग सुमात्रा द्वीप में आकर रहने लगे और वहां पर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये। धीरे धीरे ये बस्तियाँ बढ़ती गईं बड़ी होती गईं और अन्त में वहां एक राज्य की स्थापना हुई जिसकी राजधानी श्रीविजय थी। श्रीविजय बहुत बड़ा नगर था जो सुमात्रा के पहाड़ी प्रदेशों में बसा हुआ था। ईसा की पांचवीं या छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और तब से वहां के लोगों का प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म ही रहा। ईसा की दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ होकर श्रीविजय राज्य दिनों दिन उन्नति करता रहा और धीरे धीरे यह एक विशाल साम्राज्य बन गया जिसमें समस्त सुमात्रा द्वीप, बोर्नियो, सिलीबीज, और फिलीपाइन द्वीप, मलाया प्रायद्वीप, लंका, आधा जावा और चीन के दक्षिण में केंटन के पास एक बन्दरगाह सम्मिलित थे। प्रायः १४ वीं शताब्दी के अन्त तक इस साम्राज्य की स्थिति बनी रही।

स. मद्‌जापहीत साम्राज्य—इन्हीं पूर्वीय प्रदेशों में जावा द्वीप के पूर्वीय भाग में एक तीसरा राज्य स्थापित था जिसकी राजधानी मद्‌जापहीत (Madjapahit) थी, और जो बाद में मद्‌जापहीत साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहिले यह केवल पूर्वीय जावा में स्थित एक छोटा सा हिन्दू राज्य था, किन्तु धीरे धीरे यहाँ के शासक अपने राज्य का विस्तार करते रहे। इस राज्य का समकालीन पूर्व कथित विशाल श्रीविजय साम्राज्य था जिसके साथ इस छोटे से राज्य के झगड़े होते रहते थे, किन्तु किसी तरह यह छोटा सा राज्य अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता था। श्रीविजय और मद्‌जापहीत राज्यों के झगड़ों का मुख्य कारण व्यापारिक होड़ और वैमनस्य था; उसी प्रकार का वैमनस्य और होड़ जैसी १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में यूरोप के विकसित होते हुए व्यापारिक देशों में यथा, स्पेन, पुर्तगाल, हौलेंड, इङ्गलैंड और फ्रांस में थी।

जब श्रीविजय और मद्‌जापहीत में यह वैमनस्य चल रहा था—एक घटना हुई। उस समय चीन में मंगोल सम्राट कुबलेखां का राज्य था। समस्त एशिया में कुबलेखां की धाक थी। उसने कुछ राजदूत और कर्मचारी मद्‌जापहीत के शासक के पास भेजे कि वह चीन के सम्राट को अपना संरक्षक माने और प्रतिवर्ष उसे कुछ भेंट दिया करे। मद्‌जापहीत में इन दूतों

का तिरस्कार किया गया, फलतः चीनी फौजों का आक्रमण जावा पर हुआ। चीनी फौजों के पास लड़ने के नये शस्त्र बारूद की बन्दूकें तो थीं, किन्तु उनकी जल सेना पर्याप्त नहीं थी, अतएव जावा को, जहां समुद्र पार करके पहुँचना पड़ता था, वे परास्त नहीं कर सके, यद्यपि जावा को नुकसान काफी उठाना पड़ा। किन्तु एक लाभ हुआ—मदजापहीत के शासक बारूद के अस्त्रशस्त्रों से परिचित होगये। इन्हीं नये शस्त्रों का प्रयोग इन्होंने श्रीविजय साम्राज्य के विरुद्ध किया, और अन्त में सन् १३७७ ई. में श्रीविजय को परास्त कर, उस विशाल साम्राज्य का अन्त किया। श्री विजय के स्थान पर मदजापहीत अब एक समृद्ध महान् साम्राज्य था। इस समय महारानी सुहिता उस साम्राज्य की साम्राज्ञी थीं।

राज्य का संगठन वहुत कुशल और अनुशासन पूर्ण था। राज्य कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रथक प्रथक कई राजकीय विभाग थे, जैसे व्यापार विभाग, उपनिवेश विभाग, लोक हितकारी एवं स्वास्थ विभाग, युद्ध विभाग, इत्यादि। भूमिकर, तटकर, एवं अन्य राजकीय आमदनी वसूल करने की सुगठित, सुव्यवस्थित प्रणाली थी। निर्यात और आयात व्यापार का भी सुन्दर प्रबन्ध था।

किन्तु, यह साम्राज्य भी अधिक वर्षों तक नहीं टिक सका। चीन के आक्रमण होते रहे—गृह युद्ध हुए, और साम्राज्य

कई स्वतंत्र छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होगया, और अन्त में १५ वीं शताब्दी में मलका के अरबी सुल्तानों का आधिपत्य इस दक्षिणी पूर्वीय दुनियां पर होगया। इसका विवरण आगे है।

भारतीय उपनिवेशों की विशेषतायें:—दक्षिण पूर्वीय दुनियां के उपरोक्त भारतीय उपनिवेश (सुमात्रा, जावा, हिंद्चीन इत्यादि) जिनकी स्थापना ईसा काल के प्रारंभ में हुई थी मुख्यतया व्यापार प्रधान थे। इन लोगों के बड़े बड़े जहाज चलते थे जो चीन, दक्षिणी भारत एवं अरब से व्यापार करते थे। जिन भारतीयों ने इन उपनिवेशों को बसाया था; और अन्य जो समय समय पर यहां आकर बसते जाते थे, उनका अपने पितृ देश भारत से राजनैतिक संवन्ध नहीं रहता था

इन भारतीय औपनिवेशिक राज्यों में सुन्दर सुन्दर नगरों की स्थापना हुई, बौद्ध एवं हिंदू मंदिरों का निर्माण हुआ जिनकी विशालता और कला का सौन्दर्य अब भी जावा और सुमात्रा के कई सैंकड़ो वर्ष पुराने अवशिष्ट मंदिरों में देखने को मिलता है। जावा का विशाल बोरो बदूर हिन्दू मन्दिर और उसके भित्ति चित्र प्राचीन कला के भव्य स्मारक हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में सुमात्रा का स्वर्ण द्वीप (सुवर्ण द्वीप) और जावा का जुवाली द्वीप (थव द्वीप) नाम से उल्लेख आता है। चीनी सभ्यता और कला का भी प्रभाव इन देशों पर पड़ा था;

हिंद चीन, स्याम और बर्मा में विशेषकर चीनी प्रभाव है, एवं सुमात्रा जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों में मुख्यतयः भारतीय प्रभाव। अपनी ही किसी स्वतन्त्र कला, दर्शन या काव्य का विकास ये लोग नहीं कर पाये। ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी से प्रारंभ होकर १४ वीं शताब्दी के अंत तक इन भारतीय औपनिवेशिक हिंदू तथा बौद्ध राज्यों की समृद्धि तथा गौरवपूर्ण स्थिति बनी रही। यह वह काल था जब यूरोप के अनेक देश असभ्यावस्था में पड़े थे और वहां (प्राचीन रोमन साम्राज्य को छोड़) सुसंगठित एवं विकसित सामाजिक एवं राजकीय संगठन प्रायः नहीं था।

३. मलका मुसलमानी साम्राज्य (४१००--१५११ ई.)
अरब लोगों का व्यापारिक सम्पर्क मलाया प्रायद्वीप और हिंदेशिया द्वीपों से बहुत प्राचीन काल से ही था, जब इस्लाम धर्म का जन्म भी नहीं हुआ था। बहुत से सेमेटिक अरब लोग इन देशों में आकर भी गये थे। फिर १४ वीं शताब्दी में अनेक मुसलमान धर्म-प्रचारक मलाया और हिंदेशिया में आये, वहाँ उन्होंने अपने धर्म का प्रचार करना आरंभ किया और इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। १४ वीं शताब्दी में मलाया और हिंदेशिया की स्थिति डांवाडोल थी। श्री विजय और मद्जापहीत राज्यों में परस्पर युद्ध चल रहे थे, उनकी

शक्ति क्षीण हो रही थी; दोनों साम्राज्य ख़त्म हो चुके थे और उनकी जगह अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति स्थिर नहीं थी। ऐसी परिस्थितियों में अनेक लोग उन राज्यों से निकल कर मलाया प्रायद्वीप में आये और वहाँ पर मलक्का नाम की एक नगरी स्थापित की। सन् १४०० ई. में मलक्का एक विशाल नगर बन चुका था। इस नगरी के शासक बौद्ध-धर्मी थे और वहाँ की प्रजा भी बौद्ध-धर्मी, किंतु १४ वीं शताब्दी में अनेक लोग मुसलमान हो चुके थे। धीरे धीरे यहाँ के शासक भी मुसलमान हो गये और इस प्रकार १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ में दक्षिण पूर्व में एक अरबो मुसलमानी राज्य का विकास हुआ।

किन्तु स्याम के बौद्ध शासक एवं मद्जापहीत के हिन्दू शासक इस नव विकसित मलक्का राज्य को चैन से नहीं बैठने देते थे। इसी काल में चीन के मिंग वंशीय सम्राट का ध्यान इधर गया, वह नहीं चाहता था कि स्याम या मंद्जापहीत राज्य उत्थान करलें और अपनी शक्ति बढ़ालें—अतएव उसने अपनी नौसेना के सेनापति चेंगहो को हिन्देशिया की ओर भेजा—वहां के शक्तिशाली राजाओं की शक्ति मिटा देने को, और चीन की विशाल शक्ति का उन्हें भान कराने को। इस परिस्थिति का मलक्का राज्य ने लाभ उठाया और चेंगहो की नौसेनां की संरक्षता

में वह धीरे धीरे अपना विस्तार करता गया, और अपनी शक्ति को बढ़ाता गया, यहांतक कि जावा द्वीप को इसने अपने आधीन कर लिया और फिर सन् १४७८ ई. में मद्जापहीत को भी परास्त किया। इस प्रकार मलका मुसलमान साम्राज्य की स्थापना हुई। इस साम्राज्य के शासक एवं राजकर्मचारी मुसलमान रहे अतः बड़े नगरों के भी अनेक लोग मुसलमान होगये, किन्तु जन साधारण में तो उनके प्राचीन धार्मिक विश्वास एवं उनकी सामाजिक मान्यतायें वैसी की वैसी चलती रहीं।

पूर्वकालीन श्रीविजय और मद्जापहीत साम्राज्यों की तरह स्यात् मलका साम्राज्य भी विकास करजाता, सुसंगठित होजाता और सैकड़ों वर्षों तक क़ायम रहता, किन्तु इस काल तक (१५वीं शती) संसार के इतिहास में एक नई शक्ति-धारा का प्रवाह प्रारम्भ हो चुका था। यह नई शक्ति थी तब तक अन्धकार में पड़े हुए यूरोपीय लोगों की। इन लोगों की साहसी सामुद्रिक यात्रायें प्रारम्भ हुई; नये नये द्वीपों नये नये सामुद्रिक मार्गों और महादेशों की खोज हुई और इन नवज्ञात द्वीपों और देशों पर अपनी सुसंगठित नौ-शक्ति एवं बारुदी अस्त्राशस्त्रों के बल पर व्यापारिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना की। ऐसा ही प्रवाह मलाया, हिन्देशिया एवं समस्त पूर्वीय देशों की ओर तीव्र गति से आया—सन् १५११ ई. में पुर्तगाली लोगों ने मलका

पर अपना क़ब्जा किया; इस प्रकार मलका साम्राज्य का अन्त हुआ। धीरे धीरे समस्त द्वीप एक के बाद दूसरे किसी न किसी यूरोपीयन शक्ति के आधीन होते गये, और इन पूर्वीय देशों और द्वीपों में यूरोपीयन साम्राज्यवाद का इतिहास प्रारम्भ हुआ। जब ये यूरोपीयन लोग इन देशों में आये, उस समय सामान्यतयः इन देशों के अनेक लोगों की सभ्यता का स्तर सौर-पाषाणी था। यद्यपि हिन्दू और बौद्ध साम्राज्य काल में सुव्यवस्थित राज्य स्थापित थे, स्थापत्य-कला का विकास हुआ था—किन्तु विशाल दृष्टिकोण और आधुनिक नव-प्रकाश की किरणें अभी उनको छू नहीं पाई थीं—इतिहास की नव-प्रवाहमान धारा को समझने की उनमें क्षमता नहीं थी।

आधुनिक काल (१५११-१९५०).
यूरोपीयन साम्राज्यवाद काल (१५११-१९४६).
स्वतंत्र जनराज्य युग (१९४६-१९५०).

हिंदचीन—प्रायः १४वीं शताब्दी तक इस देश में हिन्दू कम्बोडिया साम्राज्य रहा, इस साम्राज्य के छिन्न भिन्न होजाने के बाद यह देश चीन सम्राट के आधीन हुआ, तदंतर १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यूरोपीय देश फ्रांस का यहाँ आधिपत्य स्थापित हुआ। तब से आज तक (१९५०) हिंदचीन फ्रांसीसी साम्राज्य का पूर्व में एक प्रमुख अंग बन रहा है। द्वितीय महायुद्ध

के बाद देश में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये एक क्रांति की लहर वहाँ के लोगों में व्याप्त हुई, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के वश फ्रांस की संरक्षता में हिंदचीन के पुराने राज्यवंश के राजा बाओदाई के शासनत्व में सन् १९४९ में स्वराज्य की स्थापना हुई। किंतु देश के एक अन्य नेता होचिनमीन के नेतृत्व में, जो साम्यवादी है और जिसे साम्यवादी रूस की शह प्राप्त है– देश के लिये पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करने के प्रयास में लगा हुआ है, और फलस्वरूप देश में एक प्रकार का गृह-युद्ध सा छिड़ा हुआ है–एक ओर है फ्रांस की संरक्षता में बाओदाई की राष्ट्रीय सरकार, दूसरी ओर रूस की शह प्राप्त साम्यवादी होचिनमीन की गुरिल्ला फौजें।

मलाया- मुसलमान सुल्तान को परास्त कर सन् १५११ में पुर्तगाली लोगों ने क़ब्जा किया। सन् १६४१ में मलाया डच लोगों के हाथों में गया, फिर लगभग १५० वर्षों बाद सन् १७९५ ई. में यह ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना। तब से आज तक (१९५०) यह ब्रिटेन के ही आधीन है। वास्तव में समस्त मलाया प्रायद्वीप के तीन राजनैतिक खंड हैं—(१) सींगापुर और उसके आसपास के टापू जिन पर सीधा अंग्रेजों का अधिकार है। (२) मलाया राज्यों का संघ। इस संघ में छोटे छोटे राज्य हैं, जिनके शासनकर्त्ता प्राचीन मल्लका-राज्य के शासकों के वंशज

सुल्तान हैं, किंतु ये सब सुल्तान हैं वास्तव में अंग्रेज हाईकमीश्नर के आधीन। (३) ऐसे मलाया राज्य जो संघ में शामिल नहीं हैं, इन राज्यों के सुल्तान अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र हैं।

फीलीपाइन द्वीप–यूरोपीयन देशों को इन द्वीपों का पता सबसे पहिले सन् १५२१ ई. में पुर्तगालवासी प्रसिद्ध नाविक फरदीनैंद मेजेलिन की खोज से लगा। मेजेलिन स्पेनिश जहाजी बेड़े को लेकर सामुद्रिक रास्ते से दुनियां का चक्कर लगा रहा था, तभी उसे इन द्वीपों का पता लगा था। १४वीं शती तक तो यहाँ श्री विजय हिंदू साम्राज्य था। श्री विजय साम्राज्य के विश्रृंखल होने के पश्चात यहाँ की स्थिति डांवाडोल रही, ऐसी स्थिति में सन् १५६५ ई. में यहाँ स्पेन का साम्राज्य स्थापित हुआ। स्पेन से अनेक ईसाई धर्म प्रचारक भी फीलीपाइन में आये–प्रायः सारी प्रजाने धीरे धीरे ईसाई धर्म ग्रहण करलिया। फिलीपन लोग मुख्यतः मलायन उपजाति के लोग हैं (स्यात् सौर पाषाणी युग के गोरे काले मिश्रित वर्ण के लोग)। हिंदू और मुसलमान तत्व का सम्मिश्रण उनमें ायः नहीं होपाया था, जैसा सुमात्रा, जावा, मलाया आदि में होगया था। हजारों स्पेनिश लोग यहाँ आकर बस गये थे,–वे अब फिलीपाइन के ही वासी होगये थे और वहीं के जीवन में घुल मिल गये थे। प्रायः ३०० वर्षों तक स्पेन का आर्थिक शोषण यहाँ चलता रहा, बड़े बड़े स्पेनिश

जमीदार यहाँ बने, राजकीय शक्ति इन्हीं स्पेनिश-जमीदारों एवं ईसाई गिरजाओं के हाथों में केन्द्रित थी, स्पेन के सम्राट का स्पेन की राजधानी मेडरिड से तो नाममात्र का अंकुश था। फिलीपाइन निवासियों ने स्पेनिश राज्य के विरुद्ध विद्रोह भी किया, विद्रोहियों का नेता था अग्विनाल्डो। इसी समय, उधर यूरोप में अमेरिका और स्पेन का युद्ध छिड़गया, अतएव फिलीपाइन द्वीप पर भी अमेरिका का हमला हुआ। स्पेन की पराजय हुई, फिलीपाइन द्वीप में स्पेनिश साम्राज्य का अंत हुआ, और १६०१ में अमेरिकन साम्राज्य की स्थापना। फिलीपाइन नेता अग्विनाल्डो का विद्रोह अमेरिका के विरुद्ध भी होता रहा, किंतु वह पकड़ा गया और विद्रोह समाप्त होगया।

अमेरिका के आधीन फिलीपइन द्वीपों का आर्थिक विकास हुआ और साथ ही साथ जनतांत्रिक शासन प्रणाली का भी। स्वतंत्रता के लिये राष्ट्रीय आंदोलन चलते रहे, जिनका प्रमुख नेता था मैन्यूल क्वीजोन। धीरे धीरे अमेरिका इन द्वीपों को स्वायत्त शासन के अधिकार देता रहा। अंत में सन् १६३४ में अमेरिका ने एक बिल पास किया (टाईडिंग्स मैक्डफ बिल), जिसके अनुसार फिलीपाइन को स्वराज्य मिला और यह आश्वासन कि १६४६ में पूर्ण स्वतंत्रता देदी जायेगी। किंतु १६३६ में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होगया, फिलीपाइन पर जापान

का अधिकार होगया। फिर १९४५ में जापान की युद्ध में पराजय हुई, और पूर्ववत फिलीपाइन पर अमेरिका का अधिकार। किंतु उपरोक्त १९३४ में दिये गये आश्वासन के अनुसार सन् १९४६ में फिलीपाइन पूर्णस्वतंत्र घोषित करदिया गया, और सब अमेरिकन अधिकारी वहाँ से हटालिये गये। अब वह एक स्वतंत्र जनतंत्रात्मक राज्य है, और अमेरिका के समान अध्यक्षात्मक जनतंत्रीय वहाँ की शासन प्रणाली। आज सन् १९५० में क्विरोनो (Quirono) वहाँ का राष्ट्रपति है और जनरल रोम्यूलो जो संयुक्तराष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली का प्रेसीडेन्ट रहचुका है, वहाँ का विदेश मंत्री।

हिंदेशिया—(सुमात्रा, जावा, सीलीबीज, बोर्नियो द्वीप इत्यादि) ईसा के पहिली या दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ हो कर १४वीं शताब्दी तक इन द्वीपों में दो महान् साम्राज्य रहे—श्री विजय बौद्ध साम्राज्य एवं मदजापहीत हिन्दू साम्राज्य। फिर १५वीं शती में इन द्वीपों में मलक्का के मुसलमानी सुल्तानों का राज्य कायम हुआ। थोड़े से वर्ष ही यह साम्राज्य चल पाया। सन् १५११ में पुर्तगाली लोगों ने मलक्का साम्राज्य का अंत किया और तब से समस्त पूर्वीय द्वीप समूहों का व्यापार और उनकी राजनैतिक सत्ता पुर्तगाल के हाथों में रही। किन्तु यूरोप में पुर्तगाल, स्पेन, और हौलेंड के डच लोगों में अनेक झगड़े और युद्ध

हुए,- स्पेन और पुर्तगाल की हार हुई, फलस्वरुप हिन्देशिया से पुर्तगाली लोगों को हटना पड़ा और १७वीं शती के मध्य तक, केवल उत्तरीय बोर्नियो को छोड़कर समस्त हिंदेशिया द्वीपों पर डच लोगों का साम्राज्य स्थापित हो गया। तब से द्वितीय महा-युद्ध के काल तक डच लोगों का साम्राज्य वहां रहा; द्वितीय महायुद्ध में सन् १९४१-४२ के आस पास समस्त दक्षिण पूर्वीय एशिया जापानी साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया; किन्तु १९४६ में जापान के परास्त हो जाने के बाद फिर डच लोगों का आधिपत्य समस्त द्वीपों पर जैसे पहिले था वैसा स्थापित हो गया।

किन्तु एशिया में क्रान्ति की चिंगारियां लग चुकी थीं। राष्ट्रीयता की तीव्र लहर एशिया के समस्त देशों में उद्वेलित हो उठी थी—इस राष्ट्रीयता की क्रांतिमयी शक्ति के सामने यूरोपीय साम्राज्य वादियों का डटना असंभव सा हो गया। हिंदेशिया के जन साधारण डच राज्य की सुसंगठित सेना के सामने गोरिल्ला ढंग की लड़ाई लड़ने लगे, जहां कहीं मौका पाते चुटपुट डच लोगों पर हमला कर देते और फिर पहाड़ों में एवं घने जंगलों में छिप जाते। इस तरह की लड़ाई से डच सेनायें तङ्ग थीं—उधर हिंदेशिया के शिक्षित नेता लोगों को स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए प्रेरित करते रहते थे और राष्ट्र संघ में अपने देश की स्वतन्त्रता की मांग को न्यायोचित सिद्ध करते रहते थे—संसार

के देशों पर इसका प्रभाव पड़ा; भारत के नेता पं० जवाहरलाल नेहरु ने दुनिया के सामने एशिया की स्वतन्त्रता का जयघोष किया। अतएव कई गोलमेज परिषदों के बाद अन्त में डच सरकार और हिंदेशिया के राष्ट्रीय नेताओं की होलैण्ड की राजधानी हेग में एक परिषद् एकत्रित हुई, और यह तय हुआ कि सम्पूर्ण अधिकार हिंदेशिया के प्रतिनिधियों को सौंप दिये जायें। इस प्रकार २७ दिसम्बर १९४९ के दिन स्वतन्त्र सार्वभौम शक्ति सम्पन्न संयुक्त हिंदेशिया जनराज्य का जन्म हुआ।

आज हिन्देशिया के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, सीलीबीज एवं अन्य छोटे मोटे २००० द्वीपों में एक स्वतन्त्र संघ राज्य है। इस गण राज्य के राष्ट्रपति हैं शिवकरनों और प्रधान मंत्री हैं डा० मुहम्मद हद्दा। लगभग ८ करोड़ मानवों की बस्ती वाले ये महान् द्वीप आज स्वतन्त्र हैं; गरम मसाले, रबड़, टिन, कुनीन, पैट्रोल, चावल, चाय, चीनी, तम्बाकू की घनी उपज के रुप में धन धान्य से पूर्ण,—विकास की अपने में अपूर्व क्षमता लिए हुए।

इस प्रकार हमने देखा :–दक्षिण पूर्वीय एशिया का प्रारंभिक सौर–पाषाणी सभ्यता का मानव समय समय पर कई जातियों के मेल से बनता हुआ, पहिली शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक हिन्दू और बौद्ध साम्राज्यों में से; फिर १५वीं शताब्दी में मुसलमानी साम्राज्य में से, और फिर १६वीं

शताब्दी से २०वीं शताब्दी के मध्यकाल तक यूरोपीय साम्राज्य में से गुजरता हुआ, आज सन् १६५० में स्वतन्त्र होकर खड़ा हुआ है, और इस स्थिति में है कि समस्त मानव जाति के विकास में स्वतन्त्र अपना कुछ सहयोग दे सके।

—×—

५१

आधुनिक भारत

मुगल राज्य काल (१५२६–१७०७ ई.) लगभग २०० वर्ष

[बाबर से ओरंगज़ेब तक। उसके पश्चात मुगल साम्राज्य की परम्परा चाहे १८५७–ई. तक चलती रही, किन्तु नाम मात्र]

भारत में १२०६ ई. से जो परम्परा इस्लामी राज्य की चली उसका अंतिम केन्द्रीय शासक इब्राहिमलोदी था। सन् १५२६ ई. में एक मुगल सरदार (ये मुगल कौन थे–इसका विवरण यथा स्थान हो चुका है--देखिये अध्याय ३८) जिसका नाम बाबर था भारत पर चढ़ आया; पानीपत की लड़ाई में उसने इब्राहिम लोदी को परास्त किया और इस प्रकार १५२६ ई. में भारत में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी। आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व मुगल राज्य की स्थापना काल से ही

भारतीय इतिहास का वर्तमान युग माना जाता है। लगभग १६ वीं शती के आरंभ से ही यूरोप और चीन में भी वर्तमान युग की शुरुआत मानी जाती है।

भारत में मुगल साम्राज्य के प्रथम २०० वर्षों का काल यथा स्थापना काल से सन् १७०७ तक, बाबर, हूमायुं, अकबर, जहाँगीर, शाँहजहां और औरंगजेब का राज्य-काल, शक्तिशाली साम्राज्य के उत्थान और देश में वैभव और समृद्धि का युग माना जाता है। इन सम्राटों में भी केवल सम्राट अकबर का ऐसा व्यक्तित्व है, जिसकी गणना विश्व इतिहास के महान् सम्राटों में हो सकती है। अकबर जब शासनारूढ़ हुआ तो उस समय मुगल राज्य केवल दिल्ली और आगरा और समीपस्थ प्रदेशों तक सीमित था। पश्चिम में--राजपूताने में राजपूत राजाओं के राज्य थे जिनमें प्रमुख थे मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर, और जयपुर,--पूर्वीय प्रान्तों में पठान काल के स्वतन्त्र पठान शासक थे और दक्षिण में कई स्वतन्त्र हिन्दू और मुसलमान राज्य। किन्तु अकबर नें अपनी मानसिक, बौद्धिक योग्यता और युद्ध कौशल से सुदूर दक्षिण के कुछ प्रांतों को छोड़कर समस्त भारत को विजय कर एक राज्य सूत्र में बांध दिया। समस्त मुसलमानी काल में यह एक सम्राट था जो यह समझ सका था कि भारत हिन्दुओं का देश है अतएव हिन्दुओं से मिलकर, उनके साथ एकात्म होकर ही यहाँ पर कोई राज्य

चल सकता है। अतएव उसने राजपूत राजाओं से कौटुम्बिक संबन्ध स्थापित किये–जयपुर नरेश की कन्या से विवाह किया,– विशिष्ट राजपूतों को प्रान्तों का शासक नियुक्त किया, राजा मानसिंह को अपना सेनापति बनाया–उसी ने काबुल कंधार, बंगाल, दक्षिण के प्राँतों को परास्त कर मुगल साम्राज्य का अंग बनाया। अकबर एवं अन्य मुगल सम्राटों द्वारा हिंदू राजपूत राजाओं पर विजय के इस इतिहास में मेवाड़ के राणा प्रतापसिंह का अपनी स्वतन्त्रता के लिये मृत्यु पर्यन्त युद्ध करते रहना–मुगलों की आधीनता स्वीकार नहीं करना–हिंदू जाति के इतिहास की एक रोमाञ्चकारी गौरवमय गाथा है। स्वयं अकबर को–वह अकबर जिसके साम्राज्य के बराबर १६ वीं शती उत्तरार्ध में संसार में और कोई राज्य नहीं था–प्रताप की वीरता का लोहा मानना पड़ा, और उसके एक सेनापति अबुर्रहीम खानखाना ने तो प्रताप को यह लिखकर भेजा–"पतो (प्रताप) ने धन और देश त्याग दिया, किन्तु अपना सिर नहीं झुकाया। भारतवर्ष के समस्त राजाओं में केवल उसने अपनी जाति का मान स्थिर रखा है।"

भारतीय इतिहास के समस्त इस्लामी काल में केवल अकबर को हम एक राष्ट्रीय राजा कह सकते हैं। वह विचारशील व्यक्ति था, धर्म के मूलतत्त्वों को पाने की उसकी उत्कट इच्छा थी—अतएव अन्ध-विश्वास पर आधारित धार्मिक कट्टरता का

वह विरोधी था। उसके राज्य काल में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। आगरा शहर के पास फतहपुर-सीकरी में उसने एक इबादतखाना (प्रार्थना गृह) बनवाया-जहां उस काल के सभी प्रमुख धर्मों के यथा हिन्दू, जैन, पारसी, मुसलमान एवं ईसाई शास्त्रज्ञ एकत्रित होते थे और अपने अपने धर्म की विशेषताओं की चर्चा करते थे-ध्येय यही था कि विचार द्वारा सत्य-तत्व तक पहुंच जाए। इस्लाम के उस धार्मिक कट्टरता के काल में एक इस्लामी बादशाह के इस धर्म समत्वयात्मक कार्य के पीछे कितने साहस और आत्मबल की आवश्यकता हुई होगी-इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक अनुदारता के उस जमाने में अकबर का यह समत्वयात्मक कार्य जिस पर अनेक अंशों तक राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भी आधारित होती है-सफल नहीं हो सका, किन्तु इससे यह आभास अवश्य मिलता है कि अकबर का मानस कितना विकसित था और उसमें कितनी दूरदर्शिता थी।

अकबर का राज्य आधुनिक ढङ्ग से सुव्यवस्थित था-प्रजा उसमें प्रसन्न और सुखी थी। उसके राज्य काल में कला संगीत और साहित्य की खूब उन्नति हुई। वेद, रामायण, महाभारत के फारसी में अनुवाद हुए। फारसी में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये-जिनमें अकबर के एक राजदरबारी अद्वितीय

विद्वान अबुलफज्ल द्वारा रचित "आइने-अकबरी" एक प्रमुख ग्रन्थ है। १६वीं शती के आरम्भ में ग्वालियर में एक संगीत विद्यालय की स्थापना हुई, उसी विद्यालय के प्रसिद्ध गायक तानसेन अकबर के दरबार के विशिष्ट सदस्य बने। चित्र कला में भारतीय शैली और ईरानी शैली के सामंजस्य से एक नई शैली का विकास हुआ। अकबर के ही राज्य-काल में आगरे के प्रसिद्ध लाल किले का निर्माण हुआ तथा फतहपुर सीकरी के सुन्दर महल बने एवं वृन्दावन में अनेक भव्य और विशाल हिन्दू मन्दिर। किन्तु इन सब बातों से परे और ऊपर एक घटना हुई–हिन्दी में अद्वितीय सत् साहित्य की उद्भावना। उस साहित्य ने उस युग के जनजन के हृदय को तो वशीभूत किया ही–किन्तु इतनी शताब्दियों बाद आज भी वह साहित्य जनजन के हृदय में आनन्दमय रस का उद्रेक करता रहता है–और युग युग तक रहेगा। इस साहित्य के स्रष्टा थे तुलसीदास और सूरदास तुलसी का 'रामायण', सूर का 'सूरसागर' विश्व साहित्य के अनमोल ग्रन्थ हैं। यही काल इङ्गलैंड के इतिहास का भी गौरव-पूर्ण और समृद्ध युग था–जब वहां की शासनकर्त्ता रानी एलिजा-बेथ थी–और उस देश ने पैदा किया था विश्वकवि और नाट्यकार शेक्सपीयर। इसी काल में पूर्ण उल्लेखित गुरु नानक की परम्परा में ५वें गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओं की वाणियों तथा अन्य संत कवियों के वचनों का संकलन पंजाबी भाषा में एक

ग्रन्थ रुप में तैयार किया। जो पंजाब की वीर जाति सिक्खों का "गुरु ग्रन्थ साहब" के नाम से धर्म ग्रन्थ बना। इसी काल के कुछ बाद महाराष्ट्र में महान् भक्त कवि तुकाराम और भक्त महापुरुष समर्थ रामदास का उद्‍भव हुआ।

अकबर के बाद उसका पुत्र जहांगीर (१६०५–२७) मुगल सम्राट हुआ। यूरोपीय जातियों का पदार्पण भारत में होने लगा था और उन्होंने अपनी कई व्यापारिक कोठियां समुद्र तटीय प्रदेशों में बनाली थीं, इसका उल्लेख पहले हो ही चुका है। जहांगीर राज्यकाल में इङ्गलैंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत जिसका नाम सर टामस रो था भारत आया–और वहां मुगल सम्राट जहांगीर से अजमेर में मिला। सर टामस रो ने सम्राट से अपनी जाति (अंग्रेज) के लिये भारत में व्यापार करने का परवाना लिया, और साथ ही अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार स्वयं शासन करने का अधिकार भी प्राप्त किया। फलतः अंग्रेजों ने सूरत में अपनी व्यापारिक कोठी खोली और धीरे धीरे उन्होंने अपने व्यापार और सत्ता का विस्तार प्रारम्भ किया।

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां (१६२७–५८) शासनारुढ़ हुआ। यह स्थापत्य, चित्रकला, और संगीत की समृद्धि का युग था। शांहजहां ने अपनी साध्वी रानी मुमताज-

महल की समृति में यमुना नदी के किनारे आगरे में भव्यइमारत "ताजमहल" का निर्माण किया। संगमरमर में अंकित मानो यह मानव हृदय की कविता है-मानव प्रेम का प्रतीक। संसार के भवनों में यह एक अद्भुत कृति मानी जाती है। शांहजहां के राज्यकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा तक निखर उठा था। उस वैभव को देखकर-विदेशी चकित होते थे—यूरोपीय देशों में तब तक इतनी समृद्धि और इतने वैभव का नितान्त अभाव था—यद्यपि वे अब जागृत हो चुके थे और ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ़ने लगे थे।

शांहजहां के बाद उसका पुत्र औरंगजेब (१६५८-१७०७) अपने भाइयों को कत्ल करके, सम्राट बना। राज्य-प्रबन्ध और विस्तार में, एवं देश की दो जातियों हिन्दू और मुसलमानों में एक देशीयता की भावना उत्पन्न करने में जिस उदार नीति का बर्तन अकबर और उसके बाद दो और सम्राटों ने किया था,— औरंगजेब ने वह सब बदल दिया। इस्लामियत के कट्टरपन में उसने हिन्दुओं पर कुफ्र ढाहा और उनके धर्म पर आघात करना शुरु किया, एतदर्थ यद्यपि वह पराक्रमी. संयमी और कर्तव्य-परायण शासक था-और यद्यपि उसने मुगल साम्राज्य की सीमायें ठेठ दक्षिण तक बढ़ा दीं, तदपि उसने इस विशाल और समृद्ध साम्राज्य के विनाश के बीज अपनी नीति से बो दिये-अनेक

अपने विरोधी पैदा कर लिये-जिनमें दक्षिण के मुसलमान राज्य भी थे;—यहां तक की यह साम्राज्य उसके आंखों के सामने ही बोदा और दिवालिया हो गया । साथ ही साथ इस काल में महाराष्ट्र में हिन्दूत्व की भावना से प्रेरित एक अपूर्व शक्ति का जन्म हुआ-वह मराठा शक्ति थी, और उसका प्रवर्त्तक था महाराज शिवाजी। इस शक्ति ने तो मुगल साम्राज्य को चूर्ण कर दिया। सन् १७०७ में मराठों से लड़ते लड़ते उनको परास्त करने की अपनी प्रबल इच्छा को पूरा किये बिना ही-जब औरंगजेब इस संसार से चल बसा-तभी से मानो मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। देश अनेक स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त हो गया। नाम मात्र को सम्राटों की परम्परा और वंशावली तो १५० वर्षों तक यथा १८५७ तक चलती रही-किन्तु केवल नाम मात्र;—देश में कई स्वतन्त्र राज्य होते हुए भी वास्तविक शक्ति और सत्ता सन् १८१८ तक तो मराठों में निहित रही और फिर अंग्रेज जिन्होंने १८वीं शती के आरम्भ से ही इस देश में धीरे धीरे जमना प्रारम्भ कर दिया था इस विशाल देश के अधिपति बने।

मराठा राज्य काल (१७०७-१८१८)

हिन्दू मराठा शक्ति के जन्म दाता महाराष्ट्र प्रदेश में उत्पन्न छत्रपति शिवाजी (१६२७-८०) थे, जिसमें हिन्दुत्व के गहन संस्कार उनके बाल्यकाल में ही उनकी माता ने महाभारत,

रामायण, राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन की कथायें सुना सुना कर प्रतिष्ठित कर दिये थे। धीरे धीरे महाराष्ट्र में शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया ! औरंगजेब उस समय भारत का सम्राट था–दक्षिण में औरंगजेब और शिवाजी की ठन गई—किन्तु औरंगजेब अपनी असंख्य सेना और विशाल सम्राट के बल पर भी इस अदम्य सिपाही के पौरुष को दबा नहीं सका, और गोरिल्ला रण नीति से महाराष्ट्र में छोटा सा स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित राज्य जो इसने स्थापित किया था–उसको मुगल सम्राट अपने साम्राज्य में विलीन नहीं कर सका। १६८० ई. में शिवाजी के देहावसान के बाद शिवाजी के उत्तराधिकारी सुसंगठित मराठे निकटवर्ती मुगल प्रदेशों पर आक्रमण कर करके अपने राज्य का विस्तार करते रहे, औरंगजेब वर्षों तक मराठों से जम कर लड़ता रहा–लाखों मुगल सैनिकों की क्षति हुई–दिल्ली का खजाना खत्म हुआ–किन्तु मराठे परास्त नहीं हुए–। मराठों को जीतने की अपनी अपूर्ण इच्छा को लेकर ही औरंगजेब की १७०७ ई. में मृत्यु हो गई–उसकी मृत्यु के बाद कोई योग्य मुगल सम्राट नहीं हुआ—अतः मराठों की शक्ति में अभिवृद्धि होती रही–यहां तक की लगभग सन् १७८०–९० तक भारत वर्ष का मध्य भाग उत्तर में चंबल नदी से दक्षिण में कृष्णा नदी तक मराठों के आधीन हो गया–५ बड़े बड़े मराठा राज्य स्थापित हुए जो एक महाराष्ट्र संघ में सम्मिलित थे । (१) सितारा में

शिवाजी के उत्तराधिकारियों का राज्य–उनके ब्राह्मण मंत्री पेशवाओं की संरक्षता में (२) गुजरात में गायकवाड़ का राज्य जिसकी राजधानी बड़ौदा थी (३) मालवा और इन्दौर में होल्कर (४) ग्वालियर में सिंधिया वंश (५) मध्य भारत तथा नागपुर में 'भोंसला वंश'।

मरहठे अपने राज्यों के आसपास अन्य स्वतन्त्र राज्यों में भी चारों ओर चक्कर लगाते थे–तथा जबरदस्ती उनसे कर (चौथ) एकत्रित करते थे। वास्तव में इस समय समस्त भारत में मराठों की तूती बोल रही थी। मराठों के हृदय में मुगलों को निकालकर दिल्ली में अपना राज्य स्थापित करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। मुगलों की शक्ति तो प्रायः क्षीण भी कर दी गई थी–किन्तु उस समय भारतीय इतिहास से परे की एक घटना हो गई। उस समय ईरान का शासक अहमदशाह अब्दाली था–उत्तरी भारत पर लूटमार के लिये इसके आक्रमण हुआ करते थे। अब्दाली द्वारा विजित पंजाब प्रान्त में उसी का पुत्र शासक नियुक्त था–मराठों ने इसको मार डाला–फलस्वरूप अहमदशाह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित कर (लगभग ६० हजार सैनिक) मराठों से प्रतिकार के लिये भारत पर चढ़ आया–मराठे भी तैयार थे। पानीपत के मैदान में भयङ्कर युद्ध हुआ–और यद्यपि अब्दाली की बहुत क्षति हुई किन्तु अन्त में

वह जीत गया। वह चाहता तो भारत में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता था किन्तु वह केवल प्रतिकार के लिये आया था उसकी सेना में भी विद्रोह होने लगा था अतः–विजय के बाद केवल लूटमार करके वह लौट गया। मुगलों की शक्ति का तो सर्वथा ह्रास हो ही चुका था–किन्तु इस युद्ध के बाद मराठों की शक्ति भी क्षीण हो गई। फलस्वरूप यूरोप की व्यापारिक जातियों को जिन्होंने भारत में अपना पैर तो पहले से ही जमाना शुरु कर दिया था, स्थान स्थान पर अपना प्रभाव जमाने का मौका मिला–बंगाल में अंग्रेजों ने धाक जमा ली और दक्षिण में फ्रांसीसियों नें। उत्तर भारत (पंजाब) में स्वतन्त्र सिक्खों ने अपने अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित करना शूरु कर दिया और इधर राजपूत, जाट इत्यादि भी स्वतन्त्र छोटे छोटे राज्य स्थापित करने में सफल हुए।

किंतु मराठे फिर उत्थित हुए। १० वर्ष में ही उन्होंने अपनी शक्ति का संचय किया और अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। फिर एक बार वे दिल्ली आ पहुँचे और उनकी शक्ति का सम्मान भारत करने लगा। भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व के लिये इस समय तक यूरोपीय अंग्रेज जाति की शक्ति खूब बढ़ चुकी थी–बंगाल, बिहार में, तथा मद्रास में वहाँ की प्रादेशिक शक्तियों को एक दूसरे से भिड़ाकर उसने धीरे धीरे अपना राज्य कायम

कर लिया था, सम्पूर्ण भारत में अपना एकाधिपत्य साम्राज्य विस्तार करलेने की उसकी महत्त्वाकांक्षा थी। भारत में इस समय मुख्यतया दो शक्तियाँ थीं—मराठे और अंग्रेज। दोनों शक्तियों की टक्कर हुई। निरंतर ३० वर्ष पर्यन्त संग्राम चला, अंग्रेजों ने यहाँ भी भेदनीति अपनाई। जैसा ऊपर कहा जाचुका है ५ भिन्न भिन्न मराठा राज्य थे जो एक संघ (Confideration) में संगठित थे—किंतु इस संघ का बंधन दृढ़ नहीं था। १८१७–१८ में अंतिम युद्ध हुआ—अंतम में मराठों की हार हुई—अंग्रेजों ने मराठा शक्ति का अंत करदिया—अतः भारत के समस्त मध्य भाग पर अंग्रेजों की सत्ता की तूती बोलने लगी। भारत में एक बार जो आशा उदय हुई थी कि हिंदू मराठा समस्त विदेशी शक्तियों की महत्ता हटा भारत में एक केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करेंगे—उसका हमेशा के लिये अन्त होगया—सन् १८१८ में मराठों की हार के बाद केवल अंग्रेज ही भारत में एक शक्ति बची और उसने समस्त भारत पर अपना अधिकार कर लिया।

१८वीं शती का भारतीय समाज

इसे हम हिन्दू पुनरुत्थान काल मान सकते हैं। १५वीं १६वीं सदियों में रामानन्द, कबीर, नानक, सूफी सन्त और फिर चैतन्य, मीरा, तुलसी, सूर, समर्थ रामदास, तुकाराम की भावनाओं में जो धार्मिक सुधार विदित था—उसी के आधार पर हिन्दू

पुनरुत्थान युग आया था–और १८वीं शती में महाराष्ट्र बृज पंजाब और नेपाल में एक राजनैतिक सचेष्टता प्रकट हुई थी— और फलस्वरुप दिल्ली साम्राज्य पर मराठों द्वारा हिन्दू साम्राज्य स्थापित होने को था–किन्तु अंग्रेज बीच में पड़ चुके थे।

साहित्य और कला:—१८वीं शती में दिल्ली, मेरठ (उत्तर पांचाल) में खड़ी बोली (आधुनिक हिन्दी और उर्दू की आधार बोली) का विकास हो चुका था, और दिल्ली साम्राज्य के सहारे वह प्राय: समस्त भारत में समझे जाने लगी थी। अभी यह केवल बोली के ही रुप में थी- इसमें किसी साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था—हाँ फारसी लिपि में लिखित खड़ी बोली में जिसको उर्दू का नाम मिला था, कवितायें लिखी जाने लगीं थीं। अन्य देशीय (प्रान्तीय) भाषाओं में मराठी को छोड़ किसी में भी गद्य साहित्य की रचना प्रारम्भ नहीं हुई थी। जहां जहां मराठों का राज्य पहुँचा था; वहां वहां हिन्दू मन्दिरों का पुन-रुत्थान हुआ—एवं अनेक नये मन्दिरों का निर्माण भी। इस काल का काशी का विश्वनाथ मंदिर, उज्जेन का महाकाल मंदिर अमृतसर का सिक्खों का गुरुद्वारा एवं जयपुर की वेधशालायें उल्लेखनीय हैं।

जनता का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन:-कृषक, कारीगर और व्यापारी जनता प्राय: खुशहाल और सुखी थी,

यद्यपि राजविप्लव होते रहते थे। मराठा पेशवा की राजधानी पूना बड़ी धनी और फलती फूलती नगरी थी। गांवों में पंचायतें कायम थीं। महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड में स्त्रियां वीर थीं। प्रत्येक मराठा और बुन्देली युवती को घुड़सवारी का अच्छा अभ्यास रहता था। किन्तु अन्य प्रान्तों में स्त्रियों की दशा गिरी हुई थी। धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णता की वजह से हिन्दू और मुसलमानों के जीवन में अभी तक एक अस्वाभाविक अन्तर बना हुआ था–जो अब तक भी है।

भारतीय जीवन में एक बार यह पुनरुत्थान की लहर उठी थी किन्तु वह सफल नहीं हो पाई। इसके कई कारण थे:– भारत में राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीय संगठन का अभाव था अंग्रेज जाति की प्रगति का आधार ही राष्ट्रीयता एवं सुदृढ़ राष्ट्रीय संगठन था। राष्ट्रीयता की भावना महाराष्ट्र में पर्याप्त, जागृत थी–किन्तु उसमें उचित विस्तार नहीं हो पाया था,-वह देशव्यापी तो कभी नहीं हो पाई। राष्ट्रीयता की चेतना धुंधली थी। दूसरा कारण था भारतीयों में जागरुकता और जिज्ञासा का नितान्त अभाव–एवं सामाजिक बौद्धिक संकीर्णता का साम्राज्य। यद्यपि वे यूरोपीयन जाति के सम्पर्क में आ चुके थे, तथापि दुनियां में चारों तरफ क्या हो रहा है यह जानने की उनमें चेतना ही पैदा नहीं होती थी–दुनियां की बात तो छोड़ो

उन्हें यही जानने की उत्सुकता नहीं रहती थी कि उन्हीं के देश के कोने कोने में क्या हो रहा है। विदेशियों को इस देश का अधिक ज्ञान था बजाय इस देश के रहने वाले स्वयं पंडित ज्ञानियों को,-साधारण जन की बात तो छोड़ दो। यूरोप में व्यवसायिक क्रांति हो चुकी थीं–अनेक आश्चर्यजनक मशीनों का, उत्पादन के यान्त्रिक साधनों का, आधुनिक जहाज-रानी, तोप, बन्दूकों का, पुस्तकों की छपाई का अविष्कार हो चुका था,-- स्वयं तो इस कार्य क्षमता की ओर प्रवृत होने की बात तो जाने दें, उनको दूसरों द्वारा इन अविष्कृत चीजों को अपनाने की भी उद्भावना नहीं होती थी--यह नहीं कि भारत में होशियार कारीगर न हों-एक से एक होशियार कारीगर थे–नये काम को नकल करने की भी उनकी क्षमता थी-किन्तु संगठित रुप से कुछ कर गुजरनें की किसी में भी लहर पैदा नहीं हुई थी–वास्तव में लोग अजब शिथिल, जिज्ञासाहीन और दृष्टि-शून्य थे– महानिद्रा में सोए हुए।

भारत–अंग्रेज राज्य काल

(१८१८–१९४७ लगभग १२५ वर्ष)

पच्छिम से सम्पर्क १५ वीं शती के उत्तरार्ध में यूरोप में नव-जागृति की लहर उठी। उसके पूर्व यूरोप मध्य-युग के प्राय: अंधकारमय युग में विलीन था। उसने तब तक (प्राचीन

ग्रीस और रोम को छोड़कर जिनकी सभ्यता विलीन हो चुकी थी) न उस समृद्धि न उस उत्थान, ज्ञान, विज्ञान के दर्शन किए थे जिसको भारत अपने इतिहास के गुप्त-युग (५–६ शताब्दी) में एवं चीन तांग राज्य काल में देख चुका था। किंतु गुप्त युग के बाद भारत में धीरे धीरे जीवन और विचार धारा में स्फूर्ति और मौलिकता का ह्रास होता गया धीरे धीरे संकीर्णता, स्थिरता और जड़ता आने लगी। वस्तुत: भारत के गुप्त युग के बाद लगभग १००० वर्षों तक समस्त संसार मानों गति हीन सा था; उसे ज्ञान विज्ञान में जो कुछ गुप्त युग तक ज्ञान हो चुका था उसके आगे उसने कुछ भी नई उद्भावना एवं प्रगति नहीं की थी। एक हजार वर्षों की सुषुप्ति के बाद ज्ञान विज्ञान में नई अन्वेषणाओं तथा प्रगति का तार केवल यूरोप के नव जागृत समाज ने १५–१६ वीं शताब्दी में पकड़ा-शेष सब देश अपने पुराने वैभव की स्मृति में निश्चित सो गए–विश्व और प्रकृति की ओर से आँखे मूंदकर–मानों जो कुछ ज्ञान उनके पुरखा संपादन कर चुके थे, उसके आगे न तो कुछ जानने को था, न कुछ करने को। संकीर्णता, साहस–विहीनता, एवं सीमित दृष्टि उनके जीवन की विशेषताएं बन गई। धार्मिक सुधारकों द्वारा भावात्मक उत्थान की लहर अवश्य कभी कभी आई–किंतु अपने दायरे से बाहर निकलकर क्रियात्मक भूमि पर कुछ कर गुजरने की स्फूर्ति नहीं।

अस्तु जैसा अन्यत्र उल्लखित हो चुका है १४९२ ई. में नाविक कोलम्बस ने नई दुनियां अमेरिका का पता लगाया और १४६८ ई. में पुर्तगीज नाविक वास्कोडगामा ने अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत का नया सामुद्रिक राह, ढूंढ निकाला - उसनें भारत के बन्दरगाह कालीकट में अपना बेड़ा जमाया, और उस प्रदेश के शासक से पुर्तगालियों के लिए व्यापार करने की आज्ञा लेली। वर्तमान युग में यूरोपीय देशों के लोगों से भारत का यह प्रथम सम्पर्क था। वैसे तो भारत का यूरोप से व्यापार प्रचीन काल से ही होता आया था। अति प्राचीन काल में भारतीय व्यापारी भारत के पच्छिमी किनारे से फारस की खाड़ी होते हुए मेसोपोटेमिया और एशिया माइनर तक व्यापारिक सामान ले जाते थे और फिर वहां से ग्रीस और रोम । सातवाहन और गुप्त काल में व्यापारिक सामान अरब-सागर से मिश्र देश के उत्तर में रुम सागर होता हुआ रोम, वेनिस, और जेनोआ को जाता था । उसी काल में एक तीसरा मार्ग था जो मध्य एशिया होकर काला सागर होता हुआ कुस्तुनतुनिया जाता था। किन्तु ७ वीं ८ वीं शती में अरबों के उत्थान के बाद–फारस की खाड़ी और अरब सागर के सामुद्रिक रास्तों पर अरबी बेड़ों ने अपना अधिकार कर लिया अतः भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा–अरबों के माध्यम द्वारा ही सम्भव था। १० वीं ११ वीं शती में मध्य

एशिया के मार्गों पर तुर्कों का अधिकार होगया–अतः उस रास्ते से भी भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा था। इस प्रकार १५ वीं १६ वीं शती में चाहे भारत यूरोप से परिचित था–किन्तु अनेक वर्षों से उनका इस देश से कोई सीधा सम्पर्क नहीं। यह सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ उपरोक्त घटना से जब १४९८ ई. में वास्कोडगामा ने भारत का नया सामुद्रिक रास्ता ढूंढ़ निकाला। तभी से यूरोपीय व्यापारियों का, साहसी नाविकों का, भारत में तांता सा बंध गया जिसने यहां के इतिहास की गति ही मूलतः बदल दी। सबसे पहिले वास्कोडगामा के देशवासी पुर्तगीज ही आए–व्यौपारिक कोठियां कई बन्दरगाहों पर उन्होंने स्थापित कीं–गोआ, डामन, ड्यू पर अपना अधिकार स्थापित किया जो आज तक हैं–और भारत में एक साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा वे रखने लगे। मुंबई पर भी उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था–किन्तु पुर्तगाल के बादशाह ने यह बन्दर अंग्रेज बादशाह चार्ल्स द्वितीय को अपनी पुत्री के दहेज में दे दिया था। पुर्तगालियों की देखा देखी यूरोप की अन्य जातियां–यथा हॉलेंड के डच, फ्रांस की फ्रेंच और इङ्गलेंड की अंग्रेज जाति भी भारत में व्यापार के लिये आई। केवल भारत में ही नहीं किन्तु समस्त पूर्वीय देशों में यथा लंका, मलाया, प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीप समूह, चीन। जापान में ये जातियां अपना व्यापार और धीरे धीरे अपना साम्राज्य

जमाने के लिए अग्रसर हुई। सब ही जब धन कमाने और राज्य सत्ता कायम करने निकले तो परस्पर विरोध होना स्वाभाविक था-इन जातियों में इन्हीं के देशों में एवं उन पूर्वीय देशों में जहां जाकर इनके व्यौपारी बस गए थे, अनेक वर्षों तक अनेक युद्ध हुए;-अन्त में ये जातियां पूर्वीय देशों में-कोई कहीं और कोई कहीं-अपना स्थायी राज्य कायम करने में सफल हुई। भारत में डच, फ्रांसिसीयों और अंग्रेजों की परस्पर कशमकश के बाद-अन्त में अंग्रेजों का साम्राज्य स्थापित हुआ।

अंग्रेजी राज्य- वर्तमान काल में अंग्रेजों का भारत से सम्पर्क सर्व प्रथम १६१५ ई. में हुआ जब इङ्गलेंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत सर टामस रो भारत सम्राट जहाँगीर से अजमेर में मिला, और उसने स्वीकृति ली अपनी जाति के लिए भारत में व्यापार करने की एवं अपनी बस्तियों में अपने ही कानूनों के अनुसार व्यवस्था करने की। सन १६०० ई. में इङ्गलैंड में महारानी एलिजाबेथ के जमाने में पूर्वीय देशों से व्यापार करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना होचुकी थी-इसी अङ्गरेज कम्पनी ने भारत में अपना व्यापार और अपनी बस्तियाँ फैलाई। इसी कम्पनी की पहली कोठी सूरत में स्थापित हुई, सन १६४० में अङ्गरेजों ने चन्द्रगिरी के राज्य से मद्रास खरीदा और वहाँ सेंटजार्ज नामक किला बनाया और सन्

१६६२ ई. में कंपनी ने बम्बई टापू अपने बादशाह चार्ल्स द्वितीय से जो उसे पुर्तगाली बादशाह द्वारा दहेज में मिला था १० पौंड वार्षिक कर पर लेलिया, थोडे ही काल में कंपनी का व्यापार अहमदाबाद, सूरत, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, बंबई आदि प्रमुख स्थानों में फैल गया।

सन् १७०७ में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत के राजकीय संगठन में विशृंखलता आगई अनेक स्वतन्त्र राज्य खड़े होगये–देश में अशांति छागई–अंग्रेजों ने इस अशांति का लाभ उठाया–और धीरे धीरे कम्पनी अपना व्यापार ही नहीं किंतु अपनी राजसत्ता भी बढ़ाने लगी–उनका तरीका यही था कि एक प्रादेशिक शासक को दूसरे प्रादेशिक शासक से लड़वा देना–स्वयं किसी एक पक्ष की मदद कर देना–और विजित राज्य पर अपनी व्यवस्था और अधिकार स्थापित करदेना। इस प्रकार सन १७५७ ई. में बंगाल के अमीर को प्लासी के युद्ध में परास्त किया, सन १७६४ में अवध के नवाब को बक्सर के युद्ध में परास्त किया–सन् १७६५ में मुगल सम्राट शाहआलम से बंगाल की दीवानी हासिल की। इस प्रकार भारत में अङ्गरेजी राज्य की नींव की स्थापना हुई। भारत में एक ऐसी शक्ति का जो अंग्रेजों की बढ़ती हुई सुसंगठित और सुव्यवस्थित शक्ति से टक्कर लेती, विकास हो चुका था–और वह थी मराठा शक्ति। किंतु इस

शक्ति की भी अंत में सन् १८१८ ई. की लड़ाई में पराजय हुई–और वह सर्वथा ह्रास को प्राप्त हुई। (देखिये पिछला अध्याय) इस प्रकार मराठों की पराजय के बाद १८१८ ई. में अंग्रेजी सत्ता और शक्ति भारत में निर्विरोध, निशंक शेष रह गई। अतः भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की अविरोध और स्थायी स्थापना हम १८१८ ई. से ही मानते हैं–जब तक सीधे या उनके संरक्षण में भारत के प्रायः सभी भागों पर उनका आधिपत्य होचुका था। इस प्रकार भारतीय अंग्रेजी राज्य के काल को हम ३ भागों में विभक्त करसकते हैं। (१) १७६५-१८१८–अंग्रेजी राज्य की नीव की स्थापना होकर कम्पनी द्वारा साम्राज्य विस्तार का युग। (२) १८१८ से १८५७ तक अंग्रेजी साम्राज्य का वह युग जब देश के समस्त अंग्रेजी प्रांतो की राजकीय व्यवस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में रही। सन् १८५७ ई. में भारत में अंग्रेजों के खिलाफ एक देश व्यापी विद्रोह हुआ–जिसके नेता अत्याचार पीड़ित राजा तथा नवाब थे और जिसमें भारतीय सैनिकों ने उनका साथ दिया था। अंग्रेजों के जान माल की भारी क्षति हुई किंतु अंत में उनकी विजय हुई। गदर समाप्त होते ही पार्लियामेण्ट ने कम्पनी से देश का राज्याधिकार छीनकर अपने हाथ में लेलिया। (३) १८५८ से १९४७ तक नवभारत का शासन भार ईङ्गलेंड के बादशाह के नाम पर ईङ्गलेंड की पार्लियामेंट ने संभाला–और वहाँ का सम्राट भारत का

(**Emperor**) महाराजाधिराज कहलाया। ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत का शासन भारत में वायसराय (गवर्नर जनरल) एवं वायसराय के आधीन प्रांतों में गवर्नर नियुक्त करके करने लगी।

प्राचीन देश भारत में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में ५००० मील दूर से व्यापारियों के रुप में अंग्रेजों का आना, देश से अपने व्यापार की अभिवृद्धि करना और साथ ही शनैः शनैः राजकीय सत्ता स्थापित करते जाना–यहां तक कि १९वीं शती के आते आते (१८१८ से) समस्त भारत में एकाधिपत्य साम्राज्य स्थापित कर लेना–यह भारत के इतिहास की एक अपूर्व घटना है। इससे पूर्व भी भारत में साम्राज्य स्थापित हुए थे–प्राचीन काल में अशोक का साम्राज्य, मध्यकाल में तुर्कों का साम्राज्य–आधुनिक काल के प्रारम्भ में अकबर तथा मुगलों का राज्य–किंतु यह एक तथ्य है कि किसी भी साम्राज्य में इतनी राजकीय (शासनात्मक), संगठनात्मक, एवं व्यवस्थात्मक एकता नहीं आई थी जितनी ब्रिटिश साम्राज्य में। इसके दो सबब थे–पहिला तो यातायात और आवागमन के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों में यथा–रेल, तार, डाक, टेलीफोन में अभूतपूर्व बुद्धि और उनका कुशल संगठन और प्रबन्ध । शासन में एकता स्थापित करने में यह एक साधन था जो पूर्ववर्ती साम्राज्यों को उपलब्ध नहीं था, क्योंकि रेल, तार, डाक संबन्धी वैज्ञानिक अविष्कार १९वीं शती

पूर्व संसार में हो ही नहीं पाये थे। दूसरा सबब था अंग्रेज शासकों में बड़े बड़े संगठन करने और व्यवस्था बैठाने की अपूर्व शक्ति और कार्य कुशलता-जिसमें शिथिलता और आलस्य का लेश मात्र न हो, और सर्वोपरि बात थी उनके चरित्र में अनु-शासन की भावना—और जातीय (देश) प्रेम।

अंग्रेजी राज्य काल में भारतीय सामाजिक जीवन:— प्राचीन और शिथिल भारत पर सर्वथा एक नई सभ्यता, नई भावना (Spirit) और एक नये दृष्टिकोण की चोट पड़ी। मानवता के पूर्वीय और पच्छिमी छोर एक दूसरे के सम्पर्क में आये-यदि ऐसा न होता तो यह मानवता के विकास में ही बाधा होती।

अंग्रेजी राज्य काल में भारतीय सामाजिक जीवन की कहानी एक सतत परिवर्तन की कहानी है—चाहे परिवर्तन की वह गति इतनी तेज नहीं रही जितनी होनी चाहिए थी।

भाषा, साहित्य एवं धर्म:—प्राचीन हिन्दू काल में शासन और साहित्य की भाषा संस्कृत थी—प्राय: ११वीं १२वीं शती तक राज्य—शासन एवं मान्य साहित्य की भाषा संस्कृत रही यद्यपि प्राकृत और पाली भाषायें जन साधारण की भाषायें रहीं। मुसलमानी मध्य काल एवं मुगल साम्राज्य काल से (१३वीं शती से १८वीं शती तक) राज्य-शासन की भाषा फारसी—किंतु जन

साधारण की बोल-चाल की भाषा प्राकृत से ही उद्भूत पहिले अपभ्रंश और फिर प्रान्तीय देशी भाषायें रहीं-यथा बंगाली, मराठी, गुजराती और हिन्दी इत्यादि। अंग्रेजी राज्यकाल में शासन एवं उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रेजी हुई। वास्तव में अंग्रेज शासक लार्ड हैस्टिंग्ज के जमाने में (१८२२-२७) में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि भारतीयों की शिक्षा किस प्रणाली से दी जाए-कई वर्षों तक शासक वर्ग में इस बात पर वाद-विवाद होता रहा कि शिक्षा में पूर्वीय विद्याओं का प्राधान्य हो या पाश्चात सभ्यता और अंग्रेजी भाषा का। अन्त में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य सभ्यता के पक्ष में निर्णय हुआ-और धड़ाधड़ अंग्रेजी स्कूलें, कालेजें इत्यादि खुलने लगे। लार्ड डलहौजी (१८२७-३४) के जमाने में कई विद्यालयों की नींव पड़ी,-१८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्व विद्यालयों की स्थापना हुई और ज्यों ज्यों संसार में ज्ञान विज्ञान की अभि-वृद्धि होती गई त्यों त्यों भिन्न भिन्न विषयों का एवं नवीनतम ज्ञान का समावेश विश्व-विद्यालयों की पढ़ाई में होता गया। साथ ही साथ ज्यों ज्यों पाश्चात्य लोग प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्पर्क में आने लगे-त्यों त्यों उसका अनुवाद जर्मनी, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं में होने लगा-यहां तक कि उन लोगों में वैदिक और संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक धुरन्धर विद्वान् हुए-जिनकी समता भारतीय पण्डित स्वयं नहीं कर सकते

थे। अनेक प्राचीन धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों का सम्पादन जर्मनी के मैक्स मूलर और विंटरनीटज प्रभृति विद्वानों ने किया। भारतीय अपने प्राचीन साहित्य भंडार को भूल चुके थे उसका भी पुनरुद्धार यूरोपीयन जातियों ने ही किया–और उसी से भारतीयों की भी आँखें खुलीं और किसी प्रकार आलस्य निद्रा से उठ कर उन्होंने अपने प्राचीन ज्ञान को संभालना और टटोलना प्रारम्भ किया।

प्राचीन साहित्य, धर्म और दर्शन शास्त्र के प्रकाश में आने के बाद उसका प्रभाव अनेक यूरोपीयन, अमेरिकन कवियों और चिंतकों पर पड़ा, और उसी भारतीय दार्शनिक भावना की अभिव्यक्ति उनके काव्य और अन्य साहित्य में हुई--जैसे जर्मनी के १६ वीं शती के महाकवि और दार्शनिक गेटे, अमेरिका के हैनरी थोरो एवं वाल्ट ह्विटमैन, ईंगलेंड ने कार्लाइल, यीट्स प्रभृति के साहित्य में। २० वीं शती में तो यह आदान-प्रदान विचार और भावनाओं का परस्पर प्रभाव और भी अधिक हुआ। १६ वीं शती के मध्य तक भारत की प्रान्तीय भाषाओं में केवल पद्य की रचना होती थी--गद्य में ज्ञान-विज्ञान, इतिहास; भूगोल, इत्यादि का पूर्ण अभाव था–इस ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई–१६ वीं शती के मध्य से गद्य–साहित्य का भी विकास प्रारम्भ हुआ–सन १६२० के

बाद जाकर कहीं ऐसी परिस्थिति हो पाई कि देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की कुछ पुस्तकें मिलने लगीं,–तत्पश्चात् तो तीव्र गति से उन्नति हुई। किन्तु अब भी ऐसी स्थिति है कि उच्च कोटि का राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान इत्यादि का अध्ययन देशी भाषाओं में नहीं हो सकता–इसके लिये यूरोपीय भाषाओं की शरण लेनी पड़ती है।

पाश्चात्य भाषा शैली, साहित्य, विचार एवं भावनाओं का भारतीय भाषाओं पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ा, और उस प्रभाव के फल-स्वरुप २० वीं शती के आरम्भ होने के बाद प्रायः द्वितीय शतक से नव-विचार, नव-भावना, अभिव्यंजना के साथ देशी भाषाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ-बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र हुए-जिन्हें साहित्य का नोवेल पुरस्कार मिला और जो विश्व-साहित्यकों में एक अनुपम विभूति माने जाने लगे; दक्षिण में कवि भारती हुए,–और पंजाब में मुहम्मद इकबाल। हिंदी में भी कई विभूतियां हुईं–प्रेमचँद, प्रसाद जिनकी गणना विश्व-साहित्यिकों में हो सकती है। धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्र में बंगाल में राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज ने, समस्त उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द (१८२४–८३) और आर्य समाज ने क्रांति पैदा की, और अपने प्राचीन सत्य रूप का भारतीयों को दर्शन करवाया; आध्यात्मिक क्षेत्र में परम हंस

रामकृष्ण (१८३३-१६०२), स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ का संदेश केवल भारत में ही नहीं किन्तु समस्त विश्व में प्रसारित हुआ: वैज्ञानिक क्षेत्र में भी जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुलचंद्रराय, श्री चन्द्र शेखर रमण ने कई उद्भावनायें कीं, और आज योगीराज अरविंद की ओर विश्व आकृष्ट हैं और उत्कंठित है समझने को उनका विश्व कल्याण एवं मानव-विकास का मार्ग।

भारत–सामाजिक जीवन में आधुनिकता:–भारत में अति प्राचीन काल से १९वीं शती के मध्य तक यातायात और यात्रा के साधन केवल बैलगाड़ियों, घोड़े एवं घोड़ों या बैलों के रथ थे। भारत में सर्व प्रथम १८५३ ई. में रेलवे लाइन बनी– और रेल जारी हुई, पहली रेलवे लाइन २०० मील लम्बी थी। तदुपरान्त तो धीरे धीरे देश भर में रेलों का एक जाल सा बिछ गया। इसी वर्ष से तार, डाकखाने खुलने आरम्भ हुए और सर्व प्रथम आध आने के टिकट जारी हुये।

इन सबने धीरे धीरे भारत के भौतिक रुप को ही बदल दिया। १६वीं शती के अन्त तक भारत में अनेक यान्त्रिक उद्योग खुल गये यथा—कलकत्ता में अनेक जूट मीलें,–बम्बई, अहमदाबाद में कपड़े की मीलें। पहिले इनमें ब्रिटिश पूंजी लगी हो किन्तु धीरे धीरे इनका स्वामीत्व भारतीयों के हाथों में आ गया। फिर २०वीं शती में और औद्योगिक उन्नति हुई बंगाल

बिहार में कई कोयले की खदानों में काम होने लगा और विपुल मात्रा में कोयला निकाला जाने लगा।–पारसी औद्यौगिक नेता टाटा का जमशेदपुर में प्रसिद्ध लोहे और इस्पात का कारखाना खुला, पच्छिमी भारत में सिमेण्ट के कई कारखाने खुले,–चीनी की मीलें, चमड़े के कारखाने, ऊनी वस्त्र की मीलें भी खुली–और फिर विजगपट्टम् में जहाज बनाने का कारखाना भी। अभी (१९५०) में बंगाल में चितरञ्जन नगर में रेलवे एंजिन का कारखाना खुला है। इस कारखानें में १९५४ तक पूरे एंजिन बनना शुरु हो जायेगा–पूरे एंजिन अर्थात् जिसके सारे के सारे कल-पुर्जे उसी कारखानें में बने हों। बिजली उद्योग का भी विकास हुआ, और उत्तर प्रान्त, पंजाब और बम्बई प्रान्त में नदियों से या जल-प्रपातों से बड़े पैमाने पर बिजली पैदा की गई। फल-स्वरुप अनेक अन्य छोटे मोटे कारखानों का विकास हुआ। यातायात के साधनों में मोटर, वायुयान का भी प्रचलन हुआ। इतना होने पर भी देश की विशालता और यहां के प्राकृतिक साधनों को देखते हुये यहां का औद्यौगिक विकास अभी ना के बराबर ही है। अनेक यान्त्रिक उद्योग खुलने से औद्यौगिक केन्द्रों में श्रमजीवियों की संख्या और समस्या बढ़ गई, किन्तु अब भी जैसा भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से हो रहा है यहां के आर्थिक जीवन का आधार कृषि ही है--चीन की तरह यहां भी ८० प्रतिशत लोग कृषि पर ही आश्रित हैं। अंग्रेजी राज्य

काल में कृषि की भी उन्नति हुई—कृषि शिक्षा के लिये कालेज खुले, सिंचाई के लिये नहरें तथा बम्बे अधिकता से जारी किये गए, एवं किसानों की दशा सुधारने के लिये सहकारी सम्मितियां खोली गईं। भूमि प्रबन्ध में अनेक परिवर्तन हुए—और भूमि लगान एकत्रित करने में प्रान्त प्रान्त की भिन्न भिन्न परिस्थितियों को देखते हुए जमींदारी, तालुकदारी, रैयतवारी, कई प्रणालियां प्रचलित हुईं। इन सबका एक बुरा प्रभाव पड़ा-युगों से आती हुई ग्राम-पञ्चायतों का अन्त हो गया, जिसमें ग्रामीण लोगों की स्थानीय उत्तरदायित्व की भावना का ह्रास हुआ, उनकी स्वतन्त्रता भी सीमित हो गई और उनको परमुखा पेक्षी होना पड़ा।

सती प्रथा, जातीय बंधन, संकीर्णता, बाल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज, पर्दा, छूतछात, भारतीय जीवन के अभिशाप थे—अब भी हैं। दो सभ्यताओं के टक्कर के फल-स्वरूप इनमें बहुत कुछ सुधार हुआ। सती प्रथा को—बन्द कर दिया गया, एवं कानून द्वारा ही विधवा विवाह जायज करार दिया गया। भारतीय सामाजिक जीवन की संकीर्णता में कुछ प्रकाश आया और शुद्ध वायु प्रवाह हुआ अतः सामाजिक संकीर्णताओं एवं जर्जरित, प्राण-हीन प्रथाओं और संस्कारों को हटाने के प्रयत्न होने लगे—अभी तक हो रहे हैं—सफलता भी मिल रही है। वस्तुतः २० वीं शती के प्रथम महायुद्ध के बाद से संसार के

सब देश, सब जातियां सब मान्यतायें-आधुनिक वैज्ञानिक साधनों (यातयात, समाचार-वाहन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, इत्यादि) के फलस्वरूप एक दूसरे के इतने निकट आ गये हैं कि सब जगह पुरानी मान्यताओं, व्यवस्थाओं, और संस्कारों में विच्छेदन होना स्वभाविक है-और ऐसा हो रहा है। भारत ही नहीं, वरन् समस्त विश्व एक संक्रांति काल में से गुज़र रहा है।

भारत में राष्ट्रीयता, और स्वतन्त्रता युद्धः—

अंग्रेजों के शासन काल में भारत एक राजकीय सूत्र में सुगठित हुआ। एक राज्य, एक न्याय, एक भाषा (अंग्रेजी) से भारतीयों में भिन्नता का भाव कम हुआ-और उनमें जातीयता के भाव का उदय होने लगा। साथ ही साथ अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के हृदय में यूरोपीय इतिहास और साहित्य के अध्ययन से राष्ट्रीय भाव जागृत होने लगे। पच्छिमी देशों के प्रजा सत्तात्मक राज्यों और समुदायों के संगठन का उन्हें ज्ञान हुआ। अतः उन्हें भान होने लगा भारत भी स्वतन्त्र होना चाहिए और वहां प्रजा-सत्तात्मक राज्य स्थापित होना चाहिए। फलस्वरूप १८८५ ई. में राष्ट्रीय महासभा अर्थात् (Indian National Congress) की स्थापना हुई। यहीं से भारतीय स्वतन्त्रता की भावना का सूत्र पात हुआ-और स्वतन्त्रता के लिये प्रयास होने

लगा। इस "स्वतन्त्रता युद्ध" को उसकी भावनाओं और उद्देश्यों के अनुरुप हम ३ विशेष खण्डों में विभक्त कर सकते हैं । (१) १८८५-१९०५-जब महासभा का यह उद्देश्य रहा कि वह भारत के हित के लिये स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करे. तथा इस बात के लिये प्रयत्न करे कि व्यवस्थापिका सभा में लोगों के प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि हो, एवं भारतीय उच्च पदों पर भारतीयों की भी नियुक्ति हो। इस काल के राष्ट्र के नेता दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, एवं गोपाल-कृष्ण गोखले एवं महामना पण्डित मदन मोहन मावलीय थे । (२) १९०५-१९२० ।—इस काल में महासभा का उद्देश्य रहा-"स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" । यह घोषणा की महामना बालगंगाधर तिलक ने जो इस काल के सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता रहे। इनके सहयोगी हुए पंजाब के लाला लाजपतराय और बंगाल के विपिनचन्द्र पाल। इस काल में देश की आन पर मर मिटने वाले कुछ साहसी युवकों ने विदेशी शासकों के विरोध में कई षड्यन्त्रकारी कार्य किये, जिनका भी भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में एक स्थान है। इस युग तक स्वतन्त्रता का आंदोलन जन-आन्दोलन नहीं हो पाया था । इस काल में सन् १९१९ में प्रथम महायुद्ध की समाप्ती पर पंजाब में अमृतसर नगर के जलियानवाला बाग में स्वतन्त्रता की मांग करने वाली नागरिकों की एक विशाल सभा पर अंग्रेजों ने गोली चलाई, जिससे सैंकड़ों

हत्यायें हुईं। जलियानवाला बाग के इस गोली-काण्ड ने आजादी की लड़ाई में एक नई जान फूंक दी।

(३) सन् १९२१-१९४७:—इस काल में सन् १९२८ में महासभा का उद्देश्य घोषित किया गया—"पूर्ण स्वतन्त्रता" और एकाधिपत्य नेतृत्व रहा महात्मा गांधी का। इसी युग में स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने की भावना का जन जन में संचार हुआ। महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों पर जन-आन्दोलन का सूत्र पात किया। देश के बड़े बड़े नेताओं ने पण्डित जवाहरलाल नेहरु, सुभाष बोस, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, श्री राजगोपालाचार्य आदि ने महात्मा गांधी की रहनुमाई में समय समय पर स्वतन्त्रता आन्दोलन का परिचालन किया।

१९२१ से प्रारम्भ होकर सन् १९४७ तक कई आन्दोलन हुए, किसी न किसी रुप में "अहिंसात्मक युद्ध" जारी रहा। सन् १९३९ से ४५ तक द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ। युद्ध-काल के सन् १९४२ के अगस्त में "अंग्रेजों-भारत छोड़ो" मन्त्र से अनुप्राणित हो एक जन-आन्दोलन चला जिसने ब्रिटिश शासन की जड़ हिला दी चाहे वह आन्दोलन कुछ ही महीनों के बाद दबा दिया गया। अन्त में अंग्रेज और भारतीय प्रतिनिधियों में एक समझौता द्वारा १५ अगस्त सन् १९४७ के दिन लगभग १५० वर्ष

की गुलामी के बाद भारत पूर्ण स्वतन्त्र घोषित हुआ। साथ ही साथ देश का दो राज्यों में विभाजन हुआ-हिन्दू बहुमत प्रान्तों में भारत, एवं मुसलिम बहुमत प्रान्तों में पाकिस्तान।

भयङ्कर विनाशकारी शस्त्रों से सम्पन्न विदेशी शासकों के पंजों से अहिंसात्मक विरोध द्वारा एक देश का छुटकारा पा लेना—यह विश्व के इतिहास में एक अनुपम प्रयोग था। अहिंसा की क्रूर हिंसा पर विजय—इसकी एक झलक।

८. १५ अगस्त १९४७ से स्वतंत्र भारत

१५ अगस्त ४७ के शुभदिन भारत स्वतन्त्र हुआ। देश में किस प्रणाली से राज्य चले, यह तय करने के लिये देश के लोगों की प्रतिनिधि स्वरूप एक विधान सभा डा. राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में बैठी। देश के इन प्रतिनिधियों ने देश की सामाजिक पृष्ठ भूमि एवं राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनकी दृष्टि में जो भी अच्छा से अच्छा विधान बन सकता था, वह उन्होंने अथक परिश्रम एवं पूरी ईमानदारी से बनाया। इस विधान के अनुसार २६ जनवरी १९५० के दिन से भारत सार्वभौम सत्तायुक्त पूर्ण स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक गणराज्य हुआ। इस घटना का कितना महत्व है। इसका अनुमान इसीसे लगता है कि भारत के प्राचीन काल से लेकर, आज तक के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब

सम्पूर्ण भारत (पाकिस्तान अंगविच्छेद को छोड़कर) एक गणतंत्र राज्य के रूप में संगठित हुआ और वहाँ की सरकार वैधानिक ढंग से सब लोगों की सम्मति से बनी। भारत के करोड़ों मतदाताओं को इतिहास में प्रथमबार एक शक्तिशाली राजनैतिक अस्त्र मिला है, जिसका विवेक पूर्वक प्रयोग करने से देश में समृद्धि और सुखशांति की अवतारणा की जासकती है।

देश का नेतृत्व महान हाथों में हैं। अध्यक्ष डा. राजेन्द्रप्रसाद हैं, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु एवं गृह और राज्यमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल। १९४७ में जब स्वतंत्रता मिली थी, तो देश ६०० से भी अधिक छोटे मोटे देशी राज्यों में विभक्त था। गृह और राज्यमंत्री सरदार पटेल ने विचक्षण दृढ़ता से इन देशी राज्यों को एक ही वर्ष में भारत संघ में सम्मिलित करलिया–इस घटना का महत्व भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति की घटना से कम नहीं। चीन में भी जब प्रजातंत्र स्थापित हुआ था, वहाँ भी अनेक स्थानीय योद्धा सरदार थे जो अनेक भिन्न भिन्न खंडो के शासक थे; चीन के अध्यक्ष चांगकाईशेक सतत १५ वर्षों के प्रयत्नो और युद्धों के बाद भी उन सबको खत्म कर एक संगठित चीन नहीं बनासका था; भारत में यह काम सरदार पटेल ने एक ही वर्ष में किया। भारत आज 'एक' देश है ३५ करोड़ का देश। भारत एक "महामानव" है। इस

महामानव के सामने समस्यायें विकट हैं; पेट भरने के लिये न तो खाद्यान्न पर्याप्त है, न तन ढ़कने के लिये कपड़ा पर्याप्त; चेतना के विकास के लिये न विद्यालय पर्याप्त हैं, न शिक्षक; और न विद्यालयों और शिक्षकों को जुटाने के लिये धन का साधन। ऐसा प्रतीत होता है यह महामानव इस समय व्यक्तिगत स्वार्थ-वश, निरीहसा बना हुआ आलस्य में सोरहा है। नेताओं का काम है कि वे इसे जगायें। राजी राजी समझाकर जगायें, "अच्छे जीवन" के प्रलोभन से जगायें, और फिर भी न माने तो डंडे से खदेड़ कर जगायें, और राष्ट्र निर्माण कार्य में प्रेरित करें। यदि यह नहीं जागा-कर्मण्य न बना तो परिस्थितियां ऐसी हैं कि यह कुचलदिया जायेगा। नेता प्रयत्नशील हैं इस महामानव को जगाने में।

५२

यूरोप के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का अध्ययन

(१६४८-१८१५ ई.)

भूमिका

१६वीं शताब्दी के उदयकाल में मध्ययुग के अन्धेरे को दूर करता हुआ रिनेसां आया और फिर धार्मिक सुधार की

लहर जो अपनी प्रतिक्रिया पैदा करती हुई यूरोप के सामाजिक राजनैतिक जीवन में सन् १६४८ ई. तक घुल मिलकर लुप्त होगई। सन् १६४८ ई. के बाद सन् १९५० ई. तक के यूरोप के राजनैतिक इतिहास का हम ६ विभागों में अध्ययन कर सकते हैं।

१. १६४८–१७८९ ई.—"राजाओं के दिव्य अधिकार" (Divine Right Of Kings) के विचार के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का युग।

२. १७८९–१८१५ ई.—निरंकुश राजतन्त्र की प्रतिक्रिया में फ्रान्स की जनतन्त्रवादी राज्य-क्रान्ति (१७८९–१८०४ ई.); फिर क्रांति से उद्भूत सम्राट नेपोलियन की यूरोप में हलचल, विजय और अंत में पराजय।

३. १८१५–१८७० ई.—नेपोलियन के बाद फ्रांस की क्रांति की प्रतिक्रिया में राजतन्त्र को सुरक्षित करने के लिये यूरोपीय राष्ट्रों की वियेना कांग्रेस (१८१५ ई.) फिर राजतन्त्र और जनतन्त्र में द्वन्द्व; अनेक क्रांतियां और अन्त में जनतन्त्र की प्रधानता।

४. १८७०-१९१९ ई.—यूरोप का इतिहास विश्व राजनीति और विश्व-इतिहास में परिणत हो जाता है। यूरोप का साम्राज्यवादी एवं औपनिवेशिक विस्तार; अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों का इतिहास में पदार्पण; यूरोप की धनजन शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि; शक्ति संतुलन के लिये यूरोपीय राष्ट्रों में राजनैतिक गुटों का निर्माण; अन्त में संसार व्यापी प्रथम महायुद्ध जिसकी परिणति वर्साई की संधि और 'राष्ट्रसंघ' में होती है।

५. १९१९-१९४५ ई.—प्रथम महायुद्ध के बाद वर्साई की संधि के विरुद्ध विजित राष्ट्रों में एकतन्त्रीय तानाशाही राज्यों का उत्थान; फलतः जनतन्त्र राज्यों से विरोध; अन्त में संसार व्यापी द्वितीय महायुद्ध जिसकी परिणति "संयुक्त राष्ट्रसंघ" में होती है।

६. १९४५-१९५० ई.—द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद जनतन्त्रवादी और एकतन्त्रीय भावनाओं में द्वन्द्व।

विश्व इतिहास

मानव इतिहास का आधुनिक युग (१५०० ई. से १९५० ई. तक)

१. यूरोप–निरंकुश राजतन्त्र (१६४८–१७८९ ई०)

(वेस्ट फेलिया की सन्धि से फ्रांस की राज्य क्रान्ति तक)

१७वीं शताब्दी के मध्य तक (वेस्ट फेलिया की संधि सन् १६४८ तक) यूरोप में जिन दो शक्तियों का प्रभाव था—रोम का पोप और पवित्र रोमन साम्राज्य–वे समाप्त हुई। धार्मिक सुधारवाद की लहर ने तो पोप की स्थिति को साधारण बना दिया और जर्मनी के तीस वर्षीय धार्मिक युद्ध ने पवित्र साम्राज्य को प्राय: समाप्त कर दिया; वह केवल नाममात्र को रह गया। मध्य युग के इन भग्नावशेषों पर १७ वीं व १८ वीं शताब्दी में उत्थान हुआ एक-तन्त्रीय राजाओं का। १७ वीं शताब्दी में यूरोप में राज्य सम्बन्धी एक नये विचार ने जोर पकड़ा। वह यह कि राजा ईश्वर की ओर से नियुक्त होता है इसलिए जिस प्रकार ईश्वरीय आदेश न मानना पाप है उसी प्रकार राजा के विरुद्ध भी आचरण करना पाप है। राजा इस पृथ्वीतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। राजा केवल ईश्वर के सामने उत्तरदायी है प्रजा के सामने नहीं। यदि राजा भूल भी करे तो प्रजा को उसकी भूलों का फल ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये। राजाओं का यह अधिकार "दिव्य अधिकार" कहलाता था। इस विचार की कल्पना पोप और पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट के इस दावे के आधार पर ही हुई कि पोप और सम्राट

इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। पहिले तो पोप अपने आप को ईश्वर का प्रतिनिधि समझता था किन्तु जब सम्राट का उससे झगड़ा होने लगा तो सम्राट ही खुद यह दावा करने लगा कि राजकीय मामलों में केवल वही एक ईश्वर का प्रतिनिधि है। पोप और सम्राट की शक्ति तो १७ वीं सदी में समाप्त हो गई और उनके बदले यूरोपीय देशों के राजा स्वयं इस दिव्य अधिकार का दावा करने लगे। उस काल में इस अधिकार की पुष्टि करने के लिये अनेक बौद्धिक युक्तियों का भी प्रचार हुआ।

साथ ही साथ भिन्न भिन्न देशों के इन राजाओं में वशंगत (Dynastic) प्रश्नों को लेकर यूरोपियन अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक युद्ध हुए। ये विशेषतः राजा इसलिये लड़ते थे कि उनके राज्य का विस्तार हो और यूरोप में उनकी शान और रोबदोब में वृद्धि हो। इन दोनों भावनाओं का प्रतीक हम तत्कालीन फ्रांस के राजा लुई १४ वें (१६६१-१७१५ ई.) को मान सकते हैं। इसलिये कोई कोई इतिहासकार यूरोप के इस काल को लुई १४ वें का युग कहकर पुकारते हैं। वस्तुतः लुई १४ वें के राजकाल में अथवा उत्तरार्ध सतरवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में फ्रान्स का केवल राजनैतिक महत्व ही नहीं रहा किन्तु बौद्धिक व मानसिक क्षेत्र में भी फ्रांस उस युग में यूरोप का नेता रहा। इस काल में यूरोप के राष्ट्रों विशेषतः हालेंड,

इङ्गलेंड और फ्रांस में अपने अपने उपनिवेश एशिया और अमेरिका में बढ़ाने के प्रश्न को लेकर भी कई संघर्ष हुए। यह याद होगा कि सन् १५८८ ई. में इङ्गलेंड के हाथों अरमडा नामक स्पेन के जहाजी बेड़े की हार के बाद स्पेन की सामुद्रिक शक्ति और सामुद्रिक व्यापार का तो महत्व प्रायः समाप्त हो चुका था।

इङ्गलेंड में राजाओं का एकतन्त्री शासन टयूडर वंश के हेनरी सप्तम के राज्य काल से प्रारम्भ होता है। टयूडर वंश के राजा हेनरी अष्टम और फिर रानी एलिजाबेथ के राज्य काल में ईंगलेंड की उन्नति और समृद्धि भी खूब हुई और उनका एकतंत्रीय शासन भी सफलता पूर्वक चला। टयूडर वंश के बाद इङ्गलेंड में स्टुआर्ट वंश के राजाओं का राज्य शूरू हुआ और उन्होनें राजाओं के दिव्य अधिकार के सिद्धान्त पर लोगों के कानूनी अधिकारों पर कुठाराघात करना शुरु किया। प्रजा इसे सहन नहीं कर सकी फलतः राजा और प्रजा में अधिकारों के लिये झगड़े प्रारम्भ हुए। सन् १६४२ से १६४८ तक गृह युद्ध हुआ जिसमें राजा और उसके सहायक एक ओर थे एवं पार्लियामेंट और उसकी फौजें दूसरी ओर इस गृह युद्ध का अन्त जो कि ईंगलेंड की 'महान् क्रांन्ति' कहलाती है सन् १६४८ नें हुआ जब राजा चार्ल्स प्रथम को तो फांसी दी गई

और इंग्लेंड में कुछ वर्षों के लिये प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। प्रजातंत्र का नेता क्रोमवेल था, जबतक वह रहा तबतक तो प्रजातंत्र सफल रही किंतु उसकी मृत्यु के बाद कोई सफल नेता नहीं निकल सका, देश की हालत खराब हो गई अतः सबने यही सोचा कि चार्ल्स प्रथम के उत्तराधिकारियों को ही राज्य सौंप दिया जाये। सन् १६६० में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना हुई किन्तु राजाओं ने फिर दिव्य अधिकार के सिद्धान्त पर अपनी शक्ति और अपने अधिकारों को बढाना प्रारम्भ किया। फलतः फिर १६८८ ई. में इंग्लेंड में राज्य-क्रांति हुई–जो "शानदार क्रान्ति" (Glorious Revolution) के नाम से प्रसिद्ध है। लोगों ने अपने अधिकारों की घोषणा की–लोगों की शक्ति के सामने तत्कालीन राजा जेम्स द्वितीय को राज गद्दी का त्याग करना पड़ा। प्रजा के घोषित अधिकारों को मान्यता देकर ही नया राजा विलियम शासनारूढ़ हो सका। इस प्रकार इंगलेंड में राजाओं के एकतंत्रीय शासन का अन्त हुआ और वहां के इतिहास में वैधानिक राजतंत्र का युग प्रारम्भ हुआ।

फ्रान्स में एक तन्त्रीय शासन का सबसे अधिक दबदबा लुई १४ वें (१६६१–१७१५) के राज्यकाल में हुआ। राजाओं के दिव्य अधिकार का वह प्रतीक था। बड़ा ठाठदार और वैभव-पूर्ण दरबार उसने स्थापित किया। उस जमाने में यूरोप के अन्य

सभी राजा प्रत्येक काम में मानों लुई ही की नकल करते थे। लुई को कई कुशल मन्त्रियों का सहयोग प्राप्त था। उसके मन्त्री कोलबर्ट ने निर्यात् व्यापार की वृद्धि और अपने गृह उद्योगों को विशेषाधिकार देकर आयात व्यापार की तादाद में कमी की जिससे देश के धन में वृद्धि होती रही। आंतरिक और विदेशी मामलों में उसकी यही नीति रहती थी कि फ्रान्स में राजा सर्व-शक्तिमान हो और यूरोप में फ्रान्स सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र हो। इसी उद्देश्य से राजा लुई को अनेक युद्ध लड़ने पड़े जिनमें स्पेन के उत्तराधिकार के लिये लड़े गये युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के बाद जिसका कोई पुत्र नहीं था, वंशागत सम्बन्धों के आधार पर स्पेन की राजगद्दी के कई अधिकारी खड़े हो गये, जैसे बवेरिया का राजकुमार फर्डीनेंड सम्राट लिओपार्ड एवं स्वर्गीय राजा की बहिन मेटिया थेरेसा जिसका विवाह फ्रान्स के राजा लुई १४ वें से हो चुका था। इस ख्याल से कि इन उत्तराधिकारियों के झगड़ों की वजह से यूरोप में कहीं सर्वत्र युद्ध न फैल जाए, इन उत्तराधिकारियों में सन्धि करवा दी गई जिसके अनुसार स्पेन का साम्राज्य (जिसके आधीन स्पेन, बेलजियम एवं इटली के उत्तरीय प्रदेश थे) इन उत्तराधिकारियों में बांट दिया गया किन्तु फिर भी इन उत्तराधिकारियों में कुछ झगड़े चलते रहे, एवं फ्रान्स का राजा लुई स्वयं यह चाहता रहा कि

चूंकि उसकी स्त्री मेरिया थेरेसा स्पेन के भूतपूर्व राजा की बहिन थी इस लिए स्पेन का राज्य उसे मिलना चाहिए । वह चाहता था कि स्पेन और फ्रान्स मिलकर एक शक्तिशाली राज्य बन जायें। इसी प्रकार आस्ट्रिया का सम्राट भी यही चाहता था कि आस्ट्रिया व स्पेन मिलकर एक शक्तिशाली राज्य बन जायें । लुई की इस वृत्ति को देखकर इङ्गलैंड, होलेंड, रोमन साम्राज्य के सम्राट ने मिलकर फ्रान्स के विरुद्ध एक गुट्ट बनाया। और स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर आखिर युद्ध शुरु हो ही गये । सन् १७०१ से सन् १७१४ तक वे युद्ध चलते रहे; अन्त में सन् १७१३ में यूट्रेक्ट की सन्धि से युद्ध की समाप्ति हुई । इस सन्धि का यूरोप की राजनीति में विशेष महत्व है । इस संधि के अनुसार (१) लुई का पोता स्पेन का उत्तराधिकारी माना गया, इस शर्त पर कि फ्रान्स व स्पेन दोनों राज्य कभी मिल कर एक नहीं बनेंगे। (२) इटली में स्पेन के आधीन प्रदेश एवं नीदरलैण्ड का बेलजियस प्रदेश आस्ट्रिया के शासक अर्थात् पवित्र सम्राट को दे दिये गये। (३) प्रशा को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया (४) इङ्गलैंड को जिब्राल्टर और मिनेरिया जो स्पेन के आधीन थे दिये गये; और अटलांटिक महासागर में न्यूफाउण्डलैंड द्वीप भी जो फ्रांस के आधीन था इङ्गलैंड को दिया गया । इस प्रकार फ्रांस की.जो कि १७वीं शताब्दी में यूरोप का एकमात्र शक्तिशाली राष्ट्र बनने की ओर उन्मुख था प्रगति सर्वदा के लिये

समाप्त हो गई। नए राष्ट्रों का महत्व बढ़ने लगा विशेषत इङ्गलैंड का जिसकी औपनिवेशिक और व्यापारिक शक्ति जिब्राल्टर और न्यूफाउडलैंड के मिलने से बढ़ गई थी। लुई १४ वें के बाद फ्रांस में उतने विशाल व्यक्तित्व एवं प्रभुत्व वाला कोई राजा नहीं हुआ और अन्त में राजाओं का वह "दिव्य अधिकार" जिसकी पराकाष्ठा लुई में पहुँच चुकी थी फ्रांस की राज्य क्रान्ति में उड़ता हुआ दिखलाई दिया।

रूस

यूरोप के इसी एकतंत्रीय राज्यकाल में रूस में वहां के प्रसिद्ध राजा पीटर महान् (१६८९-१७२५ ई.) का उत्थान हुआ। उस समय रूस प्रायः अर्ध सभ्य सा देश था। पच्छिमी यूरोप में यथा इङ्गलैंड, फ्रान्स, व जर्मनी में सामाजिक, व्यवसायिक एवं राजनैतिक और बौद्धिक उन्नति होचुकी थी। किंतु रूस अभी इस प्रगति से अनभिज्ञ था। पीटर (१६८९-१७२५) महान् ने इस स्थिति को समझा, उसने पच्छिमी यूरोप की यात्रा की और पाश्चात्य सभ्यता और प्रगति का अध्ययन किया एवं अपने देश को कड़े हाथों से व्यवस्थित एवं उन्नत करने का दृढ़ संकल्प किया। वह रूस का राज्य विस्तार करने में, पच्छिमी यूरोप की तरह सभ्यता की प्रगति करने में, राज्य को सुव्यवस्थित और शक्तिशाली बनाने में एवं एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सेना की रचना करने में सफल

हुआ। पीटर ने यह सब स्वतंत्र सरदारों की शक्ति को दबाकर और अपना व्यक्तिगत एकतंत्रीय शासन स्थापित करके ही किया। पीटर महान् को ही आधुनिक रुस का निर्माता माना जाता है। पीटर के बाद उसी तरह एक सम्राज्ञी हुई जिसका नाम केथेराइन द्वितीय (१७६२-९६) था। उसने पीटर महान् की नीति का अनुसरण किया, तुर्क लोगों से काला सागर के उत्तर में क्रीमिया प्रदेश छीना। इस प्रकार काला सागर के सामुद्रिक रास्ते पर अपना प्रभुत्व बढ़ाया। पीटर महान् के ही राज्यकाल से रुस की आधुनिक सशक्त राष्ट्रों में गणना होने लगी।

प्रशा (Prussia):-इसी काल में पवित्र रोमन साम्राज्य के एक अंग प्रशा राज्य का पृथक रुप से उत्थान हुआ। इस उत्थान का श्रेय वहां के शासक फ्रेडरिक द्वितीय महान् (१७४०-४६) को है। इस समय आस्ट्रिया का शासक पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। तत्कालीन सम्राट की मृत्यु पर आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के लिये साम्राज्य के भिन्न भिन्न राज्यों के शासकों में युद्ध हुए। इन युद्धों में फ्रेडरिक ने साम्राज्य का एक प्रमुख भाग सिलेशिया जीतकर प्रशा राज्य में मिला लिया। इस समय आस्ट्रिया और प्रशा के इस झगड़े को लेकर कि क्यों प्रशा ने सिलेशिया प्रान्त अपने राज्य में मिला लिया एवं इङ्गलैंड व फ्रान्स के बीच औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा को लेकर एक युद्ध छिड़

गया जो कि एक "सप्तवर्षीय" (१७५६–१७६३) युद्ध कहलाता है। एक पक्ष में आस्ट्रिया व फ्रान्स हुए और दूसरे पक्ष में इङ्गलैंड और प्रशा। कई घटनाओं के बाद युद्ध का अन्त हुआ और उसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। पहला प्रशा का उत्थान। "पवित्र साम्राज्य" के दो प्रमुख राज्यों में यथा आस्ट्रिया और प्रशा में नेतृत्व के लिये जो प्रतिस्पर्धा चल रही थी उसमें आस्ट्रिया पिछड़ गया और प्रशा का महत्व बढ़ गया। इसी से आधुनिक जर्मन राज्य की नींव पड़ी। तभी से प्रशा एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाने लगा। २. इङ्गलेंड और फ्रान्स की प्रतिस्पर्धा में फ्रान्स पिछड़ गया। अमेरिका में कनाडा, नोवास्कोटिया एवं पच्छिमी द्वीप समूह के कई द्वीप जो फ्रान्स के आधीन थे इङ्गलेंड के हाथ लगे, एवं भारत में भी फ्रांसीसी महत्ता समाप्त हुई एवं अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में सन् १६४८ से १७७९ ई. तक लगभग सवा सौ वर्षों तक, प्रायः निरंकुश एकतन्त्रीय राजाओं का शासन रहा–राजाओं ने पूर्ण स्वेच्छा से भिन्न भिन्न देशों पर शासन किया। यह नहीं कि उन्होंने प्रजा का अहित किया हो बल्कि उन्होंने अपने अपने देशों का अपने अपने ढङ्ग से उत्थान किया और उनको सशक्त बनाया। इन राजाओं में अपने अपने देश की महत्ता बढ़ाने के लिये परस्पर

जो व्यवहार रहा वह यही था कि किसी न किसी प्रकार सत्य या झूठ से, ईमानदारी या बेईमानी से उनकी शक्ति की, उनके व्यापार की उनके राज्य की अभिवृद्धि और उन्नति हो। उनका परस्पर का सम्बन्ध अनैतिकता से भरा हुआ था। यूरोप के राजनैतिक इतिहास से यह परम्परा आज तक भी चली आती है।

यद्यपि स्वेच्छाचारी एवं एक-तन्त्रीय शासकों ने राष्ट्रीय दृष्टि से अपने देशों का उत्थान ही किया हो किन्तु जहां तक जन साधारण के स्वत्वों का प्रश्न था, उनकी आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का प्रश्न था, उनके जीवन के दुख दर्द का प्रश्न था वहां तक ये सब राजा और उनके राज्य उदासीन थे। किन्तु यूरोप में नई चेतना का विकाश होरहा था, अनेक प्रतिभाशाली विचारकों और दार्शनिकों का उद्भव हुआ था जैसे फ्रांस में वोल्तेयर मोंटेस्क्यू (१६८९–१७५५) और रूसो (१७१२–१७७८); इङ्गलेंड में जोहन लोक इत्यादि। ये लोग निर्मूल धार्मिक विश्वासों, अन्धी सामाजिक मान्यताओं की जगह विवेक और बुद्धिवाद की स्थापना कर रहे थे। उनके क्रांतिकारी विचार धीरे धीरे लोगों की चेतना में प्रसारित हो रहे थे। इसी में क्रांति का मूल था।

(२) फ्रांस की क्रांति (१७८९-१८०४ ई.)

१७वीं शती के मध्य से लगभग डेढ़सौ वर्षों तक यूरोप के

देशों में राजाओं का एकतंत्रीय स्वेच्छाचारी शासन रहा। उनके शासन काल में देशों में, व्यापार एवं व्यवसाय की एवं सैनिक शक्ति और राष्ट्रीय धन की चाहे अभिवृद्धि हुई हो किन्तु जनसाधारण के जीवन में कोई भी आर्थिक या राजनैतिक या सांस्कृतिक उन्नति नहीं हुई। उस समय प्रायः सर्वत्र यूरोप में समाज में आर्थिक दृष्टि से विशेषतः दो वर्ग के लोग थे। एक वर्ग था धनी भूपति सरदार और पादरी लोगों का। भूपति या जमींनदार लोग बड़ी बड़ी कृषि भूमि के स्वामी थे। पादरी लोग भी भूपति या सरदारों के समान बड़ी बड़ी जागीरों के स्वामी थे और गिर्जाओं में जो कुछ भेंट और चढ़ावा आता था उसके भी वे भोक्ता थे। ये भूपति एवं पादरी लोग राज्य की ओर से सब प्रकार के करों से मुक्त थे। दूसरी ओर निम्न वर्ग के लोग थे। ये ही जनसाधारण लोग थे जिनकी संख्या उपरोक्त उच्च वर्ग के लोगों की अपेक्षा अत्याधिक थी। वास्तव में जनसंख्या का मूल भाग ये ही निम्न वर्ग के लोग थे। इन लोगों के पास खेती करने को अपनी जमीन बिल्कुल नहीं थी। सरदारों एवं पादरी लोगों की जागीरों में ये लोग मजदूरी करते थे। ये लोग दास तो नहीं थे किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति दास लोगों की स्थिति से अच्छी नहीं थी। इस निम्न वर्ग में ही हस्त-कला कौशल और हस्त उद्योग करने वाले व्यक्ति भी थे। केन्द्रीय शासन की ओर से जितने भी कर लगे हुए थे उन सब का

भार इस जन-साधारण वर्ग पर ही पड़ता था। राजकीय समस्त शक्ति राजा में, भूपति सरदारों में ही निहित थी, क्योंकि अब तक सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। जन-साधारण की कुछ भी हस्ती या सत्ता नहीं थी, स्यात् वे ये माने हुए थे कि जन्म से ही ईश्वर ने उनको ऐसा बनाया है। इन सब के ऊपर यूरोप के प्रायः समस्त देशों में राजाओं की स्वेच्छा चारिता चलती थी। उनकी आज्ञा या इच्छा सर्वोपरि थी। उसके विरुद्ध कोई भी नहीं जासकता था। ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था अठारवीं शती में थी एक प्रकार का मध्य वर्ग उत्पन्न होने लगा था। ये लोग विशेषकर व्यापारी या शिक्षित कर्मचारी थे। इन लोगों के मस्तिष्कों में तत्कालीन दार्शनिकों के, मोंटेसक्यू, वोल्टेयर और रूसो के विचार और भाव क्रांति पैदा कर रहे थे। मध्य वर्ग का यह शिक्षित समुदाय सोचने लगा था कि किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को दूसरे के ऊपर शासन करने का कोई अधिकार नहीं। प्रकृति ने न तो किसी श्रेणी अथवा वर्ग को शासन करने के लिये उत्पन्न किया है और न किसी वर्ग को शासित होने को। सब मनुष्य समान हैं स्वतन्त्र हैं। यदि मानव जंजीरो से, सामाजिक, मानसिक, गुलामी की जंजीरों से जकड़ा हुआ है तो ये जंजीरें तोड़ फेंककर उसे मुक्त होना चाहिये। शिक्षित मध्य-वर्गीय नवयुवकों के द्वारा ऐसे विचार जनजन में समा गये थे। एक नई चेतना उनमें जागृत हो रही

थी और अन्दर ही अन्दर एक आग झुलस रही थी बस किसी अवसर की प्रतिक्षा थी, वह अवसर आया नहीं कि आग भभक उठी–अग्नि की लपटें चारों ओर फैल गई। केवल फ्रांन्स में ही नहीं वल्कि सारे यूरोप में। सन् १७७४ ई. में बोरबोन वंशीय लुई १६ वां फ्रांस को राजगद्दी पर बैठा। वोरबोन वंशीय फ्रांन्स के राजा जिनमें प्रसिद्ध लुई १४ वां भी एक था, बहुत खर्चीले थे, ठाठ-बाठ; शान-शौकत में खूब पैसा अपव्यय करते थे, राज्य और प्रभाव बढ़ाने की महात्वाकांक्षा के फलस्वरुप युद्धों में भी बेहद खर्च होता था। अतएव जब लुई १६ वें ने राज्य संभाला तब राज्य–कोष खाली था। राजा को धन की आवश्यकता हुई। धन मांगने के लिये राजा ने सामन्तों और पादरियों की एक बैठक बुलाई किन्तु उन स्वार्थी लोगों ने कुछ भी दाद नहीं दी। विवश हो राजा ने राज्य की आर्थिक स्थिति पर परामर्श के लिये एवं रुपया मांगने के लिये एक जातीय सभा (**State General**) बुलाई जिसमें सामन्त और पादरी लोगों के अलावा जन-साधारण के प्रतिनिधि भी शामिल थे। साधारण जनता इस शर्त पर अपने प्रतिनिधि भेजने को तैयार हुई थी कि उनके प्रतिनिधियों की संख्या सामन्तों और पादरियों से दुगनी हो। जातीय सभा में किसी बात पर विचार होने के पूर्व सबसे पहिले तो यह झगड़ा उठा कि किसी बात का निर्णय करने के लिये प्रतिनिधियों के वोट किस तरह लिये जायें। सामन्त और

पादरी यह चाहते थे कि हर एक श्रेणी पृथक पृथक मत दे, किन्तु जनता के प्रतिनिधि यह चाहते थे कि मत व्यक्तिगत प्रतिनिधि का लिया जाए और उसके आधार पर ही प्रश्नों का निर्णय हो। यह बात स्पष्ट थी कि यदि मत श्रेणीगत लिये गये तो शक्ति सामन्तों और पादरियों यथा उच्च वर्ग के ही हाथ में रहेगी। किन्तु यदि मत व्यक्तिगत लिये गये तो सत्ता और शक्ति उच्च वर्ग के हाथ से निकल कर उस साधारण जनता के हाथ में आ जायेगी, जिस पर राजा और उच्च वर्ग अब तक मनमाना राज्य करते आये थे और जिसको अब तक वे मनमाने ढङ्ग से दबाते हुए आये थे। जनता की इस मांग का सामन्तों ने तीव्र विरोध किया—बस इसी बात पर झगड़ा प्रारम्भ होता है और यहीं से क्रान्ति की शुरुआत होती है। सन् १७८९ ई. की यह बात है। जनता के प्रतिनिधियों ने घोषणा की कि वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं राष्ट्र की ओर से उन्हें अधिकार है कि वे राज्य का एक विधान तैयार करें,—और उसी विधान के अनुसार जिसका वे निर्माण करें, भविष्य में राज्य का संचालन हो। जनता के प्रतिनिधियों में उच्च वर्ग के कुछ समझदार लोग भी आ मिले थे—वस्तुतः जातीय सभा (स्टेट्स जनरल) अब एक जातीय संविधान सभा के रूप में परिवर्तित हो गई थी और इसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि इस बात पर डट गये थे कि वे राज्य का विधान बनाकर ही उठेंगे। जिस उद्देश्य से राजा ने सभा

बुलाई थी वह तो सब हवा हो चुका था। राजा और उसके सलाहकार यह बात सहन नहीं कर सके। राजा ने सभा को बंद कर डालने की आज्ञा दी। सभा-भवन से तो लोग बाहर निकल आये किन्तु एकत्रित सभा पहिले तो एक टैनिस कोर्ट पर, फिर एक गिरजा में होने लगी। गिरजा के बाहर जनता एकत्रित थी। राजा ने सेना बुला भेजी; इसने जनता के दिमाग में जो पहिले से ही क्रुद्ध था और भी गरमी पैदा कर दी–पेरिस की जनता ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और उनके झुंड के झुंड अपने अपने दिलों में भभकती आग लेकर पेरिस के उस विशाल किलानुमा जेलखाने (Bastille) की ओर चल पड़े जो राजाओं की क्रूरता, नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का काला प्रतीक खड़ा था। राजा की सेनाओं से भयङ्कर टक्कर हुई। जनता की शक्ति के सामने वे नहीं ठहर सके; जनता ने उस बेस्टिल को, उस काले प्रतीक को उखाड़ फेंका,–उसे मिट्टी में मिला दिया। १४ जुलाई १७८९ को यह घटना हुई। यह दिन 'स्वतन्त्रता और समता की भावना' का विजय दिन था। तभी जनता की प्रतिनिधि जाति सभा ने सार्वभौम मानव अधिकारों की घोषणा की कि सभी मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं–कानून जनता की इच्छा का प्रकाशन है अतः वह सबके लिये समान होता है कानून के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। राजनैतिक अधिकार या शासन सत्ता सम्पूर्ण जनता में नेदित है

न कि किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष में। इस घोषणा ने हजारों वर्षों की सामाजिक, राजनैतिक मान्यताओं को बदल डाला। नये समाज की रचना का सूत्रपात हुआ—केवल फ्रान्स में ही नहीं, किन्तु समस्त यूरोप में,—केवल यूरोप में ही नहीं, किन्तु समस्त विश्व में।

स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र के नये विचारों का उत्थान और प्रगति देखकर यूरोपीय देशों के अन्य राजा जैसे इङ्गलेंड, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, होलेंड, पोलेंड, पुर्तगाल, पवित्र रोमन साम्राज्य इत्यादि चौकन्ने हुए और उन्होंने नई चेतना की बढती हुई शक्ति को रोकने का संकल्प किया। फ्रांस का राजा लुई भी इन राजाओं के साथ मिलने का षडयन्त्र करने लगा। फ्रांस की जनता को इसका पता लगा। उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा। जनता ने सन् १७९२ में प्रजातन्त्र की घोषणा की एवं तुरन्त बादशाह लुई को सूली पर चढा दिया और जहां कहीं भी पेरिस में, फ्रांस में, राजाओं और राजशाही के पोषक कोई भी लोग, सामन्त या पादरी मिले, उन सबका निर्विरोध वध कर दिया गया। राज्य वंश को समूल नष्ट करने के लिए स्वयं लुई की रानी को भी गुईलोटिन (फांसी) की भेंट कर दिया गया। इसी गुईलोटिन पर फ्रांस के हजारों व्यक्तियों का जिन पर राजाओं के पोषक होने का सन्देह था खून बहाया गया।

सामन्तवाद, मजहबी पाखण्डवाद समूल नष्ट कर दिये गये। जन सत्तात्मक विचारों का प्रचार करने के लिये फ्रान्स के आसपास देशों में हलचल पैदा की गई। दूसरे देशों के साथ युद्ध ठन गये। दूसरे देश फ्रान्स और फ्रान्स के जनतन्त्र को बिल्कुल कुचल डालना चाहते थे—जिससे राजाओं की सत्ता हर जगह बनी रहे, किन्तु फ्रान्स के जनतन्त्र की सेनायें स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर उत्साह में लड़ती थीं। दूसरे देश फ्रान्स को कुचल नहीं सके बल्कि नई चेतना उन देशों में फैल गई और उन्हें जनतन्त्रवादी फ्रान्स की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इन युद्धों में कोर्सिका द्वीप के एक सिपाही ने जिसका नाम नेपोलियन था और जो फ्रान्स की जनतन्त्रवादी सेना में भर्ती हो गया था, बड़ी वीरता और युद्ध कौशल का परिचय दिया था। अतः फ्रान्स की सेना में सेना नायक के पद तक पहुंच गया था, और उसीके नेतृत्व में क्रान्तिकारी फ्रान्स ने यूरोप के देशों पर विजय प्राप्त की थी।

किन्तु धीरे धीरे प्रजातन्त्रवाद का जोश ठण्डा हो रहा था। वे नेता लोग जो क्रान्ति का संचालन कर रहे थे, यथा डाल्टन, रोब्सपीयर एवं अन्य विचार भेद से कई दलों में विभक्त हो गये थे। उनके पारस्परिक विरोध ने जनता में और भी शिथिलता पैदा कर दी थी। जाति-विधान-सभा ने यह परिस्थिति

देखकर ऐसा उचित समझा कि शासन का व्यवस्था भार कुछ इने गिने कुशल व्यक्तियों को सौंप दिया जाये। अतएव उसने पांच सदस्यों की एक समिति (Directory) बनाई और उसी को व्यवस्था भार सौंप दिया। फ्रांस धीरे धीरे अपने विजित देश खोने लगा था, अतः नेपोलियन को जो इस समय इटली और मिश्र में फ्रांस की विजय पताका फहरा रहा था, फ्रांस लौटना पड़ा। वह फ्रांस में अत्याधिक लोकप्रिय हो चुका था। व्यवस्था-समिति का वह एक सदस्य बना, किन्तु सुअवसर देखकर उसने व्यवस्था-समिति को ही तिरस्कृत कर दिया और स्वयं फ्रांस का अधिनायक बन बैठा। फ्रान्स ने–जो नैपोलियन से प्रभावित था–इस स्थिति को मंजूर कर लिया। यह घटना सन १७९९ ई. में हुई। सन १७९९ से १८०४ ई. तक फ्रांस में नाम मात्र वैधानिक ढङ्ग से किन्तु वस्तुतः एक तन्त्रवादी ढङ्ग से नेपोलियन राज्य करता रहा–और फिर १८०४ ई. में सब विधि-विधान को हटाकर उसने आप को फ्रांस का "सम्राट" घोषित कर दिया। इस प्रकार चाहे क्रान्ति;—समता, स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र के लिए क्रांति एक प्रकार से समाप्त होती है किन्तु चेतना जो जागृत हो चुकी थी वह बार बार दबाई जाने पर भी बार बार उभरी। फ्रांस में समता और स्वतन्त्रता की चेतना, के विकास का अध्ययन घटनाओं की निम्न लिखित रुप रेखा से हो सकता है।

१. (१७८९–१७९९ ई.)—फ्रांस की क्रान्ति; स्वतन्त्रता, समता की घोषणा; राजा, सामन्त और पादरी वर्ग का उच्छेदन और जनतन्त्र की स्थापना।

२. (१७९८–१८१५ ई.)—नेपोलियन का उत्थान, फ्रान्स में जनतन्त्र की समाप्ति एवं नेपोलियन की राज्य–शाही।

३. (१८१५–१८३० ई.)—सन् १८१५ ई. में नेपोलियन के पतन के बाद फ्रान्स में प्राचीन राज्य वंश के राजा की स्थापना और उन राजाओं की एक तन्त्रवादी राज्यशाही। अन्त में १८३० में जनता द्वारा एक बार फिर क्रान्ति।

४- (१८३०–१८४८ ई.) वैधानिक राजशाही (**Constitutional monarchy**) की स्थापना; उदार सामाजिक भावनाओं की विजय; १८४८ ई. में फिर एक राज्य-क्रान्ति और दूसरी बार प्रजातन्त्र (**Republic**) की स्थापना।

५. (१८४८–१८५२ ई.) द्वितीय प्रजातन्त्र काल। १८५२ ई. में नेपोलियन के भतीजे नेपोलियन द्वितीय द्वारा प्रजातन्त्र का उच्छेदन और स्वयं अपने आपको सम्राट घोषित कर देना।

६. (१८५२–१८७० ई.) नेपोलियन द्वितीय की राज्यशाही। फिर अन्त में १८७० में राज्य क्रान्ति और अनेक झगड़ों के बाद तीसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना।

७- १८७० ई. से आजतक स्थायी प्रजातन्त्र (**Republic**)।

यह है फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के उत्थान, पतन और फिर उत्थान का इतिहास।

फ्रांस की क्रांति-एक सिंहावलोकन—फ्रांस की क्रांति यूरोप में राजाओं के निरंकुश एकतंत्रवादी युग के बाद हुई, ऐसा होना स्वाभाविक था। इस क्रांति का प्रभाव और इसकी हलचल फ्रांस तक ही सीमित नहीं थी। यह घटना तो हुई १८वीं शताब्दी में (सन १७८९ ई. में), किंतु उसने जो हलचल पैदा की वह संसार में अब भी विद्यमान है। मानव का परम्परागत, संस्कारगत यह भाग्यवादी विश्वास शताब्दियों से बना हुआ था कि मानव मानव में जो विषमता है (अर्थात् जैसे कोई धनी है, कोई निर्धन, कोई उच्च वर्गीय है तो कोई निम्न वर्गीय, कोई राजा है कोई रंक) इसका कारण ईश्वरेच्छा है, या जैसा भारत में विश्वास किया जाता है इसका कारण कर्मवाद है। ऐसा समझा जाता था कि यह विषमता जन्मजात है, प्राकृतिक है। मानव के उस विश्वास को फ्रांसीसी क्रांति ने एक बेरहम ठोकर लगाई और उस सब सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था को उलट पलट करदिया। यह घोषणा की गई कि मानव मानव सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं, राजसत्ता समस्त जन में निहित है, किसी एक की बपौती नहीं। क्रांति का यह उद्देश्य तब पूरा हासिल नहीं किया जासका, किंतु मानव ने एक नये प्रकाश, एक नये ध्येय के

अवश्य दर्शन कर लिये थे और तब से मानव आज तक उसी की ओर प्रगतिमान है। स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की इस भावना के विरुद्ध सत्ताधारी स्वार्थी जन, चाहे वे पून्जीपति हों, राजकीय अधिकारी हों, धर्म पुरोहित हों,–अपना मोर्चा बनाते रहते हैं, एवं इस ध्येय की प्राप्ति में अड़चने पैदा करते रहते हैं, इस भावना के प्रवाह को रोकने के लिये पहाड़ खड़ा करदेते हैं, किन्तु यह भावना विप्लवकारी तूफान के रूप में फिर प्रकट होती है और प्रतिक्रियावादी पहाड़ों को चूर चूर करदेती हैं। यह भावना जिसका सूत्रपात फ्रांस की क्रांति में हुआ था, फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप के कई देशों में १८३० में, फिर १८४८ में, फिर १८७० में, और फिर रूस में सन् १९१७ में, और फिर चीन में सन् १९४९ में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुई है, और मानव ने प्रत्येक बार समानता और स्वतन्त्रता के ध्येय की ओर एक एक कदम आगे बढ़ाया है। मानव इतिहास में इस प्रकार की हलचलों की पुनरावृत्ति तब तक होती रहेगी जब तक सर्वत्र मानव समाज में समानता और स्वतन्त्रता कायम नहीं होजाती। ऐसा नहीं कि यह ध्येय केवल आदर्श मात्र रहाहो और इस दिशा की ओर मानव ने अब तक कुछ भी प्रगति नहीं की हो। फ्रांस की क्रांति के समय से आज तक लगभग डेडसौ वर्षों में मानव ने उपरोक्त ध्येय की ओर काफी प्रगति करली है–संसार में राजशाही प्रायः खत्म होचुकी है, कानून की दृष्टि में सब जन

बराबर हैं, धन की विषमता कम होती हुई जारही है, यह विषमता है भी तो ऐसी स्थिति नहीं कि कोई भी धनी किसी नौकर या निर्धन के व्यक्तित्व का अनादर करसके या उससे कोई भी अनुचित कार्य करवा सके, प्रत्येक जन को यह अधिकार प्राप्त है कि वह शासन में, समाज में उच्च से उच्च स्थान अर्थात् अधिक से अधिक जिम्मेदारी का पद प्राप्त करसके,—जाति, धर्म, अथवा सामाजिक वर्ग भेद न तो कोई विशेष सहायता दे सकते न कोई विशेष अड़चनें पैदा करसकते। अपेक्षाकृत पहिले से अधिक आज सब लोगों को सुविधायें प्राप्त हैं कि वे अपनी योग्यता का अधिकाधिक विकास कर सकें। आज समस्त मानव समता और स्वतंत्रता के आधारों पर एक नई दुनियां बनाने में संलग्न हैं।

नेपोलियन की हलचल (१७९९-१८१५ ई.)

कोरसिका द्वीप का एक सिपाही फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय फ्रान्स में पहुंचा और फ्रान्स की प्रजातन्त्र सेना में भर्ती हो गया। अपनी वीरता, साहस और योग्यता से प्रजातन्त्र फ्रांस की विजय पताका उसने इटली और दूर मिश्र तक फहराई अतः वह फ्रान्स की सेना का सेना नायक बना। उसका उत्थान होता गया और सन् १७९९ में फ्रान्स राज्य की समस्त सत्ता उसने अपने हाथ में ले ली, और वह समस्त यूरोप में एक मात्र फ्रांस

की सत्ता स्थापित करने के लिए अग्रसर हुआ। सन् १७९९ से १८०४ ई. तक उसने विधानानुसार फ्रांस का शासन किया। फ्रान्स में अनेक सुधार किये। सड़कें और नहरें बनवाईं, स्मारक और नये भवन बनवाये, शिक्षणालय और विश्व-विद्यालय स्थापित किये। स्वयं फ्रान्स के दिवानी कानून (**Civil code**) की बड़ी लगन और समझदारी से संहिता तैयार की जो आज तक भी प्रचलित है। क्रान्ति के 'समता' के विचार को, प्रोत्साहन दिया मानव मानव के बीच के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया और कानून के सामने न्याय और समता की स्थापना की। किन्तु क्रान्ति के "स्वतन्त्रता" की भावना से वह विशेष प्रभावित नहीं था। वह स्वयं निरंकुश एकतन्त्रीयता की ओर अग्रसर था। इतिहास के प्राचीन सम्राटों–जैसे सीजर, सिकन्दर, शार्लमन, के चित्र उसके सामने आने लगे थे और उसको भी स्यात् यह महत्वाकांक्षा होने लगी थी कि वह भी एक महान् सम्राट और विजेता बने। सन् १८०४ ई. में राज्य के सब विधि विधान को फेंक उसने अपने आपको सम्राट घोषित किया और यूरोप की विजय यात्रा के लिये निकल पड़ा। सन् १८०४ से १८१५ ई. तक यूरोप का इतिहास, एक मनुष्य के जीवन का इतिहास—नेपोलियन के जीवन का इतिहास है। समरांगण में वह अद्वितीय तेजी से बढ़ता था कुछ ही काल में उसने इटली, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, प्रशिया, स्पेन, और रूस को पदाक्रान्त कर डाला।

इङ्गलैंड को भी उसने पराजित करना चाहा किन्तु बीच में समुद्र (English Channel) पड़ता था—वह सोचता था कि बस एक बार यह खाई पार हो जाय तो इङ्गलैंड ही क्या वह सारी दुनियाँ का स्वामी बन सकता है। किन्तु इङ्गलैंड की सामुद्रिक शक्ति बड़ी विकसित थी–सन १८०४ में ट्राफालगर के युद्ध में इङ्गलैंड के सामुद्रिक बेड़े के कप्तान नेलसन ने उसको परास्त किया–और वह ईङ्गलिश चेनल पार नहीं कर सका। तमाम यूरोप फ्रान्स की बढ़ती हुई शक्ति से त्रासित हो गया। कुछ वर्षों तक नेपोलियन ने युद्ध क्षेत्र में यह नहीं जाना कि पराजय किसे कहते हैं। पवित्र रोमन साम्राज्य के पच्छिमी प्रान्तों को जीतकर उसने एक पृथक राइन संघ (Rhine-Confideration) बनाया। इससे सैकड़ों वर्षों से चले आते हुए पवित्र रोमन साम्राज्य का ही अन्त हो गया। आस्ट्रिया का राजा जो पवित्र साम्राज्य का सम्राट होता था वह अलग हो गया और अब केवल आस्ट्रिया का राजा रहा। जिन जिन देशों पर यथा इटली, पच्छिमी-जर्मन इत्यादि पर उसने शासन किया वहां भी उसने समानता और राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया।

किन्तु यूरोप के राष्ट्र जो फ्रान्स की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सकते थे, इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि नेपोलियन की शक्ति को किसी प्रकार रोक देना चाहिए। नेपोलियन से एक गल्ती हुई; अपनी अन्धी महात्वाकांक्षा में वह दूर तक

रूस में जा फँसा और इस उद्देश्य से कि वह इङ्गलैंड को भी परास्त करे उसने यूरोप के तमाम बन्दरगाहों को बन्द कर दिया जिससे कि कोई भी खाद्य सामान इङ्गलैंड न पहुँच सके। इससे स्वयं यूरोप के व्यापार को भी बहुत क्षति पहुंची और यूरोप में नेपोलियन की लोकप्रियता कम हो गई। जब वह रूस में लड़ रहा था तब यूरोप के राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरुद्ध एक संघ बनाया। आस्ट्रिया, प्रशिया ने रूस की मदद की और अन्त में १८१३ ई. में जर्मनी के वीनीपेग स्थान पर नेपोलियन की पहली करारी हार हुई। यूरोप छोड़कर उसे एल्वा द्वीप जाना पड़ा। वहां से सन् १८१५ ई. में एक बार फिर वह यूरोप में प्रकट हुआ, फिर एक बार अपनी शक्ति का परिचय दिया किन्तु इङ्गलैंड और जर्मनी की सम्मिलित शक्ति ने सन १८१५ में वाटरलू की लड़ाई में फिर उसे पराजित किया। कैदी बनाकर उसे सेण्ट हेलेना टापू भेज दिया गया जहां सन् १८२१ ई. में बावन वर्ष की उम्र में वह मर गया।

नेपोलियन की पराजय के बाद जब यूरोप के पराजित देश स्वतन्त्र हो गये और फ्रांस निराधार हो गया तब यूरोप में राजकीय व्यवस्था बैठाने के लिए यूरोप के राष्ट्रों की वियेना में एक कांग्रेस हुई (१८१४-१५) यूरोपीय राष्ट्रों के इस सम्मेलन ने यूरोप में एक नये नकशे का ही निर्माण कर डाला;—एवं यूरोप के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई।
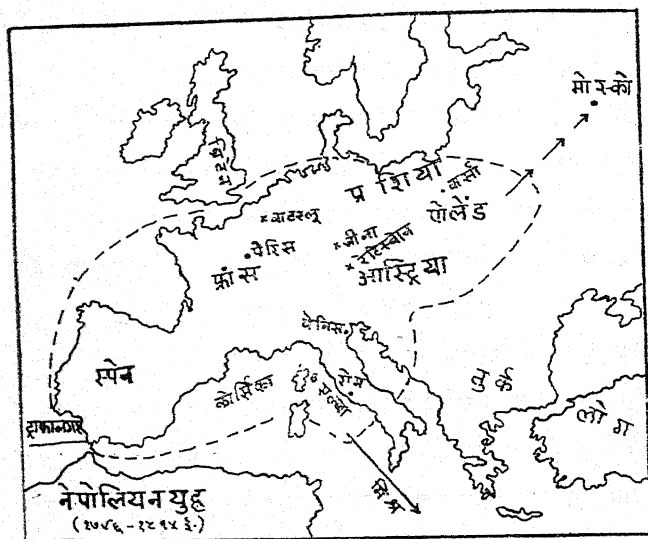
५३

यूरोप के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का अध्ययन

(१८१५–१८७० ई.)

वियेना की कांग्रेस (१८१५ ई.)

राजतंत्र के पुनः स्थापन के प्रयत्न

नेपोलियन के यूरोपीय क्षेत्र में से हट जाने के बाद यूरोप के राष्ट्र यथा इङ्गलेंड, प्रशिया, आष्ट्रिया, रूस, स्वीटज़रलेंड,

फ्रांस इत्यादि वियना में एकत्रित हुए और उन्होंने एक संधि द्वारा यूरोप के राज्यों का जो नेपोलियन के समय में क्षत-विक्षत हो गये थे, पुर्ननिर्माण किया अर्थात् राज्यों की सीमा पुनः निर्धारित की। यह काम करने में यूरोप के राष्ट्र दो भावनाओं के प्रचलित हुए। एक तो यह कि यूरोप में शक्ति-संतुलन बना रहे। अर्थात् कोई भी राष्ट्र अपेक्षाकृत इतना शक्तिशाली न हो जाये कि एक वह दूसरे राज्यों के लिए खतरा बन जाये। १७ वीं शती से लेकर आज तक यूरोप की राजनीति, यूरोप के युद्ध प्रायः इसी एक बात को लेकर चले हैं कि यूरोप में शक्ति संतुलन बना रहे। आधुनिक यूरोप का इतिहास इस शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की पृष्ठ भूमि में ही समझा जा सकता है। दूसरा सिद्धान्त जिससे वियेना की कांग्रेस परिचालित हुई वह यह था कि देशों के भिन्न भिन्न राज्य वंश (**Dynasties**) के स्वार्थों की अपेक्षा न हो। यूरोप के राज्यों की सीमायें निर्धारित करवाने में मुख्य हाथ आस्ट्रिया के पर राष्ट्र-मन्त्री मेटेरनिश का था जो एक बहुत प्रतिक्रियावादी व्यक्ति था और क्रांन्ति की भावनाओं के बिल्कुल विपरीत राजाओं की एक-तन्त्रीय सत्ता पुनः स्थापित हुई देखना चाहता था। वियेना कांग्रेस के निर्णयानुसार जो नई सीमायें निर्धारित हुई वे इस प्रकार हैं ।

(१) फ्रांस की प्रायः वही सीमा रही जो क्रान्ति के पूर्व उसकी थी। वहाँ फ्रांस के पुराने राज्य वंश (बोरबोन) की

पुनः स्थापना हुई, लुई १८ वें को फ्रांस का राजा बनाया गया।

(२) बेलजियम जो पहिले आस्ट्रिया साम्राज्य का अंग था, उसे होलेंड में मिला दिया गया जिससे कि फ्रान्स के उत्तर में फ्रांस की शक्ति को रोके रखने के लिये एक शक्तिशाली राज्य बना रहे।

(३) नोर्वे डेनमार्क से छीनकर स्वीडन को दे दिया गया।

(४) इटली जो नेपोलियन राज्य काल में प्रायः एक राज्य बन गया था वह फिर छोटे छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया गया जैसे वह नेपोलियन के आगमन के पूर्व था। इटली के दो सबसे बड़े धनी प्रदेश लोम्बार्डी और वेनिस आस्ट्रिया में शामिल कर दिये गये। पोप को पूर्ववत् अलग एक छोटा सा प्रदेश दे दिया गया। जिनोआ का राज्य सार्डिनिया को दिया गया, और टस्केनी और दो-तीन और छोटे छोटे राज्यों में आस्ट्रिया राज्य वंश के व्यक्ति राजा बना दिये गये। इस प्रकार इटली विशेषतयाः आस्ट्रिया साम्राज्य के प्रभुत्व में रखा गया।

(५) पवित्र रोमन साम्राज्य तो १८०४ ई. में समाप्त हो ही चुका था, उसकी जगह जर्मनी को ३९ छोटे छोटे राज्यों का पृथक एक संघ बना दिया गया, जिसमें प्रशिया और आस्ट्रिया राज्यों के भी भाग सम्मिलित थे। इस संघ का राज्य-संचालन एक व्यवस्थापिका सभा (Diet) करती थी जिसमें संघ के प्रत्येक राज्य के राजा के प्रतिनिधि बैठते थे। इस संघ

का अध्यक्ष आस्ट्रिया का राजा था, गो कि इसके नेतृत्व के लिये प्रशिया भी आकांक्षा रखता था। वस्तुतः इस संघ की आवश्यकता तो यह थी कि छोटे छोटे राज्य सब विलीन होकर केवल एक सुसंगठित जर्मन राज्य में परिणत हो जायें, किन्तु छोटे छोटे राज्य संकुचित स्वार्थ-भावना वश अपनी अपनी हस्ती अलग बनाये रखने पर तुले हुए थे।

प्रशिया को राइन नदी के दोनों ओर कुछ प्रदेश मिले जिससे उसकी शक्ति में और भी वृद्धि हुई। रूस को वह प्रदेश मिला जो कि वस्तुतः पोलेंएड का एक भाग था और 'वारसा की डची' (**Duchy of Warsaw**) कहलाता था। इङ्गलेंड को औपनिवेशिक प्रदेशों की दृष्टि से अत्याधिक लाभ हुआ। स्पेन से उसको ट्रिनीडेड मिला, फ्रांन्स से मारेशियस और तम्बाकू और होलेंड से आशा अन्तरीप और लंका।

यूरोप के राज्यों की उपरोक्त व्यवस्था अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये,-यूरोप के चार प्रमुख राष्ट्रों का यथा आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस और इङ्गलेंड का सन १८१५ में ही एक संघ बना, जो सन् १८२२ तक कायम रहकर इङ्गलेंड के इससे पृथक हो जाने पर टूट गया। एक दृष्टि से यह सन् १६१६ के राष्ट्रसंघ (**League of nations**) का पूर्वाभास था। सन् १८१५ में ही आस्ट्रिया के मन्त्री मेटरनिश के नेतृत्व में तीन देशों का यथा रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया का एक "पवित्र संघ"

वियेना कांग्रेस के बाद १८१५ ई.
सीमा जर्मन संघ
वियेना
पेरिस
वारसा
ग्रीस
सारडिनिया
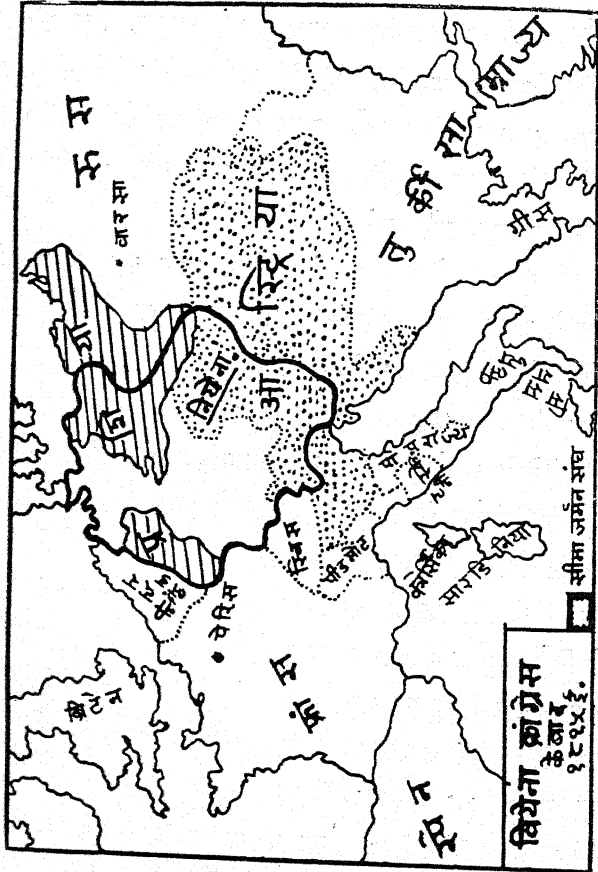
(**Holy Alliance**) बना, जिसका उद्घोषित उद्देश्य तो यह था कि बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार ही इसके सदस्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार करेंगे किन्तु वास्तविक उद्देश्य यह था कि यूरोप में साधारण जन की सब प्रगतिवादी 'समता' और 'स्वतन्त्रता' की भावना को कुचले रखना और राजाओं व अधिकारियों की सत्ता बनाये रखना। पवित्र संघ ने जहां जहां उदार शक्तियों ने सिर उठाने का प्रयत्न किया जैसे स्पेन में, जर्मनी में, इटली के प्रदेशों में, वहां वहां उनको अपनी सम्मिलित शक्ति से कुचल डाला।

वियेना कांग्रेस की त्रुटियां:—१. यूरोप के राज्य की सीमाओं का जो नव निर्माण किया गया उसमें साधारण जन की प्रस्फुटित होती हुई राष्ट्रीय भावनाओं का कुछ भी खयाल नहीं रखा गया। जैसे बेलजियम को जो एक कैथोलिक प्रदेश था और जिसकी भाषा कैल्टिक थी प्रोटेस्टेन्ट धर्मी होलेण्ड से मिला दिया गया; एवं इटली और जर्मनी देश जो राष्ट्रीय एकीकरण की ओर उन्मुख थे, उनकी इस गति को उनके छोटे छोटे टुकड़े करके रोक दिया गया। पवित्र संघ स्थापित करके राजाओं की शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने का जो प्रयत्न था वह अप्राकृतिक था क्योंकि जन स्वाधीनता के बीज जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने बो दिये थे उनको दबाये रखना असम्भव था।

अतः सन् १८१५ में यूरोप में नव व्यवस्था स्थापित होते ही उसमें विच्छेदन भी प्रारम्भ होगया। इसके आगे का यूरोप का इतिहास उपरोक्त दो मुख्य त्रुटियों के निराकरण का इतिहास है; इसकी गति भी उपरोक्त दो त्रुटियों के निराकरण में दो प्रकार की होती है:—१. जन स्वाधीनता और जन सत्ता के लिये आंदोलन जिसके फलस्वरूप कई जन क्रान्तियां हुई-जैसे सन् १८३० में फ्रांस में,-जिसके प्रभाव से बेलजियम, जर्मनी, इटली, इङ्गलेंड में भी क्रान्तियां हुई; १८४८ में फिर फ्रांस में,-जिसकी प्रतिक्रिया और दूसरे देशों में भी हुई। और १८७० में फिर फ्रांस में—जिसकी भी प्रतिक्रिया और देशों में हुई। २. स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान—जैसे बेलजियम, ग्रीस, इटली और जर्मनी। उपरोक्त दो प्रकार की हलचलें एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं थीं-उन सब की गति एक ही ओर थी—जनता के सहयोग पर आश्रित स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों की उद्भावना और प्रगति। इस गति में तीन भावनायें निहित थीं:—समता, स्वतन्त्रता एवं जातीयता (राष्ट्रीयता)

जन-स्वाधीनता और जनसत्ता के लिये क्रान्तियां

(१८३० एवं १८४८)

सन् १७७६ में अमरीका का स्वाधीनता संग्राम हुआ, वहां जन-सत्तात्मक शासन की स्थापना हुई और उसी अवसर पर

अपने विधान के मूलाधार मानव के सार्वभौम स्थायी अधिकारों की घोषणा हुई। फिर सन् १७८९ में फ्रान्स की क्रान्ति हुई, उसमें भी मानव समानता और स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। मानवजाति के मनीषियों और महापुरुषों ने मानव की चेतना को जागृत किया था और उसे समता और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया था। किन्तु इस नव जागृत चेतना को दवा देने के लिये भी स्वार्थमयी शक्तियां समाज में काम कररही थीं। १८१५ में नेपोलियन के पतन के बाद इन प्रतिगामी शक्तियों ने जोर पकड़ा और आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री मेटरनिश के नेतृत्व में रुस, प्रशा, स्पेन इत्यादि के शासकों ने पहिले तो जनता की, जातियों की आकांक्षाओं की परवाह किये बिना मनमाने ढङ्ग से यूरोप के राज्यों का संगठन किया और फिर अपने अपने देश में जनता की भावनाओं को कुचले रखने के लिये दमनचक्र चलाना प्रारंभ किया। किन्तु वह चिनगारी जो यूरोप की जनता में लगचुकी थी, बुझाई नहीं जासकी। फ्रान्स में नेपोलियन के बाद प्राचीन बोरबोन वंश के राजाओं का जो निरंकुश राज्य स्थापित कर दिया गया था उसके विरुद्ध फिर सन् १८३० में देश भर में क्रान्ति की आग फैल गई। वह आग केवल फ्रान्स मे ही नहीं किंतु इटली, जर्मनी, पोलेंड, स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि देशों में भी फैल गई। पोलेंड को छोड़कर प्रायः सब जगह राजाओं का स्वेच्छाचारी शासन समाप्त हुआ और हर जगह राजाओं को जन

सत्तात्मक विधान (अर्थात् वह व्यवस्था जिसमें शासनाधिकार जनता पर आश्रित हों,-शासन जनता की सम्मति से होता हो) मंजूर करने पड़े ।

१८४८ की क्रान्ति-१९वीं शती के मध्य तक यूरोप में यांत्रिक और औधौगिक क्रान्ति होचुकी थी, उसके फलस्वरुप पच्छिमी यूरोप के समाज में एक नये वर्ग, एक नई भावना ने जन्म लेलिया था। वह नया वर्ग था श्रमिक वर्ग और वह नई भावना थी "समाजवाद" की भावना। यूरोप के मानव समाज में यह एक मूलतः नई चीज़ थी। यान्त्रिक उत्पादन के फलस्वरुप उत्पन्न नई आर्थिक परिस्थितियों ने उपरोक्त नई भावना और नये वर्ग को जन्म दिया था। राजाओं का एकतन्त्री शासन तो निसन्देह १८३० की क्रान्ति में समाप्त होचुका था और वे जनता की सम्मति से याने व्यवस्था सभाओं की सम्मति से शासन चलाते थे। किंतु उन व्यवस्था-सभाओं में प्रतिनिधित्व विशेषतया उच्च वर्ग का अर्थात् पून्जीपति एवं उच्च मध्यवर्गीय लोगों का होता था। निम्न वर्ग, किसान और मजदूर लोगों का यथेष्ठ प्रतिनिधित्व उसमें नहीं था। अतः समाज का आर्थिक ढ़ाँचा और उसके कानून इस प्रकार बने हुए थे जिसमें उच्च वर्ग के लोगों के स्वत्व और स्वार्थ कायम रहें और निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों के धन, शक्ति और एश्वर्य के साधन मात्र

बनकर रहें। तत्कालीन फ्रांस का राजा पूंजीपति एवं उच्च मध्य-वर्ग के प्रभाव में था; जनता की यह मांग थी कि मताधिकार निम्न-वर्ग के लोगों को भी प्राप्त हो, किंतु फ्रांस का राजा यह बात मानने को तैयार नहीं था। मानव को जब यह भान होचुका था कि सब समान हैं, तब ऐसी स्थिति का कायम रहना जिसमें कुछ लोगों को तो विशेषाधिकार हो और कुछ को नहीं, कठिन था। अतः फिर एक बार क्रांति की आग धधक उठी, उसने फ्रांस के राजा को ही खत्म करडाला, फ्रांस में राजशाही की जगह प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इस क्रांति का प्रभाव भी सन १८३० की क्रांति के समान यूरोप के अन्य देशों में पहुंचा। इङ्गलैंड में मताधिकार प्रसार के आन्दोलन को नया वेग मिला और यद्यपि वहां कोई खूनी क्रांति नहीं हुई किंतु मताधिकार प्रसार का आन्दोलन अवश्य सफल हुआ। १८३० में पुराने अनियमित बोरोज को (जिले) जो पुराने जमाने से निर्वाचन क्षेत्रों के रुप में चले आते थे किंतु जहां अब जनसंख्या बहुत कम होचुकी थी, हटा, नये निर्वाचन क्षेत्र बना दिये गये जिससे नये स्थापित नगरों को भी प्रतिनिधित्व मिल सके। १८६८ ई. में एक नये कानून से समस्त मजदूर वर्ग को मताधिकार दिया गया और फिर १८८४ ई. में समस्त किसान वर्ग को भी यह अधिकार मिला। इसके फलस्वरूप इङ्गलैंड में वयस्क पुरुषों का सार्वभौम मताधिकार स्थापित होगया। इस क्रांति की

प्रतिक्रिया जर्मनी और इटली में भी हुई जहां स्वतन्त्रता और एकता के लिये चलते हुए आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला और जिनकी परिणति इटली की स्वाधीनता और स्थापना में, एवं जर्मनी की एकता की स्थापना में हुई।

स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान

बैलजियम:-(१८३१)–१८१५ ई. में वियेना की कांग्रेस ने इसको हालैण्ड के साथ जोड़ दिया था–किन्तु बैलजियमवासियों का धर्म और भाषा हालैण्ड वासियों से भिन्न थी। हालैण्ड अपनी भाषा, अपने धर्म, राजकीय एवं आर्थिक स्वार्थों का प्रभुत्व बैल-जियम पर जमाने लगा। बैलजियम वासी इसको सहन नहीं कर सके। और उन्होंने विद्रोह कर दिया। अन्त में यूरोप के अन्य बड़े राज्यों के बीच बचाव से सन् १८३१ में बैलजियम एक पृथक राज्य घोषित कर दिया गया। विधान सम्मत राजशाही (**Constitutional Monarchy**) की वहां स्थापना हुई और देश की स्वाधीनता और उसकी तटस्थ स्थिति को मान्यता दी गई। यूरोप में प्रसारित होते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की यह प्रथम विजय थी।

ग्रीस का स्वाधीनता युद्ध:-(१८२६):–ग्रीस जो मध्य युग में पूर्वीय रोमन साम्राज्य का अंग था, सन १४५३ ई. में बढ़ते हुए उस्मान तुर्की साम्राज्य का अंग बना। तब से ग्रीक

लोग कई सदियों तक उसी इस्लामी तुर्की साम्राज्य के गुलाम रहे और उनसे आतंकित। १६वीं सदी में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से उद्भूत होकर यूरोप के सब देशों में स्वतन्त्रता की एक लहर फैली और नेपोलियन के पतन के बाद प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की भावना। ग्रीक लोगों में भी चेतना जागृत हुई और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिये तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध सन् १८२१ में युद्ध शुरू कर दिया। इस छोटे से देश का तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ा होना एक सहासमात्र था। किन्तु ग्रीक लोग स्वतन्त्रता की प्रेरणा से वीरता से लड़े, अन्य यूरोपीय देशों के भी स्वाधीनता प्रेमी अनेक साहसी युवक आ आकर ग्रीस के स्वाधीनता संग्राम में सहयोग देने लगे, और ग्रीस सेना में भर्ती होकर तुर्कों के खिलाफ लड़ने लगे। इस प्रकार अनेक स्वयं सेवक जो ग्रीस की सेना में भर्ती हुए उनमें इङ्गलेण्ड का प्रसिद्ध महाकवि लोर्ड बायरन भी था। कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा—अकेला ग्रीस विशाल तुर्की साम्राज्य के सामने नहीं ठहर सकता था। अन्त में इङ्गलेण्ड, फ्रान्स और रूस ने बीच बचाव किया, टर्की की कई जगह हार हुई और आखिरकार १८२६ ई. में ग्रीस स्वतन्त्र हुआ। वहां राजतन्त्र सरकार कायम हुई, बवेरिया का एक राजकुमार राजा हुआ।

इटली की स्वतन्त्रता और एकीकरण (१८७१)

वियेना की कांग्रेस के बाद इटली की राजनैतिक दशा

निम्न प्रकार थी। इटली छोटे छोटे कई राज्यों में विभक्त था। हम इन राज्यों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. इटली का देशी राज्य—पीडमाण्ट और सार्डिनिया का राज्य। यहां इटली जाति के ही एक राजा विकटर इमेन्यूअल द्वितीय का शासन था। २. इटली के बीचों बीच रोम के पोप का राज्य था ३. विदेशी राज्य—उत्तर में लोम्बार्डी और विनेशिया तो सीधे आस्ट्रिया के आधीन थे और टस्केनी, पालमा, मोदेना इत्यादि छोटे छोटे राज्य आस्ट्रिया राज्य वंश के राजकुमारों के शासनाधीन थे। इस प्रकार इटली के एक प्रमुख भाग पर विदेशियों का शासन था, और समस्त इटली, प्रायद्वीप पर उसका प्रभाव। ४. दक्षिण में दो सिसली राज्य थे—जहाँ फ्रान्स के बोर बोन वंश के राजाओं का अधिकार था।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इटली में गोथ (आर्य) लोगों के छोटे छोटे राज्य स्थापित हुए। मध्य युग में भी यही दशा रही, उस काल तक तो राष्ट्रीयता की भावना का जन्म ही न हो पाया था। सोलवीं शताब्दी में इटली के राजनैतिक विचारक मेकिया विली ने राष्ट्रीयता का विचार लोगों को दिया और उसने यह स्वप्न देखा कि इटली के सब छोटे छोटे राज्य संगठित होकर एक प्रिंस (राजा) के आधीन हो जायें। किन्तु उस युग में यह सम्भव नहीं था। १९वीं शताब्दी के

प्रारम्भ में समस्त इटली पर नेपोलियन का प्रभाव रहा और उसने आधुनिक युग में इटली वासियों में एकता और स्वतन्त्रता की भावना पैदा की । नेपोलियन के पतन के बाद वियेना की कांग्रेस द्वारा इटली का कई राज्यों में विभक्तीकरण हुआ जिसका जिक्र अभी ऊपर किया जा चुका है । किन्तु नेपोलियन काल में स्वतन्त्रता और एकता की जिस भावना का आभास इटली वासी पा चुके थे, उसे वे नहीं भूले । इसी काल में इटली में वहां का प्रसिद्ध देशभक्त और लेखक जोसेफ मेजेनी (१८०५–७२) पैदा हुआ, जो मानो इटली की स्वतन्त्रता का देवदूत था । उसने अपने लेखों से और अपने शुद्ध स्वार्थ रहित त्यागमय जीवन से इटली के जन जन में स्वतन्त्रता के लिए एक तीव्र उत्कण्ठा पैदा कर दी । साथ ही साथ १८३० और १८४८ की राज्य क्रान्तियों ने इटली-वासियों में और भी उत्साह भर दिया । वे आस्ट्रिया से एवं आस्ट्रिया के राजकुमारों के छोटे छोटे राज्यों के एक-तन्त्रीय शासन से मुक्त होने के लिये अग्रसर हो गये । विदेशियों के विरुद्ध अनेक षडयन्त्र और हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। किन्तु वे सफल नहीं हो पाये । सार्डिनिया के इटली जातीय राजा विक्टर इमेन्यूअल का महा मन्त्री उस समय काउण्ट केवर (**Count Cavour**) था । उसने इस तथ्य को पहचाना कि बिना बाहर की सहायता के केवल षडयन्त्रों से इटली को मुक्त नहीं किया जा सकता, अतः उसने बड़ी सोच समझ के बाद एक

कूट-नीति-पूर्ण कदम उठाया। उस समय फ्रान्स रूस के लिये क्रीमियां की लड़ाई में फंसा हुआ था। उसने तुरन्त सार्डिनियाँ की फौजें फ्रांस की मदद के लिए भेज दी। इससे फ्रांस का शक्तिशाली राष्ट्र प्रसन्न हुआ। केवर सामरिक तैयारियां करता रहा और अपनी फौजें बढ़ाता रहा और इसी टोह में रहा कि आस्ट्रिया से किसी भी प्रकार झगड़ा मोल ले लिया जाय। आस्ट्रिया ने जो विक्टर इमेन्यूअल की सामरिक तैयारियां देख रहा था, उसको एक धमकी दी कि वह अपनी फौजों का निशस्त्रीकरण कर दे। इसी बात को लेकर युद्ध छिड़ गया। फ्रांस इटली की मदद को आया। १८५६ में आस्ट्रियन लोगों की हार हुई। लोम्बार्डी प्रान्त इटली के हाथ लगा। इटली की मुक्ति और एकीकरण की तरफ यह पहला कदम था। इस ओर अन्य घटनायें इस प्रकार हुई :—

१. १८५६ में उपरोक्त लोम्बार्डी प्रान्त इटली जातीय राज्य सार्डिनिया में मिला लिया गया।

२. १८६० में टस्कनी, पालमा, मोदेना आदि छोटे छोटे राज्यों में विद्रोह हुआ; वहां के राजाओं को हटा दिया गया और वे सब राज्य उपरोक्त जातीय राज्य में मिला दिये गये।

३. इसी वर्ष दक्षिण के दो सिसली राज्यों में जहां फ्रांस के बोरवोन वंश के राजाओं का राज्य था, विद्रोह हुआ। इटली के स्वतन्त्रता संग्राम के वीर योद्धा गैरीबाल्डी ने इस विद्रोह का

सफलता पूर्वक नेतृत्व किया। और इन दोनों राज्यों को हराकर सार्डिनिया के जातीय राज्य में मिला दिया।

४. १८६६ ई. में आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ गय। सार्डिनिया के राजा विक्टर इमेन्यूअल ने प्रशिया की मदद की, युद्ध में आस्ट्रिया की हार हुई और सार्डिनिया ने प्रशिया की जो मदद की थी, उसके बदले में वेनिस (वेनेशिया) का राज्य उसको प्राप्त हुआ।

५. १८७० ई. में स्वयं विक्टर इमेन्युअल ने रोम पर चढ़ाई कर दी और यह अन्तिम राज्य भी इटली राज्य में मिला लिया गया।

इस प्रकार १८७० ई. में इटली की मुक्ति हुई और शताब्दियों के बाद इटली एक राज्य बना। यह काम देश भक्त मेजेनी की प्रेरणा से, गैरीबाल्डी की तलवार से, मन्त्री केवर की कूटनीति से और राजा विक्टर इमेन्यूअल की सहज बुद्धि से सम्पूर्ण हुआ।

जनता की सम्मति से विधान-सम्मत राजतन्त्र की स्थापना हुई। पार्लियामेण्ट की सम्मति से राजा राज्य करने लगे। पहिला राजा विक्टर इमेन्यूअल ही बना। मुक्त होने के बाद इटली कुछ ही वर्षों में यूरोप का एक शक्तिशाली अगुआ राष्ट्र बन गया।

४. जर्मनी का एकीकरण

मध्य युग में वह प्रदेश जो आधुनिक जर्मनी है पवित्र रोमन साम्राज्य के रुप में स्थित था। उसकी यह स्थिति कई सदियों तक बनी रही। यह पवित्र साम्राज्य एक केन्द्रिय सुसंगठित राज्य नहीं था। इसमें सैकड़ों छोटे छोटे राज्य थे, जिनके शासक कहीं तो सामन्ती सरदार (Dukes होते थे और

कहीं के शासकों को राजा की उपाधि भी होती थी । एक जर्मन राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था यद्यपि यूरोप से फ्रान्स स्पेन, पुर्तगाल, इङ्गलेंड और रुस पृथक पृथक राष्ट्रीय राज्य बहुत पहिले ही बन चुके थे। इस पवित्र साम्राज्य पर १६ वीं शती के प्रारम्भ में फ्रान्स के नेपोलियन बोनापार्ट का अधिकार हुआ, उसने पवित्र साम्राज्य के नाम को खत्म किया, उस साम्राज्य के पश्चिमी राज्यों को मिला कर सन् १८०६ में राइन संघ का निर्माण किया। इस संघ से पृथक पूर्व में प्रशिया और आस्ट्रिया के अलग राज्य कायम रहे । किन्तु १८१५ ई. में नेपोलियन के पतन के बाद, राइन संघ को तोड़कर अलग एक जर्मन संघ का निर्माण किया गया, जिसमें राइन संघ के छोटे छोटे राज्यों के अतिरिक्त प्रशिया और आस्ट्रिया राज्यों के भी कुछ भाग सम्मिलित किये गये। प्रशिया के निवासी टयूटोनिक जाति के थे जो जर्मन भाषा बोलते थे; आस्ट्रिया राज्य के कुछ भागों के निवासी अधिकतर स्लैव जाति के थे जो स्लैव जाति की भाषायें बोलते थे। इस नये संघ के निर्माण होने के पहिले उक्त प्रदेशों में जितने भी उदार विचारवादी जर्मन भाषाभाषी थे उनकी यह उत्कट इच्छा थी कि छोटे छोटे सब राज्यों का एकीकरण होकर एक सशक्त केन्द्रीय जर्मन राज्य स्थापित हो किंतु उनकी यह इच्छा सफल नहीं हो सकी; एक केन्द्रीय राज्य बनाने के बदले वियेना की कांग्रेस ने

आस्ट्रिया के नेतृत्व में एक शिथिल संघ बनाकर रख दिया।

इस संघ के नेतृत्व के लिये प्रशिया भी अग्रसर था—आस्ट्रिया और प्रशिया में इस बात पर प्रतिस्पर्धा खड़ी हो गई। वियेना की कांग्रेस के बाद उक्त जर्मन संघ के इतिहास में दो बड़े आन्दोलन प्रारम्भ हुए। एक का उद्देश्य था जर्मन एकता और दूसरे का उद्देश्य उदारवादी जन शासन। जर्मन भाषा भाषी अनेक नवयुवक और विद्यार्थी इस प्रेरणा में लीन हो गये कि छोटे छोटे स्वेच्छाचारी राजाओं को हटाकर एक शक्ति शाली संगठित राज्य स्थापित किया जाये। सन् १८३० व ४८ की फ्रांस की क्रान्तियों का भी उन पर जबरदस्त असर पड़ा। सबसे पहिले तो इन छोटे छोटे राज्यों में व्यापारिक एकता स्थापित हुई जिसका अर्थ था कि अन्तर्-प्रान्तीय व्यापार बिना किसी पाबन्दी या महसूल के स्वतन्त्र रुप से हो। यह जर्मन एकता की ओर प्रथम पद था। एकता के भाव को सर्वाधिक उत्तेजना देने वाला प्रशिया था। इसलिये सभी लोग प्रशिया को अपना नेता समझने लगे। जर्मन संघ को प्रशिया के अधिनायकत्व में एक केन्द्रीय राज्य बनाने के प्रयत्न भी हुए किन्तु आस्ट्रिया ने उन सबको विफल कर दिया सन् १८६१ में प्रशिया का राजा विलियम द्वितीय था। उसको बिसमार्क नामक एक कुशल और साहसी पुरुष मिला जो प्रशिया राज्य का प्रधान मन्त्री एवं पर राष्ट्र मंत्री बनाया गया।

बिसमार्क जर्मनी के महापुरुषों में से एक हैं । बिसमार्क का यह विश्वास था कि प्रशिया का उद्देश्य जर्मन जाति की एकता है और वह एकता प्रशिया के राजवंश द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है । बिसमार्क ने एक अद्भुत्त शक्तिशाली अनुशासनशील सेना का निर्माण किया । यह सेना यांत्ररिक शस्त्रों द्वारा लैस थी। मशीनों द्वारा आधुनिक ढ़ङ्ग के शस्त्र पहिले कभी भी नहीं ढ़ाले गये थे। बिसमार्क की संगठनकर्त्री कुशलता का केवल इसी बात से पता लगता है कि जब १८७०-७१ में फ्रांस और प्रशिया में युद्ध हो रहा था तब प्रशिया की जो १५० रेल गाड़ियां जिनमें डेड लाख सैनिक थे, फ्रांस की सीमा पर भेजी गई उनमें एक भी गाड़ी, एक मिनट की भी देरी से नहीं पहुँची । बिसमार्क ने आस्ट्रिया को अलग करने का एक ही रास्ता निकाला था और वह था "रक्त और लोह" (Blood and Iron) की नीति । वास्तव में वह स्वयं तत्कालीन यूरोप का एक लौह पुरुष था--जिसने बिखरी ईंटों में से एक नये राष्ट्र का निर्माण कर, उस राष्ट्र को भी फौलादी राष्ट्र बना दिया । जब से प्रशिया में बिसमार्क के हाथ में शक्ति आई तभी से मानों जर्मनी सचमुच एक संगठित राष्ट्र की ओर तेजी से अग्रसर हो गया । सर्व प्रथम बिसमार्क ने आस्ट्रिया से निबटना चाहा । १८६६ ई. में आस्ट्रिया से उसने युद्ध छेड़ दिया । आस्ट्रिया की हार हुई--प्रेग में संधि हुई--सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया जर्मन संघ से पृथक हुआ

और उसने यह स्वीकार किया कि प्रशिया जिस तरह से चाहे जर्मनी का निर्माण कर सकता है। बिसमार्क ने जर्मन संघ के उत्तरी राज्यों का सन् १८६७ में एक संघ बनाया जिसका अधिनायक प्रशिया रहा; इसमें दक्षिण के राज्य जो रोमन कैथोलिक थे और जिनको फ्रांस का सहारा था शामिल नहीं हुए। अतः बिसमार्क को फ्रांस से भी निपटना पड़ा। सन् १८७०-७१ में महत्वपूर्ण जर्मन फ्रांस युद्ध हुआ। सीडेन युद्ध क्षेत्र में फ्रांस की हार हुई और फ्रांस का राजा नेपोलियन द्वितीय कैद कर लिया गया। आखिर युद्ध का निर्णय फ्रैंकफोर्ट की संधि में हुआ। जर्मनी में फ्रांस का हस्तक्षेप समाप्त हुआ और उसे अपने प्रांन्त अल्सेस लोरेन जर्मनी को देने पड़े। जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण हुआ। होहनजोलर्न राज्य वंश की अध्यक्षता में एक राष्ट्र-संसद का निर्माण हुआ; और इस प्रकार विधान-सम्मत राजतन्त्र की वहां स्थापना हुई। शताब्दियों के बाद जर्मन जाति एक राष्ट्रीय राज्य के अंतर्गत संगठित हुई।

हंगरी का उत्थान :—सन १८०६ में पवित्र रोमन साम्राज्य खतम हुआ। उसकी जगह पच्छिम में तो मुख्यतया: जर्मन लोगों का राइन संघ बना और पूर्व में हैब्स वर्ग वंश के राजाओं का आस्ट्रिया साम्राज्य अलग। आस्ट्रियन साम्राज्य का विस्तार उत्तरी इटली में एवं जर्मनी के कुछ प्रान्तों तक था।

१९वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की जो लहर चली उसके फलस्वरुप सन् १८५९-६० में तो इटली के प्रान्त उससे पृथक हुए और सन १८६६ में जर्मनी के प्रदेश। इन प्रदेशों के पृथक होने के बाद भी आस्ट्रिया साम्राज्य में कई जातियों के लोग रह गये थे। जैसे मगयर, स्लैव, जैक इत्यादि। आस्ट्रिया के सम्राट को यह महसूस हुआ कि राज्य को शक्तिशाली बनाये रखने के लिए उसमें भिन्न भिन्न जाति के जो लोग हैं उनको खुश रखना आवश्यक है विशेषतः उन मगयर लोगों को जो उस भाग में बसे हुए थे जो हंगरी कहलाता था। अतः सन् १८६८ ई. में सम्राट ने अपने राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया एक आस्ट्रिया जिसकी राजधानी वियेना रही और दूसरा हंगरी जिसकी राजधानी बुदापैस्ट रक्खी गई। इस प्रकार एक नये राज्य का उद्भव हुआ। दोनों राष्ट्र विदेश नीति और दूसरे प्रश्नों को छोड़कर अपने आंतरिक मामलों में स्वतन्त्र रहे। आस्ट्रिया का सम्राट हंगरी का राजा रहा। यह स्थिति सन् १९१९ तक चलती रही, जब प्रथम महायुद्ध के बाद इन दोनों राज्यों में से तीन राज्यों का निर्माण किया गया यथा आस्ट्रिया, हंगरी और तीसरा नया राज्य जेकोस्लोवेकिया।

यूरोप (१८१५-७०) एक सिंहावलोकनः—देखा होगा जनतन्त्र और राष्ट्रीयता इन्हीं दो शक्तियों ने १९वीं सदी में

यूरोप के इतिहास का निर्माण किया । जनतन्त्र की भावना ने राजशाही को खत्म किया और उसकी जगह वैधानिक राजतन्त्र या गणतन्त्र (Republic) राज्यों की स्थापना हुई । "राजाओं का दिव्याधिकार" का विचार एक हास्यास्पद पुरानी कहानी रह गया ।

तीव्र राष्ट्रीय भावना ने नये राष्ट्रों को, नये राज्यों को जन्म दिया, कई परतन्त्र राज्य मुक्त हुए, एक राज्य का दूसरे राज्य पर, एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार हो, ऐसी स्थिति बना रहना प्रायः असंभव हो गया । अब देश देश में जातीय गौरव, तीव्र राष्ट्रीयता की भावना थी । इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, होलेंड, बेलजियम, रूस इत्यादि प्रत्येक अब अलग अलग राज्य था, या अलग अलग जाति या अलग अलग राष्ट्र । यूरोप के जीवन में यह एक नई वस्तु थी जिसका मध्ययुग तक कोई रूप नहीं था; तब तो छोटे छोटे सामन्तों या राजाओं के आधीन रहते हुए यूरोप के लोग सब "ईसाई" थे और सब जातीय भेदभाव के बिना एक पोप या एक पवित्र रोमन सम्राट के आधीन थे । उपरोक्त नवउद्भूत राष्ट्रीयभावना ने राजनीति में 'कूटनीति' (Diplomacy) को जन्म दिया था । यूरोप के राज्यों का यही प्रयास रहता था कि सच झूठ, नैतिक अनैतिक किसी भी तरह हो अपने अपने राष्ट्र का अभ्युदय और उत्थान हो, कोई दूसरा राष्ट्र इतना शक्तिशाली न बन जाये कि वह किसी भी दूसरे

राष्ट्र के लिये कुछ खतरा पैदा कर दे । दूसरे शब्दों में :—यही प्रयास रहता था कि यूरोप में शक्ति संतुलन (Balance of Power) बना रहे। इसी उद्देश्य से समय समय पर यूरोप में कहीं भी कुछ झगड़ा हो जाता था तो झट सब राष्ट्रों के दो गुट्ट बन जाते थे। इस तरह समय समय पर नई संधिया होती रहती थीं, टूटती रहती थीं । किन्तु एक विचक्षण बात है कि राजनैतिक क्षेत्र में यह अनैतिकता और विषमता होते हुए भी यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आर्थिक विकास हो रहा था। समस्त जीवन, व्यक्ति का और समाज का, नई बुनियादों पर, नये आदर्शों पर, नये रूपों में ढल रहा था। इस पृष्ठ भूमि में से उठकर यूरोप अब विश्व क्षेत्र में पदार्पण कर रहा था, वस्तुतः पदार्पण कर चुका था और १८७० तक तो वह विश्व क्षेत्र में इतना प्रसारित हो चुका था कि हम मान सकते हैं कि तब से यूरोप की हलचल केवल यूरोप की हलचल नहीं रहती वह दुनियां की हलचल हो जाती है, यूरोप की राजनीति केवल यूरोप की राजनीति नहीं रहती वह दुनियां की राजनीति हो जाती है।

—x—

५४

यूरोप के आधुनिक सामाजिक इतिहास का अध्ययन

(१८-१६ वीं शतियां)

विज्ञान, और यांत्रिक क्रांति

जो मानव अपनी कहानी के प्रारम्भिक युग में बाड़े में लौटती हुई अपनी भेड़ों की जांच कंकरों के सहारे गिनकर किया करता था कि कोई भेड़ गुम तो नहीं गई है, जो फिर बिना किसी वस्तु के सहारे ५ तक की गिनती जानने लगा था, कल्पना कीजिये वही आदि मानव धीरे धीरे विकास करता हुआ इस स्थिति तक पहुँचा कि वह अब केवल पांच नहीं किन्तु खगोल एवं ज्योतिष विज्ञान के, अरबों खरबों की संख्या को अपनी कल्पना के दायरे में ला सकता था, वही मानव अब प्रकृति की गति विधी का, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने लगा था कि क्या यह सूर्य है, क्यों वे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं; कितनी गति से सूर्य का प्रकाश हमारे पास आकर पहुँचता है,- कैसे वनस्पति, जीव और मानव उद्भव और लुप्त होते हैं।

मानव ने यह ज्ञान धीरे धीरे सम्पादन किया—ज्ञान सम्पादन की गति आधुनिक युग में कुछ तीव्र हुई।

पिछली दो शताब्दियों के महान् वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव समाज में क्रान्ति उत्पन्न करदी और इतिहास की धारा को बदल दिया। इन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकट होने के पहिले ऐसा मालूम होता था मानो इतिहास सहस्रों वर्षों से एक मंथर गति से चला आरहा है। साधारण जन का जीवन जैसा आज से ६–७ हजार वर्ष पूर्व विश्व की आरम्भिक नगर सभ्यताओं के काल में था वैसा ही मानो आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व था। वही बैल या घोड़े की सहायता से खेत में हल चलाना, बैलगाड़ी में या घोड़े, ऊंट या खच्चर पर यात्रा करना, हाथ चरखे पर ऊन या कपास कातना और हाथ करघे पर कपड़े बुन लेना। युद्ध हो तो तलवार, भाला, कटारी आदि से लड़ लेना। ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं कि भिन्न भिन्न महत्वपूर्ण आविष्कार सभ्यता के विकास के भिन्न भिन्न स्तर (Stages) थे। वैज्ञानिक आविष्कार, सभ्यता और सामाजिक संगठन के रूपों में परस्पर निकट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल से आज तक मानव क्या क्या आविष्कार कर पाया है और किस प्रकार उसने सभ्यता में उन्नति की है—यह भी एक दिलचस्प कहानी है। यहां उस कहानी की रूपरेखा मात्र दी जा सकती है।

प्राचीन प्रस्तर युग—आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व अग्नि का आविष्कार हो चुका था।

" " " ३० से ४० हजार वर्ष पूर्व-पत्थर के खुरदरे ओजारों और हथियारों का आविष्कार

नव प्रस्तर युग—आज से लगभग १५-२० हजार वर्ष पूर्व-चिकने पत्थर, और चकमक पत्थर के ओजारों और हथियारों का आविष्कार

" " आज से लगभग १०-१२ हजार वर्ष पूर्व-धातु के औजार, कृषि और पशुपालन का आविष्कार।

५००० से ३००० वर्ष ई. पू.—धनुषबाण, नहर, बांध, लिपि, पहिये वाली गाड़ी, ईंट आदि का आविष्कार प्राचीन लुप्त सभ्यताओं में--जैसे मेसोपोटेमिया और मिश्र। प्रायः इन्हीं वर्षों में चीन में मुद्रण और कागज का आविष्कार। इत्यादि इत्यादि।

सर्व-प्रथम विधिवत प्रयोगात्मक विज्ञान के अध्ययन की नीव ग्रीस के दार्शनिक अरस्तू (३८५-३२२ ई. पू.) ने डाली। विज्ञान की यह परम्परा ग्रीस के बाद मिश्र में टोलमी राजाओं के राज्यकाल में चलती रही। इसकी परम्परा फिर अरब लोगों

ने कायम रक्खी। गणित एवं विज्ञान का विकास चीन और भारत में भी स्वतन्त्ररूप से हुआ—एवं फिर चीन, भारत और ग्रीस परस्पर सम्पर्क में आये: इन्हीं के विज्ञान की परम्परा अरबी लोगों ने कायम रक्खी थी। मध्य-युग में विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परम्परा विलीन होती हुई सी मालूम हुई किन्तु फिर भी मध्य-युग में कुछ काम अवश्य हुआ। यूरोप में मध्य-युग में निम्न आविष्कार हुए।

१. घोड़ों के लोहे की नाल लगाने का आविष्कार हुआ। (इसके पहिले रोमन लोग चमड़े की नाल लगाते थे इसलिये न तो वे अधिक बोझा ढोसकते थे और न पक्की सड़कों पर अधिक काम में लाये जासकते थे—भारी बोझा मानव द्वारा ढोया जाता था)। २. पतवार का आविष्कार (इसके पहिले रोमन जहाज डांडों के सहारे खेये जाते थे) ३. १५८८ ई. में इङ्गलेंड में जहाजों के चलाने में मानव शक्ति की जगह वायु-शक्ति का प्रयोग हुआ। यह प्रयोग सबसे पहिले स्पेन के जहाजी बेड़े में हुआ। इसके पूर्व प्रायः मानव मजदूर डांडों से जहाज चलाते थे। ४. यांत्रिक घड़ी का आविष्कार अंधकार युग में निश्चित रूप से एक ईसाई मठ में हुआ। ५. यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में मोसेली नदी के किनारे बनाई गई पहली पनचक्की का नाम आता है। हवा चक्की भी अंधकार युग के आविष्कारों में से

है। १२वीं सदी के आते आते हम यूरोप के विभिन्न स्थानों में हवाचक्की का इस्तमाल देखते हैं। रोमन काल में चक्कियां गुलामों या गदहों द्वारा चलाई जाती थीं।

आविष्कारों का यह तांता महत्वपूर्ण था। इसमें से प्रत्येक ने मनुष्य को गाड़ियां खेंचने, डांड खेने या चक्कियां चलाने जैसे कठिन परिश्रमसाध्य कार्यों से मुक्त किया। अवैज्ञानिक युग में होनेवाले ये आविष्कार बड़े राजनैतिक महत्व के थे। इन्होंने मानव को अदक्ष श्रम-शक्ति का स्रोत बनने से मुक्त करदिया। वास्तव में 'मगनाकार्टा', हेबियस कोर्पस कानून या जिन दूसरे कानूनों की बात हम स्कूलों में पढ़ते हैं, उनकी अपेक्षा मानव को स्वतन्त्र करने में उपर्युक्त आविष्कारों की देन अधिक थी। सन् १२८५ ई. में आंखों के चश्मे का आविष्कार अलक्सेंदर-द-स्पीना ने किया। सन् १३७० ई. के लगभग कागज, बारूद, चुम्बक और मुद्रण की कलायें चीन से यूरोप में मंगोल लोगों द्वारा लाई गई। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कई मुद्रणालय यूरोप में खुल गये। इङ्गलेण्ड में सर्व-प्रथम छापाखाना सन् १४५५ ई. में खुला। पुनर्जागृति (Renaissance) काल में विज्ञान की नींव फिर पड़ी और तभी से चमत्कारिक आविष्कार होने लगे।

इस विज्ञान के अध्ययन की परम्परा में ही १९वीं सदी के पूर्वार्ध में यूरोप और अमरीका में अनेक चमत्कारिक आविष्कार

हुए, जिनने वस्तु उत्पादन और यातायात के तरीकों में क्रांतिकारी परिवर्तन करके सामाजिक संगठन में भी अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर दिये। इन आविष्कारों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

१ **भाप इंजिन और रेल**-सन् १७६५ ई. में इङ्गलेंड में जैम्सवाट ने अपना सर्व प्रथम भाप का एन्जिन बनाया। यह एंजिन कोयले और लोहे की खदानों में से पानी बाहर फेंकने के काम आता था। इसी भाप के एंजिन में और सुधार हुए और सन् १७८५ ई. में यह कपड़े की मील चलाने के काम में आने लगा। अभी तक ऐसा एन्जिन नहीं बना था जो गाड़ियों को दूरी तक खेंचने के काम में आता। यह काम इङ्गलेंड में ही जार्ज स्टीफनसन ने पूरा किया। सन् १८१४ में उसने कोयले की खानों से कोयला ढ़ोने वाली छोटी गाड़ियां खेंचने के लिये एक एंजिन तैयार किया। इस एंजिन में और सुधार किया गया। सन् १८२५ ई. में जार्ज स्टेफनसन की ही देखरेख में दुनियां की सबसे पहिले रेलवे लाइन इङ्गलेंड में स्टोकटन और डार्लिंगटन नामक दो जगहों के बीच बनाई गई। यह मालगाड़ी थी। उसी ने फिर लिवरपूल और मेनचेस्टर दो शहरों के बीच सबसे पहिली पेसेंजर रेलगाड़ी तैयार की जिसके सर्व प्रथम एंजिन का नाम राकेट था। यह एंजिन राकेट गाड़ियों को खेंचता हुआ ३५ मील फी घंटा की चाल से चलता था। इतनी तेजी से चलने वाली

कोई भी वस्तु मानव ने पहिले कभी नहीं देखी। यह रफ्तार दुनियां में एक आश्चर्यजनक घटना थी, और सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात यह कि बिना किसी जीव शक्ति के वह एंजिन चलता था। १६वीं शताब्दी के मध्य तक इङ्गलेंड भर में रेलों का एक जाल सा फैल गया। यूरोप में सर्व प्रथम रेलवे बेलजियम में एक अंग्रेज इन्जिनियर द्वारा बनाई गई, वहां भी १६वीं शताब्दी के मध्य तक कई रेलवे लाइनें खुल गईं।

भाप के जहाज—स्टीम एंजिन के आविष्कार के पहिले जहाज डॉड, पतवारों या पाल (Sails) से चलते थे। ऐसी जहाजों का युग समाप्त हुआ और उनकी जगह अगनबोट (Steamer) चलने लगे। जहाज में सर्व प्रथम भाप के एंजिन का प्रयोग सन् १८०७ ई. में अमेरिका के एक इन्जिनियर फिल्टन ने किया। यह स्टीमर शुरु शुरु में गहरी नदियों में ही चलते थे। पहला स्टीमर जिसने समुद्र में यात्रा की उसका नाम फोनिक्स (Phoenix) था। इसने अमेरिका में न्यूयार्क से फिलाडेलफिया तक यात्रा की थी। सन् १८०९ ई. में पहली स्टीमर ने अटलान्टिक महासागर पार किया। इनमें सुधार होते गये और जहां पाल के जहाजों को अटलान्टिक महासागर पार करने में कई महीने तक लगजाया करते थे वहां १६वीं सदी के अंत होने तक ऐसे स्टीमर चलने लगे जो अटलान्टिक महासागर को ५-६ दिन में ही पार करजाते थे।

कताई और बुनाई की मशीनों का आविष्कार:-सन १७६४ ई. में हारग्रीवज नामक लंकाशायर के एक जुलाहे ने स्पीनिंग जेनी (कई तकलों का एक चर्खा) का अविष्कार किया। इससे साधारण चर्खे की अपेक्षा कई गुना सूत कत सकता था। सन १७६६ ई. में आर्कराइट ने; और सन् १७७५ ई. में क्रोम्पटन ने कताई की अधिक विकसित मशीनों का अविष्कार किया। इसी समय कार्टवाइट ने करघा मशीन (कपड़ा बुनने की मशीन) का अविष्कार किया। ये मशीनें पहिले तो घोड़ों द्वारा और फिर जल शक्ति द्वारा चलाई गई। इसी समय भाप एंजिन का भी अविष्कार हो चुका था। सन् १७८५ ई. में भाप शक्ति से चलने वाली दुनियाँ की सर्व प्रथम कपड़े की मील की स्थापना नोंटिघम (इङ्गलैंड) शहर में हुई; मेनचेस्टर में सर्व प्रथम कपड़े की मील की स्थापना सन् १७८९ ई. में हुई, उसी साल जिस साल फ्रान्स की राज्य क्रांति हुई थी। फिर तो इङ्गलैण्ड में धड़ाधड़ कपड़े की बड़ी बड़ी मीलें खुल गई और मेनचेस्टर नगर कपड़े के व्यवसाय का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। कुछ समय पश्चात ऊनी कपड़ा भी मशीनों द्वारा बनाया जाने लगा। पच्छिमी दुनियां में चर्खे और कर्घे प्राय: खत्म हुए और उनकी जगह लाखों आदमी मशीन द्वारा उत्पादित वस्त्र-व्यवसाय में लग गये।

खान और धातु कार्य:— बड़ी बड़ी लोहे की मशीनें, रेल्वे एंजिन तथा स्टीमर कभी भी संभव नहीं होते यदि खानों

में से धातु निकालने, उस धातु को शुद्ध करने तथा उसको मन चाहा मजबूत बनाने के कार्य में, उसको गलाने और ढ़ालने के काम में तरक्की नहीं होती। सन् १८५८ ई. में इङ्गलैंड में एक एन्जिनियर लोहे का फौलाद (Steel) बनाने में सफल हुआ, और १८६१ ई. में धातुओं को गलाने के लिये (Electric Furnace) बिजली की भट्टी का अविष्कार हुआ।

बिजली तार तथा टेलीफोनः—१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इङ्गलैंड के वैज्ञानिक फैराडे ने (Faraday) बिजली संबंधी कई तथ्यों का उद्घाटन किया। सन् १८३१ ई. में उसने डाइनमो का भी अविष्कार किया। बिजली के कई तथ्यों के अविष्कार के फलस्वरुप तार और टेलीफोन का भी अविष्कार हुआ। सन् १८३५ ई. में सब से पहली तार की लाइन लगी। सन् १८५१ ई. में फ्रान्स और इंगलैंड के बीच सर्व प्रथम केवल (समुद्र पार तार भेजने की व्यवस्था) लगाया गया। सन् १८७६ ई. में आपस में बातचीत करने वाले टेलीफून का सर्व प्रथम प्रयोग हुआ। फिर तो धीरे धीरे सब जगह जहां जहां रेल्वे लाइन बनी तार, टेलीफोन भी साथ साथ लगने लगे।

Telephone

उपरोक्त बिजली के तथ्यों के उद्घाटन के बाद सन् १८७८ ई. में सर्व प्रथम बिजली रोशनी का प्रचलन हुआ, इसी वर्ष अमेरिकन वैज्ञानिक एडीसन ने विद्युत लेम्प का अविष्कार

किया था और तदुपरान्त तो बिजली शक्ति का प्रयोग भाप शक्ति की तरह मशीनें और ट्रेन इत्यादि चलाने में भी होने लगा।

मोटर, हवाईजहाज, तथा रेडियो–अभी तक तो चालक शक्ति केवल भाप और विद्युत के रूप में ही उपलब्ध थी किंतु लगभग १८८० ई. में पेट्रोल की खोज हुई जो एक ऐसा तेल था जो एक्सप्लोड होने पर (फट जाने पर) भाप और बिजली की तरह एक चालक शक्ति पैदा करता था। इस बात की खोज होजाने पर पेट्रोल तेल के द्वारा सड़कों पर मोटरें चलने लगी। सर्व प्रथम वायुयान का निर्माण सन् १८९७ ई. में प्रोफेसर लेंगले ने किया। फिर सन् १९०३ में अमेरिका के राइट बन्धुओं ने सर्व-प्रथम हवाई-जहाज में उड़ान किये। ऐसी हवाई-जहाज जिसमें कुछ आदमी बैठकर यात्रा करसकते थे सन् १९०८ में बनी। हवाईजहाजों में विशेष तरक्की प्रथम महायुद्ध काल में हुई जब जर्मनी के जेपलिन ने गोलाबारी करने के लिये जेपलिन नामक एक बड़ी हवाई-जहाज बनाई। उसके बाद वायुयान का प्रचलन बढ़गया यहां तक कि सन् १९४० के आते आते हवाई-यात्रा एक साधारणसी वस्तु होगई। १९३८ ई. में एक हवाई-जहाज ने संसार का चक्र तीन दिन १९ घंटे में लगाया। १९०३ में राइट बन्धुओं की हवाई-उड़ान की चाल ३० मील प्रति घंटा के हिसाब से थी। १९४० के आते आते हवाई-जाहज की चाल ४७० मील प्रति घण्टा तक होगई।

सन् १८६५ ई. में इटली के विज्ञान वेत्ता मार्कोनी ने वायरलेस और रेडियो का आविष्कार किया। १२ दिसम्बर सन् १९०२ के दिन रेडियो द्वारा प्रथम सम्वाद भेजा गया। आज सन् १९५० में रेडियो घर घर व्याप्त है।

सिनेमा, टेलीवीजन इत्यादि—सन् १८७६ ई. में ध्वनि रेकार्ड करने के लिये अमेरिकन विज्ञानवेत्ता एडीसन ने ग्रामोफोन का आविष्कार किया। इन्हीं विज्ञानवेत्ता ने १८६३ ई. में चलचित्र फिल्म का अविष्कार किया, फिर १८९५ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक लूमेरे ने फिल्मप्रोजेक्टर (Film-Projuctor) का अविष्कार किया। इस प्रकार धीरे धीरे सीनेमा चलचित्रों का आविष्कार हुआ। सन् १९२६ ई. में इङ्गलेंड के विज्ञानवेत्ता वियर्ड ने टेलीविजन का अर्थात् (वह व्यवस्था जिसके द्वारा रेडियो की तरह दूर तक केवल ध्वनि ही नहीं भेजीजाती थी किन्तु बोलने या गाने वाले के चित्र एवं अन्य दृश्यों के चित्र भी भेजे जासकते थे) अविष्कार किया। Film Media

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अविष्कारः— (१) १८४० ई. में स्कोटलेंड के मेकमिलन द्वारा बाइसिकल, (२) १८६० ई. में फोटोग्राफी, (३) १८७३ में जर्मनी के शोंज द्वारा टाइप राइटर, (४) १८६४ ई. में अमेरिका के वाटरमेन द्वारा फाउन्टेन पेन, (५) १८४० में इंगलैंड में पेनी पोस्टेज एक आने की डाक टिकट)

का प्रचलन। (६) १८२७ में दियासलाई का अविष्कार। इस प्रकार कृषि और चिकित्सा क्षेत्र में भी अनेक अनुसंधान और अन्वेषण हुए जिनने मानव के व्यक्ति-गत और सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन पैदा कर दिये।

कई प्रकार के रसायनिक खादों का आविष्कार हुआ, एवं जमीन जोतने में बैल या घोड़े से चलने वाले हलों के बजाय मशीनों का (Tractors) उपयोग होने लगा जिससे खेतों का उत्पादन पहिले की अपेक्षा कई गुना बढ़ा लिया गया। १९वीं शती के उतरार्ध में रोग के कीटाणुओं का पता लगा: अर्थात् यह पता लगाया गया कि हैजा, राजयक्ष्मा, मेलेरिया, टाईफाइड इत्यादि बीमारियाँ किटाणुओं (Germs) से पैदा होती हैं। सन् १८८५ ई. में फ्रांस के डाक्टर लुई पास्तर ने पागल कुत्ते के काटे के इलाज के टीके का अविष्कार किया। ईगलेंड के डा: फ्लेमिंग ने पेंसेलिन का अविष्कार किया; इत्यादि।

औद्योगिक क्रांति (१७५०–१८५०):–

१८ वीं शती के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में यूरोप में विशेषकर ईगलेंड, फ्रांस, और जर्मनी में वैज्ञानिक अविष्कारों के फलस्वरुप एक जबरदस्त यांत्रिक क्रांति हुई। जिन वैज्ञानिक अविष्कारों ने यह क्रांति पैदा की उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वैज्ञानिक और इंजनियर लोग इस बात की

चिन्ता किये बिना कि उनके अविष्कारों से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा अपने अविष्कार किये चले जा रहे हैं। यंत्रो की मदद से अब मानव पहिले की अपेक्षा दस गुना, सौ गुना अधिक तेज रफ्तार से चल सकता था, वह हवा में उड़ सकता था, हजारों मील दूर बैठा हुआ दूसरे आदमी से बातचीत कर सकता था, यंत्र की सहायता से ऐसे भारी काम जो पहिले हजारों आदमी एक साथ अपनी शक्ति लगाकर भी नहीं कर सकते थे अब एक आदमी कर सकता था। क्या यह क्रांति अद्भुत नहीं थी ।

इस यांत्रिक क्रांति के साथ साथ पच्छिमी देशों में औद्योगिक क्रांति हो रही थी। नये नये यांत्रिक अविष्कारों का प्रभाव सामाजिक और आर्थिक जीवन पर पड़ा ही। अनेक शताब्दियों से एक ढङ्ग से चले आते हुए पारिवारिक और सामाजिक जीवन में बुनियादी परिवर्तन पैदा हुए। इस क्रांति के पूर्व व्यवसाय की इकाई कुटुम्ब थी और गांव में बसा हुआ घर ही उस इकाई का कारखाना अर्थात् लोहार को जो कुछ बनाना होता था, खाती को जो कुछ बनाना होता था, कुम्हार को जो कुछ बनाना होता था, जुलाहे को जो कुछ बनाना होता था-वह सब काम अपने घर पर बैठा बैठा कर लेता था और सारे कुटुम्ब वाले उसमें मदद कर देते थे। श्रम का कोई विशेष

विभाजन नहीं था, दुनियां के प्रायः सभी देशों में यही हाल था। औद्योगिक क्रांति के बाद व्यवसाय की इकाई या केन्द्र तो पूंजीपति का लाभ होगया और काम करने की जगह घर न होकर मील या कारखाना हो गया। जुलाहे के घर की जगह अब कपड़े की मील बन गई, लोहार के घर की जगह अब बड़े बड़े लोहे और इस्पात के कारखाने बन गये जहां हजारों टन भारी मशीनें बनने लगी, कुम्हार के घर की जगह बड़े बड़े पोटरी के कारखाने (Pottary works) बन गये जहां एक ही दिन में इतने बर्तन बन जाते थे जो हजार कुम्हार हजार दिन में भी नहीं कर सकते थे। गांवों में सैंकड़ों गरीब लोग अपना घर छोड़ छोडकर कमाई के लिये कारखानों की ओर जाने लगे। बड़े बड़े कारखाने खुल गये जिसमें हजारों मजदूर काम करते थे मजदूरों के रहने के लिये कारखानों के आसपास ही सस्ते घर बन जाते थे—उनमें सफाई का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था। ये घर, गलियां सब नर्क की गन्दगी से भी बुरी होती थीं—मानव रहवास के बिल्कुल अयोग्य। औद्योगिक नगरों में जनसंख्या में भी खूब वृद्धि हो गई थी, उसकी वजह से भी कई नई समस्यायें उत्पन्न होगई थीं। कई नई नई तरह की बीमारियां पैदा होने लगीं, लोगों का स्वास्थ्य गिरने लगा।

एक ओर तो कारखानों की कमाई से, कारखानों के मालिक पूंजिपतियों के हाथों में अतुल सम्पति एकत्रित हो रही थी और

दूसरी ओर यह प्रयत्न हो रहा था कि मजदूरों से अधिकाधिक काम लेकर उनको कम से कम वेतन दिया जाए—बस इतना कि खाकर काम करने के लिये जिन्दा रहें। जनता में अभी शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाया था और न यह मानवीय भावना ही कि मानव के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य होता है। अतः निःसंकोच छोटे छोटे बच्चों से, स्त्रियों से भी, कारखानों में १२–१२, १४–१४ घण्टे काम लिया जाता था जहां जहां भी यान्त्रिक उद्योग का विकास हुआ वहां वहां ऐसी ही अवस्थायें पैदा होती गई। राज्य की ओर से कोई दखल नहीं दिया गया, क्योंकि यह देखा गया कि जहां व्यवसायिक क्रांति के पूर्व राज्य सत्ता का आधार भूमि थी अब वह आधार व्यवसायिक समृद्धि थी। औद्यौगिक क्रांति के पूर्व इंगलेण्ड, फ्रान्स, जर्मनी आदि सब कृषि प्रधान थे, कुछ हस्त कला कौशल वाले कारीगरों, व्यापारियों को छोड़कर प्रायः समस्त लोग अन्य सब देशों की तरह कृषि काम में ही लगे रहते थे। खाद्य के मामले में सब स्वावलम्बी थे किन्तु औद्यौगिक क्रांति के बाद इंगलेण्ड और जर्मनी में विशेषकर, और फ्रांस में भी ५० प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या नगरों में बस गई और यांत्रिक उद्योगों में लग गई; जनसंख्या में भी बड़ी तीव्रता से वृद्धि होने लगी,—अतः इन देशों को खाद्यान्न के लिये दूसरे देशों से आयात पर निर्भर होना पड़ा। जिन देशों में औद्यौगिक विकास हुआ उनको अन्न और कच्चा माल जैसे कपास,

तेल इत्यादि मंगाने के लिये और यन्त्रों द्वारा बहुतायत से उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिये दूसरे देशों की जरुरत पड़ी। अतः उपनिवेश और साम्राज्यवाद का प्रसार होने लगा। भिन्न भिन्न देशों में इस प्रकार आर्थिक; राजनैतिक, सम्बन्धों में वृद्धि हुई। फलस्वरुप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन बैंक इत्यादि स्थापित हुए, जिनमें एक दूसरे देश का लेनदेन का हिसाब साफ होता रहा। इस प्रकार देशों की आर्थिक-व्यवस्था ही मूलतः बदल गई। मानव समाज में एक नया तत्व पैदा हो रहा था—वह तत्व था, विशाल क्षेत्र में कार्यों, व्यवसायों हलचलों इत्यादि का कुशल केन्द्रीय संगठन। अर्थात् समाज के भिन्न भिन्न अंग दुनियां के भिन्न भिन्न देश एक सुयोजित संगठन में गठित होकर एक केन्द्रीय संस्था द्वारा (Organisation) परिचालित हों। समाज और दुनियां में एक नई संगठन-कर्मी प्रतिभा का उदय हो रहा था। औद्योगिक क्रांति के पूर्व तो व्यक्ति व्यक्ति का काम, कारोबार, लेनदेन, व्यवसाय, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि सब व्यक्ति या कुछ पड़ोसियों तक या उसके गांव तक ही सीमित था—कह सकते हैं कि ऐसे संगठन में सरलता थी, व्यक्ति के लिये अपने काम में स्वतन्त्रता थी। औद्योगिक क्रांति के पश्चात समाज और दुनियां में दूसरा ही रुप आने लगा। अब व्यक्ति का काम बहुत बड़े कारखाने के विशाल काम का अंश मात्र था, उसका लेनदेन अब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से अपने पड़ोसी से

ही सम्बन्धित नहीं था किन्तु दूर दूर दुनियां के भिन्न भिन्न देशों से सम्बन्धित था, अन्य देशों में क्या आर्थिक हलचल होती है। उसका प्रभाव उस पर पड़ता था। वह अब विशाल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संगठित कारोबार अर्थ-योजना का एक अंश मात्र था। ऐसे संगठन में सरलता नहीं, पेचीदापन (Complexcity) होता है; व्यक्ति स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती है। किन्तु मानव समाज की प्रगति इसी दिशा की ओर होने लगीः-सरलता से पेचीदापन (Complexcity) की ओर, सीमित व्यक्तिगत संगठन से विशाल सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की ओर; किन्तु कम सुविधा से अधिक सुविधा की ओर, संकुचित दृष्टि कोण से विशाल दृष्टि कोण की ओर, स्थानीय सम्पर्कता से सर्वदेशीय सम्पर्कता की ओर।

समाज संगठन के आधारभूत तत्व बदले अतः इस परिवर्तन ने नई समस्यायें, नये विचार उत्पन्न किये।

यूरोप में १६वीं शताब्दी में पुनजागृति (रिनेसाँ) काल से नया जीवन, नये विचार, नई भावनायें पैदा होने लगीं, सामाजिक, मानसिक, धार्मिक, रूढ़ियों से वह मुक्त होने लगा। प्रकृति, व्यक्ति और समाज, शरीर, मन और जीवन-इन सबका अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि कोण अपनाते हुए निष्पेक्ष भाव से (Objectively) होने लगा। मुक्त वैज्ञानिक निरीक्षण और अध्ययन की परम्परा अब भी चल रही है, और चलती रहेगी।

इस परम्परा में मानव ने कई क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की ओर विकास किया। मानसिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति रूढ़-धर्म और दार्शनिक विवेचन से विज्ञान की ओर हुई; राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति राजतन्त्र की ओर से जनतन्त्र की ओर हुई; आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर, पूंजीवाद से समाजवाद-साम्यवाद की ओर हुई; शिक्षा क्षेत्र में भी इस मान्यता की ओर विकास हुआ कि बच्चे का स्वतन्त्र विकास हो।

यह ध्यान रखना चाहिए कि मानव एक इकाई है, उसके भिन्न भिन्न क्षेत्र अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे को सर्वथा पृथक नहीं किया जा सकता; मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक इत्यादि क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

इन क्षेत्रों में विकास की गति हमेशा सम नहीं रहती; क्रिया प्रतिक्रियायें होती रहती हैं जैसे राजतन्त्र (एकतन्त्र) फिर जनतन्त्र फिर एकतन्त्र; व्यक्तिवाद फिर समाजवाद और फिर व्यक्तिवाद की ओर झुकाव इत्यादि इत्यादि। क्रिया, प्रतिक्रिया होकर समनवयात्मक विचारों और स्थापनाओं का उद्भव भी होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति, समाज और मानव की गति चलती रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य केवल एक है और वह यह कि "यह सब कुछ" गतिमान है, स्थिर नहीं।

पुनरुत्थान काल से उपरोक्त क्षेत्रों में इस गति का अध्ययन करना बाकी है।

राजनैतिक क्षेत्र-जनतन्त्रवाद

जनतन्त्रवाद (Democracy) एक विशेष जीवन दृष्टिकोण है, केवल एक राजनैतिक सिद्धान्त नहीं। इसके मूल में यह विचार तत्वतः मान लिया गया है कि प्रत्येक प्राणी में अपनी व्यक्तिगत कुछ जन्मजात शक्तियां हैं, कुछ प्रेरणायें और आकांक्षाये हैं; कुछ विशेष प्रकार की अनुभूतियां जैसा प्रेमानन्द और सौन्दर्यानुभूति—करने की इच्छायें हैं। व्यक्ति को इन शक्तियों के विकास की और इच्छाओं की पूर्ति की स्वतन्त्र सुविधायें मिलनी चाहिये, अन्यथा जीवन और चेतना जो इस सृष्टि में प्रकट हुई हैं निरर्थक जायेंगी; सृष्टि का विकास रुक जायेगा। व्यक्ति ही समाज और प्रकृति का केन्द्र है। चेतना-पुञ्ज व्यक्ति के लिये ही समाज और प्रकृति की स्थिति है। जनतन्त्रवाद (Domocracy) में तत्वतः ये विचार मान्य हैं, समाज में इस विचार के व्यवहारिक प्रयत्न (Application) का अर्थ यह हुआ कि समाज और राज्य सब व्यक्तियों को समान समझे सबको पूर्ण स्वतन्त्रता दे। समाज और राज्य का संगठन व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता के आधार पर हो। मध्य युग में राजाओं, पोप और सामन्तों का राज्य था।

उसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता और समानता का अभाव था: इसके पश्चात् १६ वीं १७ वीं शताब्दी में सामन्तों और पोप का अधिकार तो खत्म हुआ और उनकी जगह एक राजा की, राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस परिवर्तन में व्यक्ति को विशेषतः व्यापारी वर्ग को कुछ स्वतन्त्रता मिली किन्तु अनेक अंशो तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित ही रही। फिर फ्रांस की १७८९ ई. की राज्य क्रांति, और यूरोप में १८३० और १८४८ ई. की राज्य की क्रान्तियों में राजाओं के एकतन्त्र के विरोध में प्रतिक्रियायें हुई और धीरे धीरे समाज और राज्य का जनतन्त्र की ओर विकास हुआ। धीरे धीरे सब व्यक्तियों को स्त्री और पुरुष दोनों को (इंगलैंड में यह स्थिति १९१८ तक प्राप्त हो चुकी थी, और इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय देशों में भी, और आज प्रायः सभी जनतन्त्र देशों में यह स्थिति है) यह समानाधिकार मिला कि समाज के कार्य–भार–संचालन के लिये, उसकी व्यवस्था और शांति के लिये वे जिन किन्हीं व्यक्तियों को चाहे अपना प्रतिनिधि चुन ले, वे प्रतिनिधि समाज की सरकार हों, जो राजकीय और सामाजिक कार्य का संचालन करें। ऐसी सरकार जनता की सरकार होगी, जनता की मर्जी पर उसका अस्तित्व रहेगा और जनता के आदेशों के अनुसार वह काम करेगी। यह स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों का व्यवहारिक रुप बना। व्यवहारिक रुप बदलता रह सकता है, परिस्थि-

तियों के अनुकूल उसका विकास होता रह सकता है, भिन्न भिन्न देशों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल इस व्यवहारिक रुप में भेद भी हो सकता है, किन्तु मूल बात यही है कि जितना ही अधिक समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता की प्रतिष्ठा होगी उतना ही अधिक जनतन्त्र सफल होगा।

२०वीं शदी में उपरोक्त जनतन्त्र के विरुद्ध इटली और जर्मनी में फासिज्म और नाजीज्म के रुप में प्रतिक्रिया हुई, किन्तु अन्त में फिर जनतन्त्र भावना की विजय हुई। आज (१९५० ई.) ऐसा माना जाता है कि रुस और चीन में जो तन्त्र स्थापित हैं वे (Democracy) की भावनाओं के विरुद्ध हैं। वास्तविकता क्या है कुछ कहा नहीं जा सकता किंतु इतनी बात स्पष्ट है कि यदि रुस और चीन में सचमुच जनतन्त्र भावनाओं के विरुद्ध सरकारें स्थापित हैं तो अवश्य उनकी टक्कर उन शक्तियों से होगी जो जनतन्त्र भावनाओं की पोषक हैं। १८वीं १९वीं २०वीं शताब्दियों में यूरोप और अमेरिका में और बाद में एशियाई देशों में इस प्रकार मानव के राजनैतिक क्षेत्र में विचारों और कार्यों की गति चलती रही। इङ्गलैंड में जनतंत्र भावनाओं के मूल पोषक हुए—बैंथम, स्टुआर्टमिल, स्पेन्सर इत्यादि; अमेरिका में थोम्समैन, अब्राहमलिंकोल्न, कवि वाल्ट व्हिटमैन इत्यादि; फ्रांस में रुसो, वोल्टेयर, इत्यादि; एवं अन्य अनेक दार्शनिक और विचारक।

आर्थिक क्षेत्र समाजवाद एवं साम्यवाद—मध्य युग में आर्थिक संगठन सामंतवादी था और लोगों का व्यवसाय मुख्यतः कृषि। पुनर्जागृति (Renaissance) युग से सामंतवाद समाप्त होने लगा—इसकी जगह व्यक्तिवादी पूंजीवादी आर्थिक संगठन कायम होने लगा।

समाजवादः—पूर्वोक्त औद्योगिक क्रांति काल में बड़े बड़े व्यवसाय उद्योग, कारखाने खड़े हो रहे थे। उस क्रान्ति के आरम्भिक काल में, सन् १७७६ ई. में इंगलैंड के एक महान् अर्थ-शास्त्री ऐडम स्मिथ (Adam smith) की पुस्तक (Wealth of Nations) (राष्ट्रों का धन) प्रकाशित हुई जिसमें उसने औद्योगिक क्षेत्र में "लैसे फेयर" सिद्धान्त का प्रतिपालन किया-जिसका अर्थ था कि व्यवसायिक उत्पादन क्षेत्र में सब लोगों को यथा पूंजी लगाने वालों को, मजदूरों को, पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए उन पर ऊपर से राज्य या समाज की ओर से किसी प्रकार का नियंत्रण प्रतिबन्ध या नियमन नहीं होना चाहिए। ऐडन स्मिथ का खयाल था कि ऐसा होने से स्वाभाविक आर्थिक शक्तियां स्वतः अपना काम करेंगी, कितना उत्पादन होना चाहिए और कितना नहीं इसकी व्यवस्था स्वयं अपने आप "मांग और पूर्ति" (Demand Supply) के नियमानुसार बैठती रहेंगी, पूंजिपतियों और मजदूरों के झगड़े (Competition) के सिद्धान्त पर अपने आप सुलझते रहेंगे ।

लेसे फेयर के सिद्धान्तानुसार कुछ वर्ष तो उद्योगों ने काफी तरक्की की, राष्ट्रों के धन में खूब वृद्धि हुई और उद्योगों का खूब विकास भी हुआ किन्तु जैसा ऊपर औद्योगिक क्रांति के विवरण में कह आये हैं अब नई समस्यायें, नये सामाजिक प्रश्न खड़े हो गये थे और औद्योगिक क्षेत्र में लैसे फेयर का सिद्धान्त पालन करते रहने से उन समस्याओं का हल नहीं हो सकता था। बिना किसी ऊपरी नियमन और नियन्त्रण के कारखानेदार क्यों कारीगरों के काम करने के घण्टे कम करने लगे, क्यों उनकी मजदूरी बढ़ाने लगे, क्यों उनके रहने के लिये अच्छे स्वास्थप्रद घर बनाने लगे; लेकिन यह होना आवश्यक था। इसी आवश्यकता ने एक नये सामाजिक सिद्धांत को उत्पन्न किया, वह सिद्धान्त था—समाजवाद।

सर्व प्रथम सन् १८३३ ई. के लगभग यूरोप में समाजवाद शब्द का प्रयोग हुआ। इस शब्द का प्रयोग इंगलैंड के एक बहुत बड़े मील मालिक रोबर्ट ओवन (Robert Owen) (१७७१-१८५८) के विचारों के सम्बन्ध में हुआ। यह व्यक्ति अपने मजदूरों की अस्वस्थ और पतित हालत देखकर तिलमिला गया था और उसने मजदूरों की दशा सुधारने का पक्का इरादा कर लिया था। उसने अपने मजदूरों के काम के घण्टे कम किये, छोटे बच्चों से काम लेना बन्द किया; मजदूरों के लिये स्वास्थप्रद

मकान, भोजन और शिक्षा का प्रबन्ध किया, साथ ही साथ अपने व्यवसाय में पैसा भी कमाता रहा, उसके सब व्यवसाय आदर्श व्यवसाय थे। उसने अपने साथी पूंजीपति और मील मालिकों को अपने कारखानों में अपनी ही तरह सुधार करने की सलाह दी, ऐसा करने के लिये उसने बहुत लेख लिखे और भाषण दिये किंतु दूसरे कारखानेदारों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में जनता का ध्यान मजदूरों की दशा की ओर आकृष्ट करके उसने सरकार को बाध्य किया कि वह देश के व्यवसायों में दखलन्दाजी करे। फलतः सन् १८१९ ई. में इंगलैंड में सर्व-प्रथम फेक्ट्री कानून पास हुआ जो काम के घण्टों का नियन्त्रण करता था। लैसेफेयर का सिद्धान्त अमान्य समझा गया—उसके विरुद्ध यह पहली कारवाई थी। यह प्राथमिक समाजवाद था। रोबर्ट ओवन का यह समाजवाद ऐसा आन्दोलन था जिसमें मील मालिक ही अपनी ओर से मजदूरों की दशा सुधारने का प्रयत्न करें। स्वयं मजदूरों का यह आन्दोलन नहीं था। इस समाजवाद से प्रचलित व्यवसायिक या आर्थिक संगठन में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता था। अवश्य इसका कुछ प्रभाव इंगलैंड, यूरोप के कुछ देशों में पड़ा, किन्तु बहुत कम, अतः मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसका प्रभाव अमेरिका में विशेष पड़ा—अतः वहां मजदूरों की हालत भी अच्छी रही, और वे सन्तुष्ट रहे।

साथ ही साथ मजदूर भी गतिशील होगये थे फलत: इंगलेंड में सन् १८२४ ई. में एक कानून पास हुआ जिसके अनुसार मजदूरों को यह हक प्राप्त हुआ कि वे अपनी दशा सुधारने के लिये कारखानेदारों से अपनी मजदूरी इत्यादि के विषय में सामूहिक रूप से सौदा करने में स्वतन्त्र है। इससे मजदूरों के संगठनों (Trades Union) का खूब विकास हुआ और समाज में मजदूर संगठन एक 'शक्ति' हो गई जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। किन्तु मजदूरों के ये आन्दोलन भी ऐसे आन्दोलन थे जिनका ध्येय यही था कि प्रचलित आर्थिक संगठन कायम रहते हुए उनको अधिकाधिक मजदूरी और सुविधायें मिल सकें। उन्होंने कभी भी इस बात की कल्पना नहीं की कि प्रचलित आर्थिक संगठन को ही समूल बदल दिया जाए, वे स्वयं उत्पादन के साधनों के अर्थात् पूंजी के मालिक बन बैठे, और व्यवसाय को समस्त समाज की भलाई के लिये चलायें। यह कल्पना लेकर सर्व-प्रथम इस दुनियां में आया कार्ल-मार्क्स (१८१८-८३) उसके लेखों और पुस्तकों से यथा "कोम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो" (साम्यवादी घोषणा) (Communist-Manifesto) (१८४८) जो एक दूसरे समाजवादी विचारक एंजल्स की सहायता से लिखागया, एवं दूसरी विशाल पुस्तक "दास केपीटल" (१८६७-१८८३) से आधुनिक समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद की स्थापना हुई।

जिस प्रकार जनतन्त्रवाद (Democracy) एक विशेष जीवन दृष्टिकोण या जीवन दर्शन है केवल राजनैतिक सिद्धान्त नहीं उसी प्रकार मार्क्सवाद भी एक विशेष जीवन दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन है, केवल एक आर्थिक सिद्धान्त नहीं। मार्क्सवाद का दर्शन द्वन्दात्मक भौतिकवाद या वैज्ञानिक भौतिकवाद कहलाता है। इसका विवेचन आगे इसी अध्याय में पढ़िये।

इसके अनुसार व्यक्ति, समाज, या इतिहास की गति या प्रक्रियाओं में किसी अलौकिक, परा प्रकृति, देव, ईश्वर, आत्मा, पूर्व-कर्म-फलवाद का दखल नहीं है–ऐसी परा प्रकृति तत्वों का अस्तित्व ही नहीं है। इतिहास और समाज के विकास की अपनी ही प्रक्रियाएं हैं–अपनी ही गति है। चेतना युक्त मानव प्रकृति और समाज और इतिहास की गति-विधि और प्रक्रियाओं का अध्ययन करके, उनकी सही जानकारी हासिल करके, स्वयं अपने जीवन और समाज का निर्माण करसकता है। कार्ल-मार्क्स ने इतिहास और समाज विज्ञान का गहन अध्ययन किया था और अपने अध्ययन के फलस्वरुप इतिहास और सामाजिक संगठन के विषय में उसने अपने कुछ परिणाम निकाले थे। वे ये कि मानव समाज में प्रायः प्रारम्भ से ही मुख्यतया दो वर्ग रहे हैं। एक उच्च शोषक वर्ग और दूसरा निम्न शोषित वर्ग और इन दोनों वर्गों में किसी न किसी रुप में द्वन्द चलता रहा है। जब जब

आर्थिक उत्पादन के तरीकों में किसी भी कारणवश परिवर्तन हुए हैं तब तब सामाजिक संगठन के रुप में भी परिवर्तन हुआ है। मध्ययुग के अंत होते होते व्यापार और उद्योग धन्धों के प्रसार के साथ साथ सामन्तवाद का खत्म होना और पूंजीवाद की स्थापना होना अवश्यंभावी था। १८-१९वीं शताब्दियों में यांत्रिक क्रांति के फलस्वरुप उत्पादन के तरीकों में जो परिवर्तन हुआ उसके साथ साथ सामाजिक संगठन में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। चारों ओर की परिस्थितियों का निरीक्षण एवं अध्ययन कर कार्लमार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि उत्पादन के नये यांत्रिक तरीकों के फलस्वरुप अधिकाधिक धन और पूंजी थोड़े से पून्जीपतियों के हाथ में एकत्रित होती जाएगी और इतिहास में प्रचछन्न या प्रत्यक्ष रुप में चला आता हुआ वर्ग द्वन्द अधिक तीव्रत्तम होता जायगा। पून्जीपति वर्ग और मजदूर या सर्वहारा (Proletariat) वर्ग में परस्पर युद्ध होगा, सर्वहारा वर्ग की विजय होगी, उत्पादन के सब साधनों, सब भूमि और सब पूंजी पर सर्वहारा वर्ग, दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण समाज का स्वामीत्व या नियंत्रण स्थापित होगा और इस प्रकार व्यक्तिवादी पूंजीवाद की जगह दुनियां में समाजवाद का प्रचलन होगा। समाजवाद प्रगति करता करता समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देगा कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार (जितनी भी हो, जैसी भी हो) काम करदे और अपनी

आवश्यकता के अनुसार धन, वस्तु, और जीवन, साधन। समाज के सार्वजनिक भंडार में से लेले। ऐसी स्थिति साम्यवादी स्थिति होगी।

मानव इतिहास में यह एक बिल्कुल नई कल्पना थी। मानव के आदिम काल में किसी प्रकार का समाजवाद या साम्यवाद या भूमि पर सारी जाति (Community) का स्वामीत्व रहा हो किन्तु उसकी तुलना आज के विकसित पेचीदे समाज में मार्क्सवादी विचार से नहीं की जा सकती। खैर, मार्क्स ने उपरोक्त आधारभूत नई कल्पना, आधारभूत नये सामाजिक संगठन का आदर्श तो मानव के सामने रख दिया किन्तु व्यवहार में उसका रुप कैसा होगा यह वह पूर्ण-रुपेण नहीं बतला सका। यह काम पूरा; करना बाकी रहा उसके अनु-यायियों द्वारा। इसका व्यवहारिक रुप हमारे सामने रुस के उदाहरण से आता है। सन् १९१७ में लेनिन के नेतृत्व में रुस में साम्यवादी क्रान्ति हुई, सर्वहारा वर्ग का राज्य स्थापित हुआ और वहां के लोग समाजवादी निर्माण में लगे। प्रायः सब कारखानों और खदानों पर सरकार का अधिकार है, कुछ अपवादों को छोड़कर सब कृषि भूमि पर भी सरकार का अधिकार है, अर्थात् उत्पादन के सब साधनों पर सरकार का अधिकार है। कारखानों में, खदानों में, खेतों में मजदूर लोग काम करते हैं। सरकार उनके कामों के अनुसार उनको वेतन देती है। उत्पादन

से जो कुछ आय होती है वह सब की सब मजदूरों को नहीं दे दी जाती किन्तु उसका कुछ भाग समाज निर्माण कार्य और रक्षा कार्य जैसे शिक्षा, सेना एवं और नये कारखाने खोलना इत्यादि के लिये सरकार द्वारा बचा लिया जाता है, शेष भाग ही मजदूरों या कर्मचारियों में उनकी योग्यता और काम के परिणाम के अनुसार वेतन के रूप में दे दिया जाता है। राज्य में सब शिक्षक, डाक्टर, नर्स कलाकार, साहित्यकार, वैज्ञानिक, कर्ल्क इत्यादि इत्यादि भी सरकार के कर्मचारी हैं और उनको उनके कार्य के अनुसार वेतन दिया जाता है। यह व्यवस्था समझने के लिये बस इतनी सी कल्पना काफी है कि पूंजीपति का स्थान सरकार ने ले लिया। वह काम जो पहिले पूंजीपति करता था अब सरकार करती है किन्तु एक बुनियादी फर्क है–पूंजीपति अपनी उत्पादन की योजना, मात्र इस एक ध्येय से बनाता था कि किस प्रकार उसको अधिकाधिक लाभ हो। उसके सामने समाज के हित, अहित का प्रश्न नहीं रहता था। समाजवादी सरकार अपने उत्पादन की योजना इस ध्येय से बनाती है कि किस प्रकार जन साधारण का अधिकाधिक हित हो। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व तीन रूपों में होता है। एक रूप तो यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति धन का उत्पादक होता है। शिक्षण कार्य, साहित्य कार्य, कला कार्य भी एक प्रकार का उत्पादन कार्य समझा जाता है। दूसरा रूप यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति भोक्ता होता है

अर्थात् समाज में जो कुछ भी उत्पादन होता है उसका वह प्राप्त वेतन के साधन द्वारा उपभोग करता है। तीसरा रूप यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति नागरिक होता है, प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक की हैसियत से कुछ आधारभूत अधिकार मिले हुए होते हैं जैसे मतदान, रहने के लिये घर, कमाई के लिये काम का अधिकार तथा शिक्षादि की सुविधायें आदि।

यह ध्यान देने की बात है कि चूंकि पूंजीपति मालिक की जगह सरकार मालिक है चाहे वह सरकार जनता द्वारा मनोनीत जनता की ही सरकार हो, अतः कारखानों, खेतों, खदानों की व्यवस्था सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा ही होती है। अतः अन्ततोगत्वा ऐसी व्यवस्था की सफलता मजदूरों की समाज भावना पर और कर्मचारियों की नैतिकता पर निर्भर करती है।

समाजवाद अभी प्रयोगात्मक स्थिति में ही है प्रयोग करते करते इसका सफल जनहितकारी रूप सामने आ सकता है।

साम्यवाद:—समाजवाद की उस स्थिति का नाम है जब किसी भी रूप में किसी भी धन पर किसी भी भूमि या मकान पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार न हो। और जब व्यक्ति समाज के भण्डार में से अपनी आवश्यकता के अनुसार जो चाहे सो ले ले। समाजवाद की इस विशेष विकसित स्थिति का नाम

साम्यवाद है। आजकल साम्यवाद शब्द का प्रयोग बहुधा उन तरीकों के लिये होता है जो हिंसात्मक या अवसरोचित (Strategic) तरीके रुसी लोग समाजवाद कायम करने में या समाजवाद का विकास करने में लाये और लेते हैं। आजकल के वातावरण में आतंकवादी, समाजवादी तरीकों को साम्यवाद कहा जा सकता है। ऐसा अनुमान है कि रूस में अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए मजदूरों को आतंकवादी ढङ्ग से विवश किया जाता है। एक विशाल सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति एक मशीन के पुर्जे के समान रह गया है। उस पुर्जे की अपनी स्वतन्त्र कोई मर्जी नहीं, उसका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं, उसका अस्तित्व केवल समाज नामक मशीन चलाने के लिये हैं। साम्यवादी जबरदस्ती व्यक्ति को समाज का एक ऐसा पुर्जा बना लेते हैं।

इस प्रकार १९वीं शती में विचारों की उथल पुथल होती रही; २०वीं शती में भी विचारों की उथल पुथल हो रही है, मानो मानव वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा उत्पन्न एक संक्रात्मक स्थिति में से गुजर रहा हो।

दार्शनिकक्षेत्र-आध्यात्मिकतावाद, भौतिकवाद एवं विकासवाद

१८वीं १९वीं शताब्दियों में दार्शनिकक्षेत्र में भिन्न भिन्न महान् दार्शनिकों की मान्यतायें विशेषतया या तो विचारवाद

अर्थात् आध्यात्मिकतावाद (Idealism) या भौतिकवाद की ओर उन्मुख रही।

आध्यात्मिकतावाद (Idealism)–इस दर्शनानुसार सृष्टि का एक मूल आदि या अंतिम तत्व (Ultimate reality) आत्मा या ईश्वर या भाव (Idea) या कोई चेतन आध्यात्मिक तत्व है। सृष्टि में जो कुछ भी आज हम देखरहे हैं यथा जल, थल, वायु, आकाश, वृक्ष, जीव, प्राणी, मानव इत्यादि ये सब आदि चेतन तत्व के भिन्न भिन्न अभिव्यक्त रुप हैं। वह एक चेतन तत्व इन सबमें अदृश्य रुप में समाया हुआ है। सृष्टि की गति इसी ओर है कि सृष्टि या सृष्टि का मानव उस तत्व की पूर्णता को उसके आदर्श और आनन्द को प्राप्त करले। इस दर्शन की परम्परा प्राचीन काल से भारत में, भारत के ऋषियों से, भारत के शंकराचार्य से, प्राचीन ग्रीस के प्लेटो और अरस्तु से चली हुई आती है। आधुनिक काल में इसके मुख्य प्रतिष्ठापक हुए आयरलेंड में विशपबर्कले (Berkely) जर्मनी में फिक्ट, कान्ट एवं हीगल और इङ्गलेंड में ब्रेडले (Bradley)। इस आध्यात्मवादी अद्वैत का आधार मानव की रहस्यात्मक अनुभूतियां रही हैं–प्रत्यक्ष अनुभूत प्रयोगात्मक ज्ञान नहीं। कुछ ऐसे दार्शनिक हुए जैसे देकार्त (Descartes) जिनकी यही मान्यता रही कि सृष्टि के आदितत्व दो हैं। एक नहीं। ये दो तत्व हैं–पुरुष और

प्रकृति या शरीर और मन या अचेतन भूत पदार्थ और चेतन आध्यात्मतत्व। ये दार्शनिक द्वैतवादी कहलाते हैं। किंतु अधिकतर विचारधारा अद्वैत की ओर ही उन्मुख है-या तो भौतिकवादी अद्वैत या अध्यात्मवादी अद्वैत। ये दार्शनिक विचार-धारायें एक बार प्राचीन युग में उद्भासित होकर मध्य सामन्तवादी युग में लुप्त सी होगई थी किंतु पुनः जागृत काल के बाद फिरसे ये उद्भासित और विकसित हुई। आज भी ये दार्शनिक विचार मानव को प्रभावित किये हुए हैं और उसको चिंतन में डुबोये हुए हैं।

भौतिकवाद:—इस दर्शन में सृष्टि का "आदि एक मूल तत्व" (Ultimate reality) "द्रव्य पदार्थ" (Matter) है, जो एक स्थिर नहीं किन्तु गत्यात्मक वस्तु है। आज जो कुछ भी इस सृष्टि में दिखलाई देता है यथा जल, थल, आकाश, वायु, वृक्ष, फल-फूल और प्राण चेतना इत्यादि सब उस एक ही मूल तत्व के विकसित रूप हैं। प्रारम्भ में उस मूल तत्व द्रव्य पदार्थ में प्राण और चेतना नहीं थे। कालान्तर में अरबों, करोड़ों वर्षों में विशेष भौतिक, रसायनिक परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर उस मूलभूत द्रव्य पदार्थ में गुणात्मक परिवर्तन द्वारा प्राण और चेतना का उदय हुआ। यह सब स्वचालित (Self-moving) गति है। ऊपर से या और कहीं से अर्थात् किसी

परा प्रकृति तत्व से इसका परिचालन नहीं होना–इस दर्शन के अनुसार कोई परा प्रकृति तत्व या ईश्वर या आत्मा कुछ है ही नहीं। इस सृष्टि स्वयं में कोई प्रयोजन या उद्देश्य निहित नहीं है, किन्तु जब चेतना युक्त मानव का उदय हो गया तब से अवश्य ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि वह मानव अपने जीवन में, समाज में किसी उद्देश्य की कल्पना कर सकता था। जिस प्रकार विकास होते होते मानव, प्राणी और चेतना-विचार और भावनायें उत्पन्न हुई उसी से यह भासित होता है कि इस सृष्टि और मानव के विकास की कल्पनातीत अनेक संभावनायें हैं। "यह सब कुछ" एक गति है। आधुनिक काल में भौतिकवाद के मुख्य प्रतिष्ठापक जर्मनी के कार्लमार्क्स हुए और उसके पोषक अनेक वैज्ञानिक। वैसे इस दर्शन के तत्व प्राचीन काल में भी मौजूद रहे। इसकी परम्परा में प्राचीन काल में ग्रीस के दार्शनिक थेल्स, डेमोक्रीटस इत्यादि माने जा सकते हैं। इसी प्रकार १७वीं शताब्दी में इङ्गलैंड के होब्स, १८वीं शती में फ्रांस के डिडरोत, १९वीं शती में जर्मनी के हीकल। इस भौतिकवादी अद्वैत का आधार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपार्जित, प्रत्यक्ष अनुभूत, प्रयोगात्मक ज्ञान रहा है। इस वैज्ञानिक भौतिकवाद का जीवन के उस भौतिकवादी दृष्टिकोण से कोई सम्बन्ध नहीं जो कहता है, "खाओ, पीओ, और मौज उड़ाओ।"

विकासवाद:–इन दार्शनिक विचारों के साथ साथ मानव

के इस सृष्टि रचना सम्बन्धी विचारों में भी विकास हुआ। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक मानव प्रायः यही मान रहा था कि किसी विशेष काल में ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की। आज जो कुछ भी दृश्य या अदृश्य इस सृष्टि में है उस सब की रचना एक बार परमात्मा ने कर दी थी; किन्तु १९ वीं शती के आरम्भ में कुछ वैज्ञानिक जैसे जर्मनी में हीकल, फ्रांस में लमार्क (Lamarck) इत्यादि पैदा हुए जिन्होंने प्राणी शास्त्र विज्ञान (Biology) की स्थापना की और फोसिल (पथराई हुई वस्तु) के रूप में प्राप्त अति प्राचीन प्राणियों की हड्डियों के आधार पर यह अनुमान लगाया कि प्राणी का विकास तो धीरे धीरे सरलतर प्राणियों से हुआ है और इस विकास में लाखों, करोड़ों वर्ष लगे हैं। वे इस बात की कल्पना करने लगे थे कि सृष्टि में सब जातियों के प्राणी किसी एक पुरुष या परमात्मा की रचना नहीं है वरन् यह प्रकृति में व्याप्त विकास प्रक्रिया के फल हैं। फिर सन् १८५८ ई. में इंगलेंड के सिद्ध प्राणी शास्त्र वेत्ता चार्ल्स डारविन की दो क्रांतिकारी पुस्तकें प्रकाशित हुई—"ओरिजन ऑफ स्पीसीज": (जीव जातियों का मूल) और डीसेन्ट ऑफ मैन (मानव की अवतारणा) इन दो पुस्तकों ने तो इस सिद्धान्त की प्रायः स्थापना कर दी कि जीव जगत किसी एक व्यक्तिगत ईश्वर की रचना नहीं है। किंतु प्रकृति में किन्हीं नियमों के अनुसार परिवर्तन और विकास

होता रहता है और परिणाम-स्वरूप भिन्न भिन्न जाति के जीव उत्पन्न और लुप्त होते रहते हैं । धीरे धीरे ज्योतिष वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध किया कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह किसी काल विशेष में कार्य कारण परम्परा के अनुसार किन्हीं पूर्व स्थिति नक्षत्र से विकसित हुए हैं। इस बात ने भी यह सिद्ध करने में सहायता दी कि यह सृष्टि सूर्य, चन्द्र, ग्रह और तारे व्यक्तिगत ईश्वर की रचना नहीं है। किन्तु स्वयं चालित प्रकृति की गति और प्रक्रिया में कुछ नाम रूपात्मक परिणाम हैं । इन सब तथ्यों की वजह से १६ वीं शताब्दी के अन्त होते होते और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक ज्ञान, विज्ञान की यह प्रस्तावना बहुधा स्वीकृत होगई कि सृष्टि किसी खास ईश्वर की रचना नहीं है वरन् प्रकृति की या आदिभूत द्रव्य पदार्थ की एक विकासात्मक प्रक्रिया मात्र है।

शिक्षा क्षेत्र:–जिस प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में नई उद्भावनायें हो रहीं थीं उसी प्रकार शिक्षा साहित्य आदि के क्षेत्र में भी पुनर्जागृति काल के बाद नई उद्भावनायें हुईं।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वीटजरलैंड के शिक्षाशास्त्री पेस्टालोजी ने एक युग परिवर्तन उपस्थित किया। दार्शनिक रूसो इत्यादि से प्रभावित होकर उसने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि बच्चों का शिक्षक स्वयं प्रकृति हो न कि मानव। बच्चे में किसी विशेष

सत्य, किसी विशेष भावना को प्राप्त करने की जो स्वाभाविक उतकण्ठा है, उस उतकण्ठा को प्रतिफलित होने दो, उसको दबाओ मत। उसके ऊपर किसी चीज को मत थोपो किन्तु उसके अन्दर ही जो जन्मजात क्षमतायें या विभूतियां हैं, उन्हीं का विकास करो। साथ ही साथ मनोविज्ञान का भी विकास हो चुका था। मनोविज्ञान के तथ्यों पर आधारित पेस्टालोजी का शिक्षा-सिद्धान्त था। शिक्षा में इसी नई कल्याण भावना से अनुप्राणित और शिक्षा शास्त्री भी हुए जैसे जर्मनी में फ्रोबेल और गेटे और बीसवीं सदी में इटली में मेरिया मोंटेसरी, इंगलेंड में बर्टरण्डरसेल और अमेरिका में डीवी।

शिक्षा सिद्धान्तों में इस परिवर्तन के साथ साथ शिक्षा क्षेत्र में भी विकास हुआ। १८वीं सदी में ही शिक्षा का प्रसार हुआ। १८३२ ई. में इंगलेंड की राष्ट्र-सभा (Parliament) ने शिक्षा प्रसार का काम अपने हाथ में लिया। १८३३ ई. में फ्रांस ने एक कानून पास किया कि प्रत्येक गांव में एक प्राइमरी स्कूल हो। फिर १८५२ ई. में स्वीडन ने, १८७० में स्वीटजरलैंड ने, १८८० में फ्रान्स ने, १८६८ में ब्रिटेन ने, और १६०१ ई. में होलेण्ड ने प्राथमिक शिक्षा अविवार्य और निःशुल्क बनाई। इस तरह से १६वीं सदी के अन्तिम वर्षों तक आकर यूरोप में (विशेषकर पच्छिमी यूरोप में) प्रायः ऐसी स्थिति आ पाई कि प्राथमिक

शिक्षा तो कम से कम सब बच्चे प्राप्त करलें। यह स्थिति रूस में सन् १९२४ के बाद जाकर आ पाई, एशियाई देशों में तो अभी यह स्थिति बहुत दूर है। दस प्रतिशत लोग भी अभी ऐसे नहीं हैं जो प्राथमिक रूप से भी शिक्षित कहलाये जा सकें। किन्तु मानव ने जाना है कि शिक्षा होनी चाहिये और अपने हजारों वर्षों के इतिहास में आज वह सचेष्ट होकर यह प्रयास कर रहा है कि सब बच्चे शिक्षित हों, सब स्त्री पुरुष शिक्षित हों।

साहित्य और कला–मानव के उच्चतम सौंदर्यमय रूप के दर्शन हमें उसकी साहित्यिक, कलाकृतियों में होते हैं, मानो कविता, कला और संगीत में मानव चेतना प्रकाश और आनंद की उच्चतम शिखर को छूजाती है, और साथ ही साथ वह समाज के और संसार के आदर्श रूप की भी स्पष्ट कल्पना हमें कराजाती हो। वस्तुतः एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ, समस्त मानव और प्राणी जाति के साथ, इतिहास के एक युग ने दूसरे युग के साथ जब जब किन्हीं विचक्षण घड़ियों में एकात्मता की अनुभूति की है,—वह अनुभूति उसने कविता, कला और संगीत की रसानुभूति द्वारा की है। कला व्यक्ति का शेष सृष्टि के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है अतः इतिहास में और जन जन के जीवन में कवि, कलाकार और सृष्टा हमेशा याद आते रहे हैं। रिनेसां और शेक्सपियर युग के बाद यूरोप के साहित्य

में अनेक नाम आते हैं जिनमें सब प्रमुख लोगों का नाम भी यहां याद नहीं किया जा सकता है-चलते चलते किन्हीं को याद कर सकते हैं। १८वीं सदी में इङ्गलैंड और फ्रांस साहित्य संकुचित नियमों में बद्ध था, उसमें हृदय की अभिव्यक्ति कम किंतु नियम पालन विशेष। इसी काल में इङ्गलैंड के जोनाथन-स्विफ्ट (१६६७-१७४५) ने १७२६ ई. में अपनी "गिलीवर्स ट्रेवेल्स (Gullivers Travels) प्रस्तुत की जो मानव प्रकृति और समस्त मानव जाति पर उसकी बेवकूफियों और नैतिक पाखंड पर एक अद्भुत्त व्यगांत्मक लेख है। फिर अनेक कवियों एवं नाटककारों और गद्य रचनाकारों से मिलते हुए हम १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में रोमाञ्च युग (Romantic Age) में पहुंचते हैं। अब शुष्क बन्धनों के विरुद्ध मानव मन में प्रतिक्रिया होती है और वह कल्पना और भाव में तल्लीन होकर स्वच्छंद गाने लगता है। इटली में सिलविया रेलिको की संवेदनात्मक आत्मकथा प्रकाशित होती है जिसमें स्वतन्त्रता के लिये एक चीख है। ईङ्गलैंड में महाकवि शैली मुक्त मधुर स्वर से गाता है,-प्रेम से अनुप्राणित होकर। उसकी चेतना समाज और धर्म के सब झूठे बन्धनों को काटती हुई एक स्वतन्त्र सुखी विश्व समाज की कल्पना करती है और वह स्वयं समस्त विश्व के साथ एक रागात्मक अनुभूति करता है। क्या तब से आज तक मानव अनेक बन्धनों से मुक्त नहीं हो गया। इङ्गलैंड मे ही

दूसरा कवि कीट्स मानव की सौंदर्यानुभूति के लिये दृष्टि देता है और उसको यह बतलाता है कि दुनियां में समझने की केवल एक वस्तु है और वह यह कि सौन्दर्य सदा आनन्दोत्पादक होता है। तीसरा कवि बायरन निशंक मुक्ति और वेदना के गीत गाता है और वर्डस्वर्थ मानव को सरल प्राकृतिक जीवन में और प्राकृतिक सौन्दर्य में जो सुखानन्द और उदात्तता निहित है, उसकी अनुभूति करवाता है। फ्रांस में सर्वोपरि व्यक्तित्व प्रकाशित होता है विक्टर ह्यूगो का, जो अपने उपन्यास ला मिसरेबल्स में जो कुछ भी मानवता है उसका पक्ष लेकर खड़ा होता है। चित्रकला में फ्रांस का दीलाक्रो रोमांच भावना की अभिव्यक्ति करता है; जर्मनी के चित्रकार वोनश्विंदे अपने चित्रों में अभिव्यक्ति करते हैं और इङ्गलेंड के टर्नर शान्त प्रकृति और परमात्मा के दर्शन करते हैं। १९ वीं शताब्दी में एक महान् व्यक्तित्व है जर्मन गायक बीथूवन का; जिसके गीत आज भी मानव को प्रेरणा देते हैं—और उसके मानस को एक अद्भुत अलौकिक लोक की अनुभूति कराते हैं। १९वीं शताब्दी का महानतम मानव है जर्मन कवि गेटे। सर्व युगों का, सर्व मानवों का प्रियजन जिस प्रकार इटली में दांते है, इङ्गलेंड में शेक्सपियर, भारत में रवीन्द्र उसी प्रकार जर्मनी में गेटे है। गेटे (१७४९-१८३५) का जीवन और काव्य मानवात्मा के पतन, उत्थान, और प्रगति की कहानी है।

रोमांटिक युग के बाद १९वीं शती के उत्तरार्ध में नवीन

विशेषताओं को लिये हुए एक नवीन युग प्रारंभ होता है । इस काल में विज्ञान और बुद्धिवाद ने धार्मिक संस्कारों और विश्वासों को, प्रचलित सामाजिक मान्यताओं को एक धक्का लगाया था,-धर्म और विज्ञान; भावना और बुद्धि का यही द्वन्द्व मुख्यतः इस काल के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है । मनोविज्ञान का भी गहन अध्ययन हुआ था, अतः इसका प्रभाव भी साहित्य और कला पर पड़ता है । इस युग में उपन्यासकार डिकंस इङ्गलैंड में, बेलजक फ्रान्स में, दोस्तोवस्की रूस में, अपने अपने ढङ्ग से मानव चरित्र और मानव जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं । १९वीं शती में अमेरिका में भी कई महान् साहित्यकार हुए जैसे थोरो, इमरसन, व्हिटमैन इत्यादि । ये सब जीवन की सरलता और प्राकृतिकता, मानवीय भावनाओं की उदात्तता, और व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता के विचारों से अनुप्राणित थे ।

यहीं पर स्वीडन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलफ्रेड नोबल (Alfred Nobel) (१८३३-१८९६) के नाम का उल्लेख कर देना जरूरी है जिन्होंने एक मानव जाति की भावना से प्रेरित होकर दो करोड़ पौंड धन राशि का एक ट्रस्ट कायम किया जिसमें से प्रति वर्ष ८-८ हजार पौंड के ५ पुरस्कार भौतिक, रसायन तथा औषधि विज्ञान एवं साहित्य और विश्व शान्ति स्थापन के क्षेत्र में ५ महानतम् व्यक्तियों को दिये जाते हैं ।

१९वीं और २०वीं सदियों के संगम पर खड़े कुछ महान् साहित्यकों के नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं। फ्रान्स के उपन्यासकार जोला और रोमन रोलाँ, इङ्गलैंड के थोमस हार्डी और गेल्सवर्दी, स्वीडन के नाट्यकार इबसन और बेलजियम के मेटरलिंक; रूस के उपन्यासकार तोल्सतोय और गोर्की;—इन सबने प्राचीन समाज, कुटुम्ब, धर्म और विचारों में विच्छेदन (Disintegration) होती हुई स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है और यह आभास मानव को कराया है कि कुछ नई चीज, समाज और धर्म के कुछ नए आधार, विश्व में अवतरित हो रहे हैं। अनेक नई नई उद्भावनायें १९वीं शती में प्रतिफलित हुई। मानो १९वीं शती इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग (Landmark) है। जिसे हम आज की दुनियां कहते हैं, आज सन् १९५० में जो हमारे विचार, भावनायें और मान्यतायें हैं उन सबका विकसित रुप हम १९वीं शती में देखते हैं। १९वीं शती के पहले दुनियां हम से प्रायः भिन्न थी जब तक न तो रेलें थीं, न तार, न डाक, न स्टीमर, न वायुयान, न रेडियो, न यांत्रिक व्यवसाय, न प्राणी-शास्त्र, न विकासवाद, और न अन्तर्राष्ट्रीयता और न एक मानव समाज की कल्पना या भावना। ये सब बातें सर्व प्रथम सहसा १९वीं शती में प्रकट हुई; मानो १९वीं सदी से इतिहास के विकास (March) में जो तब तक बहुत ही मन्थर गति में हो रहा था, कुछ नई स्फूर्ति कुछ नई तीव्रता आ

गई; मानो १९वीं सदी से इतिहास की रूप रेखा, उसका रंग रूप ही बदल गया।

—❀—

२५

विश्व-राजनीति और विश्व इतिहास का युग आरम्भ

विश्व-इतिहास (१८७०-१९१९ ई.)

प्रस्तावना:—सन् १८७० से यूरोप का इतिहास और यूरोप की राजनीति एक दृष्टि से विश्व-इतिहास और विश्व राजनीति में परिणत हो जाती हैं—तब से विश्व के देश एक दूसरे के निकट इतने सम्पर्क में आने लगते हैं मानों किसी भी देश की हलचल विश्व हलचल का एक अभिन्न अंग मात्र हो। अतः तब से आगे के इतिहास को समझने के लिये पहिले यहां पर उन देशों का इतिहास संक्षेप में जान लेना आवश्यक है जो विश्व को नये नये ही ज्ञात होते हैं एवं जिनका विशेष उल्लेख अब तक नहीं हो पाया है यथा अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड इत्यादि जो यूरोपीय लोगों के उपनिवेश और साम्राज्य विस्तार के सिल-सिले में ही विश्व इतिहास में प्रवेश करते हैं।

यूरोप का उपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी विस्तार

सन् १४९२ ई. में अमरीका की खोज के बाद एवं सन् १४९८ ई. में भारत के नये सामुद्रिक रास्ते की खोज के बाद यूरोपीय लोगों का फैलाव धीरे धीरे यूरोप के बाहर के देशों में यथा पच्छिम में अमरीका और पच्छिमी द्वीप समूह, और पूर्व में भारत, लंका, चीन, पूर्वीय द्वीप समूह इत्यादि में होने लगा। पहिले तो यह सम्पर्क केवल व्यापार के लिये होता था, किन्तु धीरे धीरे यूरोपीय लोग उन देशों में, जहां की जनसंख्या बहुत कम थी, जहां के आदि निवासी असभ्य जंगली थे, जो देश अभी अन्धेरे में अविकसित पड़े थे जैसे अमरीका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका फिलीपाइन द्वीप, न्यूजीलैंड इत्यादि, स्वयं जाकर रहने लगे और अपने उपनिवेश बसाने लगे। एवं उन देशों में जो पहिले से ही विकसित थे, जहाँ प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की परम्परा चली आ रही थी और जहां बड़े बड़े राज्य संगठित थे जैसे भारत, चीन इत्यादि,—वहां, यूरोपीय लोगों ने पहिले तो अपना व्यापारिक सम्पर्क स्थापित किया, एवं तदन्तर यदि किसी देश की राजनैतिक स्थिति को अस्त व्यस्त और निशक्त पाया तो वे वहीं अपना साम्राज्य स्थापित करने लगे। ऐसा साम्राज्य स्थापित करने में विशेषतया वे भारत और लंका में सफलीभूत हुए। किस प्रकार यूरोपीयन लोग दूर दूर अज्ञात देशों

में अपने उपनिवेश बसा सके और अपने साम्राज्य स्थापित कर सके, इसमें कोई विशेष रहस्य नहीं है। एक दृष्टि से तो यूरोपीय देशों का भीराजनैतिक संगठन' कुछ बहुत सुव्यवस्थित और शक्तिशाली नहीं था, और न वहां के लोग कुछ विशेष प्रतिभा-शाली। किन्तु उनमें एक नई जागृति, एक नया साहस पैदा हो चुका था जो भारत और चीन जैसे प्राचीन और स्वयं-संतुष्ट देश के लोगों में नहीं था। उनकी नई क्रिया-शीलता और साहस से ही वे धीरे धीरे बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के बढ़ने लगे और अपना विस्तार करने लगे। प्राय: १६वीं शती के पूर्वार्द्ध तक तो-यह गति बहुत धीरे रही किन्तु १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब यूरोप में यांत्रिक क्रांति हो चुकी थी, रेल, तार, डाक और अगन-बोटों (Steam Ship) का प्रचलन हो चुका था, एवं अनेक यांत्रिक उद्योग और बड़े बड़े कारखाने खुल गये थे, तब यूरोपीय उपनिवेश और साम्राज्य विस्तार की गति में तेजी आने लगी। यूरोप की जनसंख्या भी बढ़ चुकी थी, खाने के लिये अधिक अन्न की आवश्यकता थी जितना वहां पैदा नहीं होता था एवं अपने कारखानों के लिये हर कच्चे माल जैसे रुई, ऊन, तिलहन, रबर, लकड़ी, मिट्टी का तेल, रेशम इत्यादि इत्यादि की जरूरत थी, अत: उपनिवेश बसाने और राज्य का विस्तार करने में वे अब संगठित रुप से काम करने लगे और वे यहां तक सफल हुए कि २०वी शताब्दी के प्रारम्भ तक विश्व के अनेक

भागों में उनके अनेक उपनिवेश और साम्राज्य स्थापित हो गये जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

साम्राज्य-(१) ब्रिटिश साम्राज्य:-कनाडा, न्यूफाउन्डलैंड, ब्रिटिश गिनी, दक्षिण अफ्रीका संघ, मिश्र, सूडान, भारत, लंका, मलाया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, तस्मानिया, उत्तर बोर्नियो, न्यूगिनी एवं अन्य अनेक छोटे छोटे द्वीप।

(२) फ्रांसीसी साम्राज्य:-फ्रेंच गिनी, पच्छिमी फ्रेंच अफ्रीका, मेडागास्कर, फ्रेंच इन्डोचाइना एवं भारत में ४-५ फ्रांसिसी नगर ।

(३) डच (होलेंड) साम्राज्य:-डच गिनी, एवं पूर्वीय द्वीप समूह (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, पच्छिमी न्यूगिनी)

(४) रूसी साम्राज्य:-समस्त उत्तरी एशिया अर्थात साइबेरिया ।

(५) जर्मन, इटालियन, पोर्तगीज, स्पेनिश साम्राज्य:- इन्होने अफ्रीका महाद्वीप के भिन्न भिन्न भाग अपने क़ब्जे में किये ।

उपनिवेश-किन किन देशों में किन किन लोगों के उपनिवेश बसे:-

कनाडा	मुख्यतः अंग्रेज और फ्रांसीसी	ये सब उपनिवेश अब उन्हीं यूरोपियन लोगों के स्वदेश और राष्ट्र हैं जो वहाँ जाकर बस गये थे।
संयुक्त राज्य अमेरीका	मुख्यतः अंग्रेज	
मेक्सिको, मध्य-अमेरीका एवं समस्त दक्षिण अमेरीका	मुख्यतः स्पेनिश	
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड	मुख्यतः अंग्रेज	
फिलीपाइन द्वीप	मुख्यतः स्पेनिश	

अब प्रत्येक उपनिवेश एवं यूरोपियन साम्राज्यान्तर्गत प्रत्येक देश का संक्षिप्त विवरण पृथक पृथक देते हैं,—यह दिखलाते हुए कि किस प्रकार इन देशों में नई बस्तियां बसीं एवं साम्राज्य स्थापित हुए।

भारत—भारत के मुगल सम्राट जहांगीर के जमाने में सन् १६०० ई. में अंग्रेज प्रतिनिधि सर टामसरो ने भारत में कुछ व्यापारिक कोठियां खोलने की आज्ञा ली, तभी से पहिले तो अंग्रेजी व्यापार में वृद्धि होना शुरु हुआ, फिर भारत की राजनैतिक अस्त-व्यस्तता, कमजोरी और राष्ट्रीय हीनता को देखकर अङ्गरेज लोग धीरे धीरे वहां अपना राज्य जमाने लगे। कह सकते हैं कि सन् १७५७ में प्लासी के युद्धमें और सन् १७६४ में बक्सर के युद्ध में जिनके फलस्वरुप भारत के बंगाल और अवध प्रान्तों के कुछ जिले अंग्रेजों के हाथ लगे, भारत में अंग्रेजी

राज्य की स्थापना और शुरुआत हुई। सन् १८१८ ई. तक तो प्राय: समस्त भारत पर उनका आधिपत्य स्थापित होचुका था। (विशेष विवरण देखिये अध्याय ५१)

चीन—चीन में यूरोपीयन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। वहां पर उन्होंने अपने व्यापार की अभिवृद्धि की, व्यापारिक अभिवृद्धि के लिये कुछ युद्ध भी हुए किंतु हॉंगकॉंग बन्दर (ब्रिटिश), मकाओ नगर (पुर्तगीज), और शांघाई नगर (अंतर्राष्ट्रीय) को छोड़कर वहां पर वे अपना राज्य कायम नहीं कर सके। लेकिन उन्होंने अनेक कारखानों में अपनी लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति लगाकर एक प्रकार से आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभाव अवश्य जमा लिया था।

लंका:—लंका में सर्व प्रथम सन् १५१० में डच लोगों का प्रवेश हुआ और सन् १८१५ तक वहां के व्यापार में उनका एकाधिकार रहा। किंतु सन् १८१५ में यूरोप में अंग्रेज और डच लोगों के एक युद्ध में डच लोगों की हार के बाद लंका अंग्रेजों के हाथ लगी और वहां अंग्रेजों ने अपना राज्य स्थापित किया।

मलाया, हिंदेशिया और हिंदचीन—इन प्रदेशों में यूरोपीयन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी में हुआ; मलाया में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ, हिंदेशिया में डच लोगों का और हिन्दचीन में फ्रांस का (विशेष विवरण देखिये अध्याय ५०)

साइबेरिया—रूस को अपने विस्तार का अवसर अमरीका, अफ्रीका आदि देशों में कहीं भी नहीं मिला अतः उसने अपना विस्तार यूरोप से ही जुड़े हुए एशिया के भूभाग साइबेरिया में करना शुरू किया। साइबेरिया प्रायः खाली पड़ा था, उधर ही रूसी लोग बढ़ने लगे। १७वीं १८वीं शताब्दी में वहां का पूर्व स्थापित मंगोल साम्राज्य प्रायः खत्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के मध्य तक रूसी लोग बढ़ते बढ़ते मंगोलिया की सीमा तक, और १८६० ई. में प्रशान्त महासागर तक बढ़कर वे समस्त साइबेरिया के अधिपति हो चुके थे। इस विस्तृत साम्राज्य का एक निरंकुश सम्राट था रूस का जार। पूर्व में प्रशान्त महासागर में रूस ने व्लाडीवोस्टक एक प्रमुख बन्दरगाह बना लिया था किन्तु वह सर्दियों में बन्द रहता था, अतः रूस की दृष्टि दक्षिण में मंचूरिया की तरफ रहती थी जहां पोर्ट-आर्थर अच्छा बन्दरगाह था।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड एवं तस्मानिया—सन् १७६८ में इङ्गलैंड का केप्टन कुक आस्ट्रेलिया पहुँचा और तब से १७७६ तक उसने वहां की तीन बार यात्रा की। सन् १६४२ में न्यूजीलैंड और तस्मानिया की खोज हो चुकी थी। इन प्रदेशों में काले या ताम्र रंग के असभ्य लोग बसे हुए थे। ये लोग अनेक भिन्न भिन्न समूह व जातियों में विभक्त थे। जंगलों में झोपड़ियां बना कर रहते थे। अधिकतर शिकार पर अपना पेट पालते थे। बहुधा

नग्न रहते थे, पत्तों से या खाल से थोड़ा थोड़ा अपना तन ढक लेते थे। कहीं कहीं खेती भी होती थी किन्तु बहुत ही आदि-कालीन (Primitive) ढंग की। इनका कोई संगठित धर्म नहीं था, अजीब कल्पित देवी-देवताओं को पूजते थे। उनको बलि चढ़ाते थे और अनेक प्रकार के सामूहिक नाच करके उनको खुश करने के प्रयत्न किया करते थे। यद्यपि १७वीं सदी में इन देशों का पता लग चुका था किन्तु यहां पर यूरोपीय लोग आकर बसने नहीं लगे थे। १९वीं शती के मध्य में इन प्रदेशों में उप-निवेश बसने लगे। यहां अधिकतर अंग्रेज लोग ही आये। १८४२ में आस्ट्रेलिया में तांबे की खानों का पता लगा और १८५१ में सोने की खानों का। तभी से आस्ट्रेलिया में अधिक बस्तियां बसने लगीं। धीरे धीरे यातायात के साधनों में तरक्की की जाने लगी। १९वीं शताब्दी के अन्त तक कुछ रेल्वे-लाइनें भी बनाई गई, एवं समस्त आस्ट्रेलिया को ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया गया। १८४० ई. में न्यूजीलैंड भी जोड़ लिया गया। कनाडा की तरह आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल (British Common Wealth) के स्वशासित सदस्य हैं। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था वहीं पर बसे हुए अंग्रेजों के हाथ में है; इङ्गलैंड राज्य का एक प्रतिनिधि मात्र गर्वनर जनरल के रूप में इन देशों में रहता है। ये देश अपनी विदेशी तथा युद्ध नीति इङ्गलैंड की सलाह से तय करते हैं।

उत्तर अमेरिका
(इसका आज तक का इतिहास)

अमेरिका का प्राचीन इतिहास:-हम लोगों को अमेरिका का पता सन १४९२ ई. में कोलमबस की खोज के बाद लगा। उसके पहिले यूरोप, एशिया, उत्तर अफ्रीका के लोग जो एक दूसरे को ज्ञात थे और जो एक दूसरे से कम या अधिक प्राचीन काल से संबधित थे, यही समझ बैठे थे कि बस एशिया, यूरोप और उत्तर अफ्रीका ही यह दुनियां है, इसके परे या इससे अन्य और कोई भूमि नहीं। इसलिये सन् १४९२ में जब कोलम्बस अमरीका की भूमि पर उतरा तो यही समझा गया कि वह भारत भूमि है जहां एक नये रास्ते से प्रवेश किया गया है। किन्तु कुछ वर्षों बाद जब लोगों को यह भान हुआ कि वह तो बिल्कुल ही एक नया प्रदेश था तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही और वे इस नव ज्ञात भूमि को "नई दुनियां" ही कहने लगे।

ऐसी बात नहीं है कि अमरीका की खोज के पूर्व का कोई इतिहास नहीं था, वहां कोई मानव ही नहीं रहता था। उस महाद्वीप के प्रागैतिहासिक और प्राचीन इतिहास के विषय में ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीन पाषाण युग के उत्तरार्द्ध में या नव पाषाण युग के आरंभिक काल में उत्तर

पूर्वीय एशिया से कुछ लोग (संभवतः मंगलोइड उपजाति के लोग) बेहरिंग और अलास्का के रास्ते से होकर अमरीका पहुँच गये थे; उस समय एशिया व अमरीका महाद्वीप बेहरिंग और अलास्का के पास जुड़े हुए होंगे। इन लोगों के पहुँचने के पूर्व तो अमरीका मानव-हीन विशाल भूखंड थे जहां जंगली भैंस, विशालकाय मैगामेरियन और ग्लिपटोडन नामक जानवर इधर उधर घूमा फिरा करते थे । तदुपरान्त बेहरिंग जल-मार्ग द्वारा दोनों महाद्वीप पृथक हो गये अतएव एशिया और अमरीका में किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रहा। तब से यूरोप और एशिया वासियों के लिये अमरीका कोलम्बस की खोज तक बिल्कुल लुप्त रहा। वे प्राचीन लोग जो प्रागैतिहासिक काल में अमरीका पहुंचे थे, धीरे धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये थे और उन्होंने खेती, पशु पालन के आधार पर अपनी सभ्यताओं का विकास किया था। कैसी यह सभ्यता थी इसका विवरण हम यथा स्थान १६ वें अध्याय में कर आये हैं। यह सभ्यता प्रागैतिहासिक कालीन काष्र्णीय सभ्यता से कुछ मिलती जुलती थी; शेष दुनियां से उसका कुछ भी सम्पर्क न रहने की वजह से उसमें कुछ भी बौद्धिक या आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो पाई थी। १६ वीं शताब्दी में यूरोप के लोग जब धीरे धीरे अमरीका जाकर बसने लगे उस समय भी वहां उपरोक्त आदि निवासियों की सभ्यतायें विद्यमान थीं जो यूरोप-वासियों के उन देशों में

फैलने के साथ साथ लुप्त हो गई। अमरीका के ये आदि निवासी ताम्रवर्ण (Copper Colour) के लोग थे; यूरोप वासियों ने इनको रेड इंडियन नाम से पुकारा। ये लोग जगह जगह थोड़ी थोड़ी संख्या में फैले थे; देश की विशालता को देखते हुए तो इनकी संख्या बहुत ही कम थी। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के आदि निवासियों की कुल संख्या लगभग एक करोड़ होगी। ये आदि निवासी कई भिन्न भिन्न समूहगत जातियों (Tribes) के लोग थे। इन सब की सभ्यता एक श्रेणी की नहीं थी। ठेठ उत्तर के भाग में जो बहुत ठण्डे थे और जो बर्फ से ढ़के रहते थे वहां लोगों के जीवन का जलवायु के अनुरूप इतना ही विकास हो पाया था कि वे फर (जानवर की बालदार खाल) से अपने शरीर को ढ़कते थे, बर्फ की ही गोल गोल झोपडियां खोदकर उनमें रहते थे और मांस व मछली पर जीवन निर्वाह करते थे। उत्तर पच्छिमी भागों में लोग विशेषतया शिकार पर अपना जीवन निर्वाह करते थे, उस भाग में जंगली भैंसे बहुत थे उन्हीं का शिकार होता था। ये लोग प्रायः असभ्य थे। पूर्वी भागों में कई समूह व जातियों के लोग गांव बसाकर बसे हुए थे। इन गांवों में सुव्यवस्थित ढङ्ग से मकान बने थे; देवता और आग के सामने ये नृत्य भी करते थे। वे शिकार भी करते थे किन्तु साथ ही साथ खेती भी; मुख्यतया मक्का की खेती होती थी। बिना किसी प्रकार की प्रगति किये

किसी प्रकार अनेक शताब्दियों से ये रहते हुए आरहे थे। पच्छिम में जो आधुनिक केलीफोर्निया है वहां के रेड इंडियन कुछ विशेष सभ्य थे—वे खेती करते थे, कपड़ा बुनते थे, मिट्टी के वर्तन वनाते थे, पत्थर के मकान बनाते थे। किन्तु सबसे अधिक सभ्य स्थिति यूरोपीय लोगों को दो भागों में मिली; एक भाग तो वह था जो आधुनिक मैक्सिको है; दूसरा वह भाग जो आधुनिक पीरु है। इन दोनों प्रदेशों में उसी स्थिति की सभ्यता विद्यमान थी जिसका उल्लेख १६वें अध्याय में हो चुका है। मैक्सिको में ऐजटैक्स लोग थे। उनकी कृषि, शासन प्रणाली स्थापन कला काफी विकसित थी। कई नगर बसे हुए थे जिनमें सड़कें थीं, विशाल मन्दिर थे और राजा के महल थे। एक विशेष प्रकार की चित्र लेखन कला का उनको पता था। ये सब बातें थीं किन्तु उनका धर्म बहुत निर्दयता पूर्ण था, देवता के आगे हजारों व्यक्तियों की वलि चढ़ा दी जाती थी। इस सभ्यता में विशेष कमी यही थी कि एक तो इनका धर्म इतना अविकसित स्थिति का था और दूसरा सिवाय कांसी (Bronze) के ये लोग और किसी प्रकार की धातु के प्रयोग से परिचित नहीं थे; यातायात के साधनों में पहिये से भी परिचित नहीं थे। घोड़ा, या बैल उन प्रदेशों में नहीं थे। बोझा ढोने का काम 'अम्मा' (Amma) नामक जानवर की पीठ पर होता था, जिस पर तेज सवारी नहीं की जा सकती थी। स्पेनिश नाविक कोर्टेज जिसने

इस प्रान्त का पता लगाया उसी ने ऐजटैक्स राजा से युद्ध कर उस प्रान्त को जीता। यूरोपीयन लोग (Aztecs) ऐजटैक्स लोगों को जीत सके उसका यही एक कारण था कि यूरोपीयन लोगों के पास बारुद था और वे सवार होकर लड़ने के लिये अपने जहाजों में घोड़े ले आये थे।

प्रायः मैक्सिको की तरह दक्षिण अमेरिका के उस भाग में जो आधुनिक पीरु है वहां पर भी नगरों में बड़े बड़े मन्दिरों, राजा और सुव्यवस्थित शासन वाली, एक "इनका" जाति के लोगों की सभ्यता थी। इस प्रान्त में सोने और चांदी की बहुत खानें थीं। स्पेनिश नागरिक पिज़ारो ने "इनका" राजा को परास्त कर वहां स्पेनिश प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ किया। अमेरिकन आदि वासियों में यातायात के साधन इतने कम थे कि उपरोक्त मैक्सिको और पीरु की सभ्य जातियां भी एक दूसरे से परिचित नहीं थी। ऐजटैक्स लोगों को पता नहीं था कि कहीं और भी उन जैसी सभ्यता उनके प्रदेश से थोड़ी ही दूर पर प्रचलित है। इन दो सभ्यताओं को छोड़कर जैसा ऊपर कह आये हैं अमेरिका के और प्रदेशों में तो प्रायः असभ्य स्थिति के ही लोग रहते थे। अमेरिका विशाल भूखंड है, यूरोप से कई कई गुना बड़े; और १५ वीं सदी में जब यूरोपवासी सर्वप्रथम वहां पहुँचे, उपरोक्त कुछ छोटे छोटे प्रदेशों को छोड़कर वह समस्त विशाल भूखंड अविकसित अपनी प्राकृतिक स्थिति में

पड़ा था। ऐसे अपरिचित नव भूखंड में यूरोपवासी गये, वहां बसे, उसे अपना ही एक देश बना लिया और दो तीन शताब्दियों में ही वे इतनी प्रगति कर गये कि आज २० वीं शती में दुनियां में अमेरिका (संयुक्त राज्य अमेरिका) का स्थान अत्याधिक महत्वपूर्ण है।

अमेरीका में यूरोपवासियों का बसना और अपने राज्य स्थापित करना-सन् १४६२ में कोलम्बस ने अमेरीका का पता लगाया, पहिले तो नाविकों ने समझा कि यह भारत है। कुछ वर्षों बाद अमेरिगोवेस्पुस्सी नामक एक नाविक ने यह पता लगाया कि यह तो भारत नहीं किंतु एक नया संसार है। उसने इस नये संसार का एक रोमांचकारी विवरण प्रकाशित किया, उसीके नाम पर इस देश का नाम अमेरिका पड़ा। तदुपरान्त और यूरोपीय यात्री वहां पर गये और उन्होंने अमेरिका के भिन्न भिन्न भागों का पता लगाया, जैसे सन् १४९७ में जोहनकबोर्ट ने न्यूफाउण्डलैंड का, १५०० ई. में पेड्रो ने पुर्तगाल के लिये ब्राजील का, १५१६ में स्पेन के कोर्टेज़ ने मैक्सिको का, १५३२ ई. में पीज़ारो ने पीरु का, १५८४ ई. में इङ्गलेंड के रेले ने वर्जिनियां प्रदेश का इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार यूरोपवासी-स्पेनिश, पुर्तगीज़, डच, फ्रेन्च, अंग्रेज धीरे धीरे नई दुनियां में धन की खोज़ में, काम की खोज में, नये घरों की खोज़ में

एवं नई नई साहसपूर्ण यात्राओं की खुशी में आते गये, बीहड़ जंगलों को साफ करते गये, वहां के आदि निवासियों से टक्कर लेते गये, और वहां बसते गये। उत्तरी अमेरिका के उस भाग में जो आज सयुंक्त अमेरिका राज्य कहलाता है, सर्व प्रथम बस्ती १६०७ ई. में एक जगह बसाई गई जो आज जेम्सटाउन नगर है। इस प्रकार उसके बाद भिन्न भिन्न बस्तियां एवं नगर बसते गये।

बस्तियां–ज्यों ज्यों आगन्तुक लोग नये नये नगर बसाते जाते थे त्यों त्यों अपनी सामाजिक व्यवस्था के लिये स्थानीय जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था (Local self Government.) भी कायम करते जाते थे। सन् १७६० तक संयुक्त अमेरिका के पूर्वीय किनारें पर इस प्रकार प्रायः १३ राज्य स्थापित हो चुके थे। इनमें अधिकतर बसने वाले अंग्रेज लोग ही थे। फ्रांसीसी लोग भी आये थे किंतु वे लोग तटीय प्रांतों को छोड़कर अन्तर प्रदेशों में अधिक चले गये थे जहां उन्होंने अपने किले भी स्थापित किये थे। वे कृषि, व्यापार और व्यवसाय के लिये इतने व्यवस्थित ढ़ंग से नहीं बस पाये जितने कि अंग्रेज लोग बसे। वे साहसपूर्ण खोज, नई बातों के उद्‌घाटन और अमेरिका के मूल निवासियों में ईसाई धर्म प्रचार करने की तमन्ना में अधिक रहगये। अमेरिका में बसने और व्यापारिक वृद्धि करने के लिये फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में परस्पर झगड़े

अवश्य हुए किंतु इनका फैसला इङ्गलैंड और फ्रांस के सप्तवर्षीय (१७५६-१७६३) युद्ध में होगया। फ्रांस की हार हुई और यह निश्चय हुआ कि अमेरिका के समस्त फ्रांसीसी उपनिवेश अंग्रेजों के आधिन कर दिये जायें। इस प्रकार समस्त उत्तर अमेरिका,- कनाडा और संयुक्त राज्य में मैक्सिको और मध्य अमेरिका के कुछ प्रदेशों को छोड़कर अंग्रेजों का अधिकार मान्य हुआ।

अमेरिका का स्वतंत्रता युद्धः- इंगलैंड से आकर जो लोग अमरीका में बसे थे और बसते हुए जा रहे थे वे अपने आप को इङ्गलेंड के राजा की प्रजा समझते थे। उन्हीं दिनों यूरोप के राज्यों ने आपस में बात करके यह कानून तय किया था कि यदि कोई मनुष्य किसी अज्ञात देश को मालूम करके वहां पर अपने राजा की पताका गाड़ देगा तो वह देश उस देश के राजा का समझा जायेगा। इसी सबब से इङ्गलैंड का राजा अमरीका में बसे हुए अंग्रेजों पर अपना शासनाधिकार समझता था। इसी तरह के कई कारणों से यही समझा जाने लगा कि अमरीका उपनीवेश पर इङ्गलैंड का ही राज्य है। वैसे भी अमरीका निवासी अंग्रेज अपना व्यौपार इङ्गलैंड से ही करते थे और इङ्गलैंड ने भी ऐसे कई कानून बनाये थे कि अमरीका वासी अंग्रेज केवल इङ्गलैंड से ही या इंगलैंड द्वारा व्यौपार कर सकें। इंगलैंड का राजा अपना प्रतिनिधि स्वरुप अमरीका में एक

वायसराय (Viceroy) भी रखने लग गया था, जो अमरीका के सब राज्यों का अधिनायक माना जाता था। ये वायसराय भिन्न भिन्न राज्यों के कानूनों को मान्यता न देकर खुद अपने कानून बनाते थे। इन्होंने इंगलैंड के लिये कर वसूल करना भी प्रारम्भ कर दिया। कई प्रकार के कर उन पर लगा दिये गये। इंगलैंड की फौज भी अमरीका में रहने लग गई। अमरीका में जो लोग बस गये थे वे लोग इंगलैंड की इस बात को सहन नहीं कर सके-वे स्वतन्त्र रहना चाहते थे, स्वतन्त्र अपना विकास करना चाहते थे, किसी दूसरी जगह की दखलन्दाजी उन्हें पसन्द नहीं थी अतः इन अमेरिका वासियों ने इंगलैंड से छुटकारा पाने के लिए अपने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये। इंगलैंड से असहयोग करना शुरु कर दिया, कर देने से इन्कार कर दिया। इंगलैंड से चाय के भरे तीन जहाज अमरीका आये थे; बोस्टन बन्दरगाह में ये चाय के जहाज लगे, चाय पर इगलैंड की ओर से महसूल कर लगा हुआ था। कर देने की बजाय अमरीका वासियों ने उन चाय के बोरों को ही समुद्र में डूबो दिया। झगड़ा बढ़ गया, इंगलैंड और अमरीका में युद्ध घोषित हुआ। अमेरिका की स्वतन्त्रता का यह युद्ध था। इंगलैंड से फौजें आईं, उधर अमेरिका ने भी पहिले स्वयं सेवक खड़े किये और फिर उनको सैनिक-शिक्षण देकर अपनी सेनायें बना लीं। ४ जुलाई सन १७७६ के दिन अमेरिका ने अपनी स्वतन्त्रता

की घोषणा कर दी–और साथ ही साथ उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त की घोषणा की जो मानव, मानव समाज में आधारभूत एक नई वस्तु थी,–एक ऐसी वस्तु जो युग युग तक मानव समाज संगठन का बुनियादी आधार बनी रहेगी। यह घोषणा थी:–"इस सत्य को हम स्वयं सिद्ध समझते हैं कि सब प्राणियों को समान उत्पन्न किया जाता है—उनको उनके रचयिता (परमात्मा) की ओर से कुछ अपरिवर्तनशील अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों में ये हैं—प्राण, स्वतन्त्रता और आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न। सरकारें भी इसलिये स्थापित रहती हैं कि मानव के ये अधिकार सुरक्षित रहें। इन सरकारों की शक्ति शासित लोगों की सम्मति पर ही आधारित है। जब कभी कोई सरकार इन उद्देश्यों की अवहेलना करे तो लोगों का यह अधिकार है कि ऐसी सरकार को बदल दें या खतम कर दें और उसकी जगह नई सरकार स्थापित कर दें।"

मानव मानव में समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, और जनतन्त्रवाद–इन तीनों आदर्शों की, इन तीन सिद्धान्तों की, यह एक अद्वितीय घोषणा थी। आज के मानव की भी ये ही आकांक्षायें हैं–समाज में ये ही उसके आदर्श। विश्व में, संयुक्त राज्य अमेरिका एक नई रचना थी, आज से केवल १५० वर्ष पूर्व उस नई रचना का जन्म हुआ था उपरोक्त सिद्धान्तों में।

यह घोषणा तो अमेरिका के तत्कालीन १३ संयुक्त राज्यों ने कर दी किन्तु इङ्गलेंड नहीं माना, उसने युद्ध जारी रक्खा। अमेरिकन फौज का सेनापति बना जार्ज वाशिंगटन। सन् १७७६ से सन् १७८३ तक दोनों देशों में ७ वर्ष तक युद्ध चलता रहा अन्त में अमेरिका में इङ्गलैंड की हार हुई और सन १७८३ ई. में अमेरिका पूर्ण स्वतन्त्र हुआ।

युद्ध समाप्त होने पर, देश स्वतन्त्र होने पर, अमेरिका के १३ राज्य बिखरने से लगे किन्तु जार्ज वाशिंगटन तथा अन्य राजनैतिज्ञों ने परिस्थिति को संभाला। सन १७८७ ई. में फिला-डेलफिया नगर में सभी राज्यों के प्रतिनिधि वाशिंगटन के सभापतित्व में एकत्रित हुए सब ने मिलकर एक शासन विधान बनाया–सन् १७७६ ई. में घोषित समता, स्वतन्त्रता, जनतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर। विधीवत् संयुक्त राष्ट्र अमेरिका राज्य का निर्माण हुआ। चेतन तत्व था कुछ महान् व्यक्तियों का--टोमपेन, बेन्जामिन फ्रेंकलिन, जेफरसन, हेमिलटन, वाशिंगटन। अमेरिका के शासन विधान के अनुसार अमेरिका एक संघ राज्य है। संघीय सरकार अध्यक्षात्मक है–अर्थात् मुख्य कार्यवाहक अध्यक्ष हैं–कोई मन्त्री मण्डल नहीं। व्यवस्था सभा (कांग्रेस) के दो हाउस हैं-सिनेट और प्रतिनिधि गृह। संघ के सदस्य भिन्न भिन्न राज्य स्थानीय मामलों में बिल्कुल स्वतन्त्र हैं, और सब प्रजातन्त्र राज्य हैं।

विधान के अनुसार जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सन् १७८९ ई. में प्रथम अध्यक्ष चुना गया। उसके बाद से अब तक हर चौथे वर्ष अमेरिका के अध्यक्ष (President) चुने जाते रहे हैं।–दुनियां के सामने और दुनियां की राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि स्वरुप वहां के अध्यक्ष का स्थान महत्वपूर्ण रहा है।

अमेरिका में दास प्रथा और वहां का गृह युद्ध

(१८६०–६५):-प्रारम्भ में जो यूरोपीय लोग अमेरिका में बसे, वे वहां के आदि निवासियों को आतंकित कर उस देश के स्वामी के रूप में बसे। अपेक्षाकृत उत्तरी भाग में जो लोग बसे उन्होंने तो स्वतन्त्र अपनी ही खेतीबाड़ी करना प्रारंभ किया, वे विशेषतः 'खुद-किसान' और व्यापारी थे किन्तु जो दक्षिणी भागों में बसे थे और जहां पर उस काल में खानों में और तम्बाकू की खेती में अधिक काम होता था, वे प्रारंभ से ही बड़े बड़े जमींदार थे, विशाल क्षेत्रों में एवं खानों में वे स्वयं काम नहीं कर सके। उन्हें यह आवश्यकता हुई कि वे वहां के आदि निवासियों को जबरन खानों और तम्बाकू के खेतों में काम करवायें। वहां के आदि निवासी रेड इंडियन इस कठिन परिश्रम के काम के लिये अयोग्य निकले--वे बीमार पड़ जाते थे। अतः दक्षिणी प्रान्तों के उपनिवेशवासियों के सामने यह एक समस्या थी। इसी समय सन् १६१९ ई. में अफ्रीका

के नीग्रो लोगों से भरा एक जहाज अमेरिका पहुंचा। कुछ स्पेनिश एवं अंग्रेज सहासी मल्लाहों ने अपना एक पेशा ही बना लिया था कि वे लोग अफ्रीका जाते थे, वहां से काले हवशी लोगों को जबरदस्ती पकड़ लाते थे, और उनको इंगलैंड या अमेरिका में जहां मजदूरों की आवश्यकता होती थी, बेच देते थे। १६ वीं सदी में जब से स्पेन और पुर्तगाली लोगों ने दक्षिण अमेरिका एवं पच्छिमी द्वीप समूहों में अपने उपनिवेश बसाना शुरु किया था, तभी से यह काम शुरु हो गया था। इस प्रकार १६ वीं सदी में अजीब ही एक दास प्रथा का प्रारम्भ हुआ। सयुंक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण भाग के राज्यों में नीग्रो दास लोगों का एक व्यापार ही चल पड़ा था। दासों को खरीदा जा सकता था उनसे चाहे जितना और जैसा काम लिया जा सकता था। यह नहीं कि नीग्रो लोगों का एक दास कुटुम्ब एक ही मालिक के पास रहे, ऐसा भी होता था कि कुटुम्ब का पिता कहीं बिक जाता था, माता कहीं और बच्चे कहीं। दर असल उनका एक बाजार लगता था और वे नीलाम होते थे; अमेरिका के इतिहास में वहां का यह एक काला धब्बा है। समझ में नहीं आता कि जहां एक ओर तो समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की दुहाई दी जाती थी वहीं दूसरी ओर मानव सब अधिकारों से वंचित एक दास था।

किंतु धीरे धीरे इङ्गलैंड में उदार विचारों का प्रचार हो

रहा था, वहां की पार्लियामेंट ने १८०७ में किसी भी बृटिश नागरिक के लिये गुलामों का व्यापार करना गैर कानूनी घोषित कर दिया था। १८८३ ई. में समस्त बृटिश साम्राज्य में दास प्रथा गैर कानूनी घोषित कर दी गई थी। अमेरिका में भी उसका प्रभाव पड़ा। सब सभ्य लोगों की ओर से यह मांग पेश हुई कि दास प्रथा समूल हटा दी जाये। इसी प्रश्न को लेकर सन् १८६० में अमेरिका में एक गृह युद्ध छिड़ गया जिसमें एक ओर तो उत्तरी राज्य थे जो दास प्रथा को सर्वथा बन्द कर देना चाहते थे और दूसरी ओर दक्षिणी राज्य जो दास प्रथा को अपने स्वार्थवश कायम रखना चाहते थे। दक्षिणी राज्यों ने यहां तक धमकी दी कि यदि उनकी बात नहीं मानी गई तो वे संघ राज्य से ही अलग हो जायेंगे। इस समय अमरीका के प्रजिडेण्ट अब्राहम लिंकन थे जो एक महान् पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व मानवता में व्याप्त था, उन्होंने देखा कि समाज में दास नहीं रह सकते चाहे युद्ध करना पड़े। फलतः १८६० ई. में उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में गृह युद्ध हुआ। लिंकन ने उत्तरी राज्यों का,--उदारता और मानवता का नेतृत्व किया। सन् १८६२ में घोषणा की कि दासता नहीं रहेगी—सब दास मुक्त हैं। १८६५ ई. तक युद्ध चलता रहा, लिंकन की विजय हुई, दासता खत्म की गई। अमरीका के ४० लाख दास मुक्त हुए, उत्तर और दक्षिण राज्य और भी अधिक सुदृढ़ता से एकीकृत हुए।

अमरीका के प्रभाव में वृद्धि:-संयुक्त राज्य अमेरिका ने धीरे धीरे अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना प्रारम्भ किया। सन् १८६० ई. में कनाडा के ठेठ उत्तर पच्छिम का भाग अलास्का जो रुसी लोगों का उपनिवेश था, रुस राज्य से खरीद लिया गया। अलास्का का महत्व उस समय मालूम नहीं होता था किन्तु द्वितीय महायुद्ध काल में (१९३९-४५) लोगों ने उसके महत्व को महसूस किया। सन् १८९२ में प्रशान्त महासागर के महत्व-पूर्ण हवाई द्विप अमेरिकन राज्य में सम्मिलित किये गये। इससे अमेरिका प्रशान्त महासागर की दूसरी महाशक्ति जापान के निकट आया। सन् १८९८ ई. में उपनिवेश सम्बन्धी कुछ प्रश्नों को लेकर स्पेन से युद्ध हुआ, जिसमें अमेरिकन विजय के साथ साथ स्पेन अधिकृत फिलीपाइन द्वीप अमेरिका के हाथ लगे। याद होगा जापान के दक्षिण में स्थित इन फिलीपाइन द्वीपों में १६वीं १७वीं शताब्दी में स्पेनिश लोग जाकर बस गये थे और उसे अपना उपनिवेश बना लिया था- उसी पर अब अमेरिका का अधिकार हुआ। २०वीं शती के आरम्भ में उस डमरु-मध्य के भूभाग को जो उत्तर और दक्षिण अमेरिका को जोड़ता है, अमेरिका ने अपने अधिकार में लिया और सन १९०४ में वहां 'पनामा नहर' बनवाना प्रारम्भ किया। इससे अब अटलांटिक महासागर से प्रशान्त महासागर तक पहुँचने के लिये अब पूरे दक्षिण अमेरिका का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं रहा।

व्यापारिक एवं सामजिक दृष्टि से यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात थी। २०वीं सदी के प्रारम्भ से ही देश का औद्योगिक विकास तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। इन सब बातों से अमेरिका का प्रभाव बढ़ गया। सन् १९१२ में विलसन अमेरिका के प्रजीडेण्ट चुने गये; सन १९१४ में यूरोप में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अमेरिकन लोग नहीं चाहते थे कि यूरोपीय देशों के झगड़े में किसी प्रकार पड़ा जाय किन्तु जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे ने और प्रेजीडेण्ट विलसन की चेतावनी ने अमेरिका को बाध्य किया कि वे इंगलैंड और फ्रांस की रक्षा में युद्ध में अवतरित हों। सन् १९१७ में अमेरिका युद्ध में कूद पड़ा। तभी से युद्ध ने पलटा खाया और जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों की यथा आस्ट्रिया और टर्की की हार हुई एवं इंगलेंड और फ्रांस की विजय। विलसन एक आदर्शवादी पुरुष थे—दूरदर्शी भी थे। उनको प्रेरणा हुई कि संसार से युद्ध के खतरों को रोकने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना होनी चाहिये। एक जहाज में बैठे बैठे उसकी योजना बनी, और युद्ध की समाप्ति के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बना किन्तु खेद कि वही देश जिसके नेता की प्रतिभा से वह संघ खड़ा हुआ था, उसमें शामिल नहीं हुआ। अमेरिका के लोगों ने निर्णय किया कि अमेरिका शेष दुनियां से पृथक रहना ही पसन्द करेगा। फिर भी प्रथम महा-युद्ध काल से अमेरिका के इतिहास का एक नया युग प्रारम्भ

हुआ। अब अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता था और दुनियां की राजनीति में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान था। वह देश धनी भी हो गया था और दुनियां के देशों का साहूकार, अब दूसरे देश उसके कर्जदार थे। कठोर नियम बना दिये गये कि विश्व के और किसी देश के लोग (चाहे इङ्गलेण्ड, फ्रांस, आयरलैंड इत्यादि कहीं के भी हों) अब सामूहिक रुप से अमरीका में जाकर नहीं बस सकते थे जैसा कि ये नियम पास होने के पूर्व सम्भव था और अनेक लोग वहां जाकर वस भी जाया करते थे;—आखिर यूरोप के लोगों ने ही तो धीरे धीरे अमरीका में बसकर अमरीका को बनाया था। शेष दुनियां से पृथकता की यह नीति चलती रही, साथ ही साथ अमरीका का व्यापारिक और आर्थिक उन्नति के होते हुए सन् १६३६ में फिर यूरोपीय देशों की गुटबन्दी से दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, फिर जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे ने अमरीका को बाध्य किया कि वे भी युद्ध में सम्मिलित हो। अबकी बार यह खतरा एक विचार धारा का खतरा था, जर्मनी एकतन्त्रवादी तानाशाही का प्रतीक था, अमरीका जनतन्त्र का पोषक। अन्त में अमरीका की सहायता से जनतन्त्रवादी इङ्गलैंड, फ्रांस आदि देशों की विजय हुई और जर्मनी, इटली, जापान की हार। इस युद्ध ने अमरीका को दुनियां की सर्वोच्च जनतन्त्रवादी शक्ति के रुप में खड़ा कर दिया।

अमरीका का जीवन:–मानव के उद्भव के बाद हजारों वर्षों तक जो भूखंड सभ्य संसार से पृथक अज्ञात पड़ा रहा वह १८ वीं शती में सहसा दुनियां के इतिहास में एक नई चहल पहल के साथ उदित हुआ। जहां कोरे बीहड़ जंगल थे, अन्धेरा था, वहां अब भूमि पर गेहूं, मक्का, चावल, कपास, फल फूल लह लहाने लगे; लोहा, कोयला, सोना, चांदी, सीसा–तांबा, जमीन में से अटूट परिमाण में निकाले जाने लगे; जगह जगह जमीन के नीचे तेल की खोज हुई और तेल के कुए बनाये गये। १८ वीं १९ वीं सदियों में जब यूरोप में वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप अनेक अद्भुत प्रकार के यन्त्रों का अविष्कार हुआ तो उनका प्रभाव अमरीका में एक दम फैल गया। सन् १८६५ में १९०० ई. तक रेलों का एक जाल सा देश में फैल गया, सन् १८८१ में सर्व प्रथम वह रेल बनी जो अमरीका के पूर्वी छोर से ठेठ पच्छिमी छोर तक पहुँची। शुरुआत में यूरोप से जो लोग अमरीका बसने आये थे, उनको यूरोप और अमरीका के बीच अटलान्टिक महासागर पार करने में लगभग दो महीने लग जाते थे किन्तु १९ वीं सदी के प्रारम्भ में भाप यन्त्र से चलने वाले जहाजों का अविष्कार हो चुका था। सन् १८३३ तक अटलान्टिक महासागर में चलने वाले प्रायः सभी जहाज पल्लों (Sails) से चलने वाले न होकर भाप के इञ्जिन से चलने वाले हो चुके थे। जहां पहिले इङ्गलेंड से

अमेरिका पहुँचने में आठ सप्ताह तक लग जाते थे वही यात्रा १६ वीं सदी के मध्य में तीन सप्ताह में ही हो जाती थी। इस प्रकार अमेरिका का यूरोपीय देशों से खूब सम्पर्क व व्यापार बढ़ता रहा और अनेक लोग यूरोप से विशेषकर इङ्गलेंड से आकर अमेरिका में बसने लगे। १६ वीं शताब्दी के मध्य तक उस तमाम भूखंड में जो आज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका है यूरोप वासियों के उपनिवेश बस चुके थे। अब सन् १७७६ के १३ राज्यों की जगह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ४८ राज्य थे और वहां की यूरोपीयन आबादी धीरे धीरे १६ वीं शती के प्रारम्भ में हजार से भी कम से लेकर लाखों और फिर करोड़ों तक पहुँच रही थी। आज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १५ करोड़ जन हैं। यद्यपि-यूरोप के कई भागों के कई भाषा भाषी लोग संयुक्त राज्य अमरीका में आकर बसे थे किन्तु उनमें अधिकतर संख्या अंग्रेजों की होने की वजह से राष्ट्र भाषा अंग्रेजी रही, रहन सहन, पहनावा भी अंग्रेजी। धर्म उनका ईसाई ही रहा, किन्तु इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि कोई भी व्यक्ति किसी भी चर्च संघ का सदस्य या अनुयायी हो सकता था, चाहे रोमन कैथोलिक हो चाहे प्रोटेस्टेन्ट अधिकांश जन प्रोटेस्टेन्ट ही रहे। अनेक बड़े बड़े नगर बस गये थे-न्यूयार्क, शिकागो, केलीफोर्निया, वाशिंगटन आदि जहां आकाश भेदी पचास पचास साठ साठ मंजिलों के मकान बनने लगे थे प्रत्येक क्षेत्र में यांत्रिक कुशलता

(Technology) का अभूतपूर्व विकास हुआ। सन १९२०, से तो अमरीका टेकनोलोजी में यूरोपीय देशों को भी पछाड़ने लगा। आज वहां का सामाजिक जीवन बहुत ही व्यवस्थित है, गांवों का भी, नगरों का भी। सभी चीजें या काम (Services) व्यवस्थित ढंग से, साफ सफाई से, और ईमानदारी से उपलब्ध होती हैं। दैनिक जीवन में किसी को भी कोई परेशानी नहीं होती। राष्ट्रीयता की भावना भी कि अमरीका तो पृथक एक अमरीकन राष्ट्र है, यूरोप और यूरोपीय जीवन से भिन्न वहां घर कर गई। यहां तक कि सन १८२३ में अमरीका के प्रेसीडेण्ट मुनरो ने एक सिद्धान्त की घोषणा की कि कोई भी यूरोपीय देश अमरीका के मामलों में हस्तक्षेप न करें। धीरे धीरे ऐसे भी नियम बना दिये गये कि और अधिक नये लोग अमरीका में आकर न बस सकें।

१९ वीं शताब्दी के मध्य से अभूतपूर्व आर्थिक औद्योगिक विकास और उन्नति के साथ साथ ही सांस्कृतिक उन्नति भी होने लगी। जगह जगह सुव्यवस्थित विद्यालय, महाविद्यालय और विश्व-विद्यालय स्थापित हुए, देश में कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक, दार्शनिक, लेखक और कवि हुए। वाल्ट व्हिट मैन (Walt Whitman १८१९-९२) कवि हुए, जिसमें जनतन्त्र और मानव समानता की भावना सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्त हुई,

जिसने गाया—"A vast similitude interlocks all," एक अद्भुत समानता सब प्राणों को एक दूसरे से संबद्ध किये हुए है। लेखक थोरो (१८१७–६२) एवं इमरसन (१८०३–८२) हुए जिन्होंने जीवन की कृतिमता को हटा उसमें सारल्य और सुचिता की अवतारणा की; मार्क ट्वेन (Mark Twain—१८३५–१९१०) हुए जिसने अपनी हास्यमयी रचनाओं से मानव के मन में गुदगुदी पैदा की; और आज की लेखिका, नोवुल पुरस्कार विजेत्री पर्ल बक (Pearl Buck) हैं जो साधारण अपेक्षित जन के साधारण से जीवन में भी सौन्दर्य का दर्शन करती हैं और जो मानव मात्र के जीवन में–वह चीन का मानव हो, भारत का मानव हो, कहीं का मानव हो, इसी दुनियां के सुख की उपलब्धि चाहती हैं। दार्शनिक जेम्स (James) और जोहन डीवी हुए; और वे वैज्ञानिक हुए जिनने अणु बम बनाया और जो अणु शक्ति का अध्ययन कर रहे हैं।

वास्तव में एक दृष्टि से अमेरिका एक नया ही देश, एक नया ही समाज खड़ा हुआ है। वहां पर जो लोग गये उनको यह सुविधा और लाभ प्राप्त था कि उनके साथ जहां पर वे बसे उस विशेष स्थल की अथवा वहां पर किसी प्राचीन समाज की कोई परम्परा या लाग-लपेट नहीं थी। अतः वे नये सिरे से, अपनी समझ के अनुसार देखभाल करके अपनी स्वतन्त्र इच्छा से

मनचाहे समाज का निर्माण करसकते थे। ऐसा अवसर और ऐसी सुविधायें उन लोगों के हाथ में थी। इनका बहुत कुछ उपयोग इन्होने किया भी। एक शक्तिशाली, औद्यौगिक सुव्यवस्थित राष्ट्र का उन्होंने निर्माण किया। किन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियों और सुविधाओं में (क्योंकि उन्हें तो शुरु से ही एक नई चीज बनानी थी और जैसा वे चाहते बना सकते थे) जैसा आदर्श, सामाजिक संगठन वे बना सकते थे वैसा उन्होंने नहीं किया। बहुत कुछ परिस्थितियों के ही भरोसे वे चलते रहे और एक ऐसे समाज का संगठन होगया जहां रुपये का अधिक आदर था और कला व मानवता का कम। किंतु फिर भी अमरीका के जन समाज में वहां के सामाजिक संगठन में कुछ दो-तीन अच्छी बातें बुनियादी तौर से स्थापित होगई। वे बातें थीं—समानता, व्यक्ति स्वातंत्रय और जनतन्त्र (equality, Individual Freedom, Democracy) अमरीका में कानून की दृष्टि में सब समान हैं, एक-से-राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं, यह भावना नहीं कि अमुक तो उच्च वर्ग का प्राणी है अमुक निम्न वर्ग का; कोई भी जन ऐसा नहीं जिसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हो; कोई भी जन यदि उसमें योग्यता है तो राज्य के उच्च से उच्च पद पर पहुंच सकता है। समानता के सिद्धान्त का हनन वहां दो बातों में होता है। पहिली यह कि अमरीका के भूतपूर्व गुलाम नीग्रो को एवं वहां के आदि निवासी रेड इण्डियन लोगों को, चाहे वे

अमरीका राज्य के स्वतंत्र नागरिक हैं तथापि व्यवहार में उनको निम्न प्राणी समझा जाता है, उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है; किंतु धीरे धीरे ज्यों ज्यों उदार विचारों का प्रसार होरहा है, ऐसी बातें कम होरही हैं। नीग्रो लोग सभ्य बनते जारहे हैं, उनके विद्यालय, विश्वविद्यालय स्थापित होरहे हैं, राज्य में कई बड़े बड़े पदों पर वे नियुक्त हैं,—वे स्वयं अब खड़े होने लगे हैं। उनका प्राचीन असभ्य स्थिति का पेगन धर्म छूटता जारहा है और वे ईसाई या स्वतन्त्र धर्मी बनरहे हैं। दूसरी बात जिसमें समानता देखने को नहीं मिलती वह है आर्थिक क्षेत्र। कोई करोड़पति है, कोई केवल पेट मात्र भरता है। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य के दूसरे सिद्धान्तानुसार जहां व्यक्ति के धार्मिक, आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों में कोई भी बाहरी हस्तक्षेप या बल प्रयोग सहन नहीं किया जाता वहां व्यक्ति के, या व्यक्तियों की समितियों के व्यापारिक, औद्योगिक कामों (Enterprises) में भी शासन का (सरकार का) हस्तक्षेप सहन नहीं किया जाता। सब को समानाधिकार प्राप्त हैं, शिक्षा दीक्षा की प्रायः समान सुविधायें। यदि कोई व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता से, सूझ से, परिश्रम और अध्यवसाय से दूसरों की अपेक्षा अत्याधिक धन कमा लेता है, और फिर उस धन को अपने ही व्यक्तिगत उद्योगों के विकास में खर्च करता है और इस प्रकार अपना व्यवसाय बढ़ाता है, तो इसमें वहां का समाज

और शासन कोई हस्तक्षेप नहीं करसकता। अमरीका में आज के अनेक बड़े उद्योगपति, व्यवसायी, यहां तक कि संसार में सर्वाधिक धनी अमरीका के रोकफेलर एवं हेनरीफोर्ड भी पहले साधारण स्थिति के ही आदमी थे। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद (व्यक्ति स्वातंत्र्य) के सिद्धान्त ने दुनियां में पूंजीवाद को जन्म दिया और पूंजीवाद से अनेक अनिष्टकर परिणाम निकले, जिनसे मुक्त होने के लिये राजकीय समाजवाद (State Socialism), साम्यवाद एवं राज्य द्वारा नियंत्रित पून्जीवाद आदि आर्थिक संगठनों का कहीं कहीं प्रचलन हुआ। किंतु अमरीका में इनका प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर रहा। सन १९२६-३२ में अत्याधिक सस्ती के कारण एक संसारव्यापी अर्थ संकट आया था जिसके असर से अमरीका भी मुक्त नहीं था। ठीक है उस समय अमरीका के तत्कालीन प्रेजीडेन्ट रुजवेल्ट ने अपनी "न्यूडील" (New Deal) आर्थिक योजना द्वारा व्यक्तिगत आर्थिक क्षेत्र में राज्य की दखलअन्दाजी शुरु की थी और कहीं कहीं राज्य की ओर से भी नये उद्योग शुरु किये गये थे, किंतु उपरोक्त आर्थिक संकट के गुजर जाने के बाद राज की दखलअन्दाजी फिर खत्म होगई। वस्तुतः जैसे पहिले था, वैसे आज भी अमरीका का प्रायः समस्त आर्थिक संगठन व्यक्ति स्वातंत्र्य के ही सिद्धान्त पर स्थित है, किंतु इस संगठन में यह अवश्य ध्यान रक्खा गया है कि समाज में इससे किसी भी जन

को अनुचित हानि तो नहीं पहुंचती । इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं; मानों उद्योग व्यवसाय का काम एक खेल (Game) है; इस खेल को सुचारु रुप से चलाने के लिये सब लोगों की प्रतिनिधि सरकार द्वारा कुछ नियम निर्धारित करलिये गये हैं, जैसे मजदूर नियमित घण्टो के अतिरिक्त काम नहीं करेंगे, अमुक मजदूरी मिलेगी इत्यादि । इन नियमों के अनुसार खेल के दल यथा एक ओर तो उद्योगपति, व्यवसायी आदि, दूसरी ओर मजदूर, उपभोक्ता आदि अपना अपना कान करते जायें। इन नियमों का यह अर्थ नहीं कि सरकार ने उद्योग या व्यवसायों की व्यवस्था अपने हाथ में लेली हो;-नहीं;-व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर ये चलते रहते हैं केवल इनसे संबंधित व्यक्तियों को खेल के नियम पालन करने पड़ते हैं। किसी भी व्यक्ति या दल द्वारा नियमत कोडेजाने पर फैसला करने को न्यायालय हैं, सरकार उसमें दखल नहीं कर सकती। अमरीका ने इसी रास्ते पर चलकर अपनी आशातीत अभूतपूर्व उन्नति की है, वह बड़ा और समृद्ध बना है, अतः अमरीकन लोगों के मानस में अब यह बात पक्की तरह जमगई है कि प्रगति और उन्नति का रास्ता स्वतंत्र उद्योग व्यवसाय (Private Interprise) ही है, जिस प्रकार रुसीयों के मानस में यह बात जमगई है कि प्रगति और उन्नति का रास्ता केवल साम्यवाद है। यही विश्वास भेद दोनों देशों में द्वन्द का कारण भी है। समानता और व्यक्ति

स्वातंत्र्य के आधार पर ही अमरीका का जनतन्त्र (Democracy) में दृढ़ विश्वास बना हुआ है; जहां जनतन्त्र नहीं वहां व्यक्ति स्वातंत्र्य नहीं, वहां चेतन व्यक्तित्व का हनन होता है, अत जनतन्त्र आवश्यक है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर अमरीका का दार्शनिक दृष्टिकोण भी विशेषतया अध्यात्मवादी या आदर्शवादी (Idealist) है। उन लोगों का विश्वास भी, जो दुनियां और जीवन के विषय में कुछ भी सोचते विचारते हैं, अध्यात्मवाद (Idealism) में ही है। अध्यात्मवाद इस अर्थ में कि इस सृष्टि का अंतिम सत्य (Ultimate reality), इसका आदि कारण कोई चेतनशक्ति है न कि कोई अचेतन पदार्थ। किंतु इस दार्शनिक विचारधारा का उन पर यह असर नहीं पड़ता कि वे किन्हीं स्वप्नमय आदर्शों में विचरण करने लग जायें-वे पक्के व्यवहारवादी होते हैं। इसी दुनियां में, इसी जीवन में, क्या है, क्या उपलभ्य है, क्या जीवन में हो सकता है और बन सकता है, यही वे देखते हैं। वे व्यवहारिक आदर्शवादी (Pragmatic Idealists) हैं।

कनाड़ा—जिस प्रकार १६वीं १७वीं शताब्दियों में दक्षिण अमेरिका एवं अमरीका का वह भाग जो आधुनिक संयुक्त राज्य अमरीका है—इनमें यूरोपवासी लोग आकर अपने उपनिवेश बसाने लगे, उसी प्रकार वे लोग उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग में जो अरब कनाड़ा कहलाता है, बसने लगे।

विशेषतया अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग कनाड़ा में बसे । प्रारम्भ में तो कनाड़ा फ्रांस के अधिकार में रहा, किन्तु फ्रांस और इङ्गलैंड के सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-१७६३) के फलस्वरुप फ्रांस को कनाड़ा इङ्गलैंड के हाथ सुपुर्द करना पड़ा। कनाड़ा के उपनिवेश इङ्गलैंड के आधीन रहे।-कई बार यह भी प्रयत्न हुआ कि कनाड़ा इङ्गलैंड से सर्वथा मुक्त हो जाय, कई बार यह भी प्रयत्न हुआ कि संयुक्त राज्य अमरीका में ही कनाड़ा को मिला लिया जाये, किन्तु अन्त में १८६७ में ग्रेट ब्रिटेन ने कनाड़ा को एक औपनिवेशिक राज्य घोषित कर दिया, और तब से आज तक कनाड़ा की यही स्थिति है;—यूरोप से आकर बसे हुए लोगों का वहां स्वशासन है, इङ्गलैंड राज्य का (ब्रिटिश राज्य का) प्रतिनिधि स्वरुप केवल एक गवर्नर जनरल वहां रहता है।

कनाड़ा के आदि निवासी रेड इन्डियन जातियों के लोग हैं; संख्या में अपेक्षाकृत वे बहुत कम हैं । यूरोपीयन लोगों ने वहां पर कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में बहुत उन्नति की है । कनाड़ा गेहूँ का भण्डार कहलाता है और विशेषतया मोटरकार निर्माण के अनेक कारखाने वहां हैं । एक पार्लियामेण्ट और मन्त्री मण्डल द्वारा वहां का शासन होता है-देश में दो भाषायें प्रमुख हैं अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी। अंग्रेज लोग प्राय; प्रोटेस्टेन्ट हैं और फ्रांसीसी कैथोलिक । द्वितीय महायुद्ध में कनाड़ा ने भी मित्र राष्ट्रों की अमरीका के साथ साथ काफी सहायता की और

ऐसा प्रतीत होता है कि इङ्गलैंड, कनाडा, और संयुक्त राष्ट्र अमरीका इन तीनों देशों की विचारधारा एक है, भावना एक है।

दक्षिण अमरीका—में प्रायः सब जगह स्पेनिश लोगों के ही उपनिवेश बसे। नये देशों की खोज की दौड़ में स्पेनिश लोग ही सब से आगे रहे थे और कोल्मबस द्वारा अमरीका की खोज के बाद, सर्व प्रथम स्पेनिश लोग ही इस नई दुनियां में आकर बसे थे। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार एक स्पेनिश नाविक कोर्टेज ने मेक्सिको के आंतरिक भागों का पता लगाया और वहां के सभ्य ऐज्टेक (Aztec) लोगों के राजा को परास्त कर वहां स्पेनिश राज्य कायम किया और फिर वहां से वह मध्य अमरीका की ओर बढ़ा। यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार एक दूसरे स्पेनिश नाविक पीज़ारो ने सन १५३२ ई. में दक्षिण अमरीका का वह भूखण्ड ढूंढा जो आधुनिक पीरु है, और वहाँ पर स्पेनिश बस्तियां बसाई। इसी प्रकार पीज़ारो का एक साथी अलमेग्रो दक्षिण अमरीका के प्रदेश चीली पहुँचा; १५३६ ई. में एक दूसरा स्पेनिश नाविक कोल्मबिया नामक प्रदेश में पहुंचा और वहां बगोटा नगर की जो आज कोल्मबिया की राजधानी है, स्थापना की। १५८० ई. में दक्षिण अमरीका के एक दूसरे प्रदेश अर्जेंनटाइना में ब्यूनिस–आर्यस नगर की स्थापना हुई। १६वीं शती के अन्त तक दक्षिण

अमरीका में स्पेनिश लोग प्रायः दो सौ छोटे मोटे नगर बसा चुके थे। क्या क्या तकलीफें इन लोगों को यह नया महाद्वीप बसाने में पड़ी, किस प्रकार वहां के आदि-निवासी रेड इण्डियन लोगों से इनको मुकाबला करना पड़ा, इत्यादि बातें उत्तर अमरीका का विवरण करते समय लिख आये हैं। कई बार वहां के आदि-निवासियों ने इन नव-आगन्तुक स्पेनिश लोगों के विरुद्ध विरोध भी किये, किन्तु वे सब दबा दिये गए। उत्तर अमरीका में तो यह प्रयत्न भी किया गया था कि रेड इण्डियन लोगों की नस्ल को ही खत्म कर दिया जाये, किन्तु यह संभव नहीं हो सका। दक्षिण अमरीका में धीरे धीरे अनेक स्पेनिश लोगों के आकर बस जाने से एक दृष्टि से यह देश दूसरा विशाल स्पेनिश प्रदेश ही बन गया,-वही स्पेनिश भाषा, वही स्पेनिश स्थापत्य-कला, वही स्पेनिश शासन व्यवस्था, और वही स्पेनिश रोमन कैथोलिक धर्म। जो स्पेनिश लोग दक्षिण अमरीका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट से एक आज्ञापत्र लेकर ही अमरीका आते थे इसका अर्थ था कि जो स्पेनिश लोग अमरीका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट की प्रजा थे। अतः उन पर शासन कायम रखने के लिए स्पेन का सम्राट एक वायसराय नियुक्त करके अमरीका के उपनिवेशों में भेजा करता था। धीरे धीरे वे स्पेनवासी जो अमरीका जाकर बस गये थे और अब अमरीका ही जिनका घर हो गया था,—उनकी दो तीन पीढियों

बाद, उनमें और स्पेन में बसने वाले स्पेनिश लोगों में कुछ अन्तर पड़ गया था। किन्तु फिर भी स्पेन के सम्राट का उन उपनिवेशों पर पूरा आधिपत्य था और उनके व्यापार पर भी पूरा नियन्त्रण। मुख्य व्यापार यही था कि पीरु और मैक्सिको की खानों से सोना, चांदी स्पेन जाता था और जो खदानों के प्रदेश नहीं थे, वहां धीरे धीरे कृषि का विकास किया जा रहा था, और वहां से खाद्यान्न का निर्यात किया जाता था।

जब कि स्पेनवासी मैक्सिको, पीरु, अर्जेन्टाइना, चिली इत्यादि प्रदेशों का विकास कर रहे थे उस समय सन् १५०० ई. में एक पुर्तगीज़ नाविक ने ब्राजिल की खोज की। उसी प्रदेश में धीरे धीरे पुर्तगीज़ लोग आकर बसे; धीरे धीरे उन्होंने अपने कस्बे बसाये। १५६७ ई. में उन्होंने ब्राजिल की राजधानी राइडे-जेनेरो (Riodejaneiro) की स्थापना की। ब्राजिल में गन्ने की खूब खेती होती थी, उसी काम में पुर्तगीज़ लगे, मजदूरी का काम करने के लिये अफ्रीका के नीग्रो गुलाम खरीद लिये जाते थे। रेड इन्डियन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था वे मजदूरी नहीं कर सकते थे, वे धीरे धीरे कम होते जा रहे थे। बाद में वहां सोने और हीरे की खानों का भी पता लगा और उनके व्यापार से पुर्तगाल एक बहुत धनी देश बन गया। ब्राजिल एक विशाल प्रदेश है, संयुक्त राज्य अमरीका से भी बड़ा, किंतु

अभी तक वह बहुत हद तक अविकसित और अनन्वेषित (Unexplored) पड़ा है। दक्षिण अमरीका के उपनिवेशों में उपनिवेश वासियों की संख्या धीरे धीरे बढ़ती हुई जा रही थी। यूरोपवासी जहां १६०० ई. में सारे उपनिवेशों में लगभग ५० लाख होंगे। सन् १८०० ई. तक उनकी संख्या लगभग डेढ़ करोड़ हो गई। ये लोग स्पेन के सम्राटों द्वारा लगाये गये करों से असन्तुष्ट होते जा रहे थे, स्पेन से जो वायसराय और वायसराय के साथ अनेक अन्य शासक और कर्मचारी लोग आते थे, उनसे भी असंतुष्ट होते हुए जा रहे थे। स्वतन्त्रता के विचार और भावनायें धीरे धीरे उनमें फैल रहीं थी; इन विचारों की हवा उत्तर अमरीका से आ रही थी जहां के उपनिवेशों ने ब्रिटेन के खिलाफ स्वतन्त्रता का युद्ध जीता था; और फिर ऐसे ही विचार फ्रांस की राज्य क्रांति से उनके पास पहुँचते रहते थे, यद्यपि शासक इस बात का प्रयत्न करते रहते थे कि स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचार उनके पास न पहुंचे। उत्तर अमरीका की तरह दक्षिण अमरीका में भी उपनिवेश वासियों ने स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ किया। यह खटपट प्रायः १६ वीं शती के आरम्भ से होने लगी। लगभग २० वर्ष तक किसी रूप में यह युद्ध चलता रहा और अन्त में सन १८२४ ई. में दक्षिण अमरीका के उपनिवेश स्पेनिश शासन से मुक्त हुए। अमरीका में तीन सौ वर्ष पुराना स्पेनिश साम्राज्य

समाप्त हुआ। किन्तु साथ ही साथ एक बात हुई;—स्पेनिश शासन के अधिकार में तो सब उपनिवेश एक ही राज्य के रुप में संगठित थे किन्तु वह शासन हटने के बाद उस विशाल राज्य में से कई भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए, जैसे मैक्सिको, पीरु, चिली, अर्जेंन्टाइना, यूरेग्वे, कोलम्बिया, बोलिविया, इत्यादि। पुर्तगीज़ उपनीवेश ब्राजिल भी लगभग इसी समय स्वतन्त्र हुआ। इन सब नवोत्पन्न राज्यों में अध्यक्षात्मक जनतन्त्र शासन (Republic) कायम हुए-जो अब तक चले आ रहे हैं।

छोटे बड़े मिलाकर ये कुल १२ राज्य हैं जिनमें ब्राजिल सबसे बड़ा है, उससे छोटा अर्जनटाइना जो क्षेत्रफल में ग्रेट ब्रिटेन से लगभग १२ गुना बड़ा है। सब से छोटा राज्य हेटी है, जो बेलजियम जितना बड़ा भी नहीं है। अर्जेन्टाइना, चिली, यूरुग्वे, कोस्टेरिका की आबादी प्रायः यूरोपीयन वंशजों की है (अधिकतर स्पेनिश), कुछ राज्यों में जैसे मैक्सिको, पीरू, बोलविया, पराग्वे, ग्वेटमाला में अधिक संख्या वहां के आदि निवासी रेड इन्डियन्स की है, कुछ राज्यों में जैसे कोल्मबिया में यूरोपीयन और रेड इंडियन लोगों की वर्णसंकर, मिली जुली आबादी है। ब्राजिल में यूरोप के प्रायः अनेक देशों के वासी रहते हैं-जैसे अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगीज, इटालियन,

जर्मन, स्केन्डिनेवियन इत्यादि एवं नीग्रो । इन सब राज्यों में अर्जेन्टाइना ही विशेष विकसित और समृद्ध है । वैसे सभी राज्यों में अभी विकास होने की बहुत गुजांइश है । यद्यपि १६ वीं सदी के अंत में वहां रेल, तार, डाक स्थापित होने लगे थे, किन्तु वे बहुधा समुद्र तटीय भागों तक सीमित हैं, देश के दूर आंतरिक भाग अभी पहुंचने बाकी हैं । इनमें से कोई भी देश अभी तक विकास और उन्नति की उस स्थिति तक बिल्कुल नहीं पहुंच पाया है जहां तक कनाडा पहुंच चुका है, संयुक्त राज्य अमरीका तो दूर रहा। दक्षिण अमरीका के ये सब राज्य लेटिन अमेरिका कहलाते हैं, क्योंकि उनमें लेटिन अर्थात् रोमन कैथोलिक धर्म विशेष प्रचलित है; प्रायः समस्त देशों की प्रचलित भाषा स्पेनिश हैं। ये देश अभीतक विशेषतः खेतीहर हैं-भेड़ और पशुपालन भी लोग करते हैं, अतः इनका आर्थिक जीवन तेल, काफी, शक्कर, मांस, अन्न, ऊन, चमड़ा इत्यादि के निर्यात व्यापार पर आधारित है । लोहा, कोयला, धातु की खदानें भी इन देशों में बहुत हैं, अतः बहुत सी आबादी खदानों के काम में भी लगी हुई है। अभी तक भूमि के बड़े बड़े भागों के मालिक जमींदार है, साधारण जनता यथा-किसान, मजदूर, भेड़ पालने वाले इत्यादि गरीब एवं अरक्षित हैं-जिनमें इन देशों के आदि निवासी और यूरोपीयन (स्पेनिश) सभी हैं। इन देशों में किन्हीं किन्हीं में समाजवादी हलचल भी

चलती रहती है. किन्तु आर्थिक संगठन अभी प्राय: व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर ही है। प्रथम महायुद्ध तक तो इन देशों का संसार की राजनीति में कोई विशेष महत्व नहीं हो पाया था। द्वितीय महायुद्ध में यद्यपि ये लड़ाई के मैदान में नहीं आये किन्तु इन सब की सहानुभूति (संयुक्त राज्य) अमरीका के साथ ही रही। आज सभी देश राष्ट्र संघ के सदस्य है। एवं राष्ट्र संघ के मामलों में अधिक सक्रिय भाग लेने लगे हैं।

अफ्रीका—सन् १८५० ई. तक मिश्र और कुछ तटीय प्रदेशों को छोड़ कर समस्त अफ्रीका दुनियां में अज्ञात था। तब तक यह अन्धेरे में पड़ा था। यहां के तटीय प्रदेशों से निःसंदेह १७वीं शती से ही डच, स्पेनिश नाविक काले हब्शी लोगों को पकड़ पकड़ कर ले जाते थे, और उनको गुलाम की हैसियत से इङ्गलैंड, अमरीका में बेच देते थे। किन्तु इस सम्पर्क को छोड़कर अफ्रीका की और कोई भी बात शेष दुनियां को मालूम नहीं थी–अफ्रीका का कुछ भी ज्ञान किसी को नहीं था। कई साहसी यात्री अफ्रीका के बीच तक यात्रा कर आये थे और उन्होंने वहां के अद्भुत अद्भुत विवरण प्रकाशित किये थे। इन्हीं से प्रेरित होकर यूरोपीय देशों के लोग अफ्रीका में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घुसने लगे। अफ्रीका एक बड़ा महाद्वीप है। उसके भिन्न भिन्न भागों में सैकड़ों समूहगत जातियां (Tribes)

के काले असभ्य हब्शी लोग, पिग्मी लोग इत्यादि बसे हुए थे। अनेक भिन्न भिन्न भाषायें ये बोलते थे । जैसा आस्ट्रेलिया के विवरण में कह आये हैं वैसे ही ये लोग प्राय: अर्ध नग्न रहते थे और शिकार करके अपना पेट भरते थे। कहीं कहीं ऐसी भी जातियां थीं जो मनुष्य को मारकर ही खाती थीं। अजीब देवी-देवताओं की पूजा करते थे, जादू टोना में इनका विश्वास था। ये किसी भी प्रकार का लिखना पढ़ना नहीं जानते थे;—लिखना पढ़ना भी कुछ होता है, यह भी ज्ञान इन्हें नहीं था । या तो ये लोग जंगलों, गुहाओं में रहते थे, या कहीं कहीं गांव भी बसे हुए थे—गांवों में सिर्फ झोंपड़ियां होती थीं।

ऐसे विशाल अज्ञात महाद्वीप में यूरोपीयन लोगों ने १८५० में आना शुरु किया और भिन्न भिन्न भागों में अपना अधिकार जमाना शुरु किया । केवल ५० वर्षों में सारे महाद्वीप की भौगोलिक बातों का पता लगा लिया गया और सन् १९०० ई. तक यह सारा का सारा देश यूरोप के भिन्न भिन्न देशों के अधिकार में आ गया। यूरोपीय जातियों में इस देश के बंटवारे में अनेक झगड़े हुए—कई युद्ध भी हुए जो सब बेइमानी और दगाबाजी के आधार पर लड़े गये, केवल इसी उद्देश्य से कि अधिकाधिक भूमि प्रत्येक देश अपने अधिकार में कर ले। पश्चिमी किनारे पर लाइबेरिया एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर

जहां मुक्त हब्शी लोग बस गये थे; उत्तर में एक छोटे से प्रदेश मोरक्को को छोड़कर जहां एक अरबी मुसलमान सुल्तान का राज्य रहा और पूर्व में अबीसीनिया प्रदेश को छोड़कर जहां का राज्य वहीं के आदि निवासी जाति का है, किंतु जो पुराने जमाने से ही ईसाई हो गया था:—इन तीन प्रांतों को छोड़कर सारा अफ्रीका यूरोपीयन लोगों के आधीन हो गया। अब भी अफ्रीका में जनसंख्या की दृष्टि से वहां के आदि निवासी यूरोपीयन लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। आजकल वहां के आदि निवासी खेतों में, खदानों में मजदूरी का काम करते हैं। धीरे धीरे अनेक उनमें से ईसाई बन गये हैं, उनमें धीरे धीरे सभ्यता और शिक्षा का प्रचार हो रहा है और यह भावना पैदा हो रही है कि यूरोपीयन जातियों का शासन उन पर से हटे।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पहिले दुनियां पर एक दृष्टी

यूरोप:—१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप की दुनियां में एक नई प्रकार की चीज पैदा हो गई थी; वह थी साम्राज्य-वाद। यूरोप में यांत्रिक क्रांति के फलस्वरुप वस्तुओं के उत्पादन के ढङ्ग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका था, और मशीन की

सहायता से एक मनुष्य एक ही दिन में इतना कपड़ा या इतनी कोई अन्य आवश्यक वस्तु पैदा कर सकता था जितना यांत्रिक क्रान्ति के पूर्व सौ आदमी भी नहीं कर सकते थे अतः उन देशों में जिनमें यांत्रिक उद्योगों का विकास हुआ, वस्तुओं का खूब उत्पादन होता था। इन बड़े बड़े उद्योगों के मालिक कुछ थोड़े से ही व्यक्ति हुआ करते थे जिनके पास लाखों करोड़ों की सम्पत्ति एकत्रित हो गई थी। इन उद्योगों में हर प्रकार की चीजें पैदा होती थीं जैसे कपड़े के सिवाय रेलगाड़ियां, एंजिन, मोटर, रेल की लाइनें, बाइसिकल, हर प्रकार के औजार, लोहे की हर प्रकार की वस्तुयें-छोटी से लेकर बड़ी तक-दुनियां में विरली ही ऐसी कोई चीज हो जो इनमें पैदा नहीं होती हो। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि कारखानों के मालिकों का कितना जबरदस्त प्रभुत्व समाज के आर्थिक जीवन पर था। जब बेशुमार चीजें पैदा हो रही थीं उनको खरीदने के लिये भी तो कोई चाहिये था। विशाल एशिया और अफ्रीका की जनता पड़ी थी जो उन चीजों को खरीदती। एशिया, अफ्रीका में अपनी बढ़ती हुई चीजों के लिये स्थाई बाजार मिलें यही यूरोप के औद्योगिक देशों की कोशिश थी। उद्योग की दृष्टि से इस समय यूरोप में तीन ही प्रधान देश थे यथा इङ्गलैंड, फ्रांस व जर्मनी, जिनमें पुराने जमाने से परस्पर विरोध केवल इसी बात पर चला आता था कि यूरोप में अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने की दौड़ में कोई एक

दूसरे से आगे न निकल जाए। १९वीं शती में इङ्गलैंड ने अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में अनेक उपनिवेश और राज्य स्थापित कर लिये थे, वह मानो तमाम दुनियां का साहूकार हो। इङ्गलैंड की आकाँक्षा यहीं समाप्त नहीं हो चुकी थी, वह चाहता था कि और भी राज्य और दुनिया के देश उसके आधीन हों। यूरोप के दूसरे देश इसलिये इङ्गलैंड से द्वेष रखने लग गये थे। रूस का विस्तार पश्चिम में बाल्टिक समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक हो चुका था, उसकी सीमायें भारत, चीन, ईरान से लगती थीं—इङ्गलैंड को यह खतरा रहता था कि कहीं रूस भारत पर आक्रमण न कर दे। रूस की पूर्व में बढ़ती हुई शक्ति की टक्कर १९०४–५ में जापान से हुई, उसमें रूस की पराजय हुई; फलतः रूस मंचूरिया की ओर आगे नहीं बढ़ सका किन्तु भारत पर उसकी तलवार लटकती ही रही।

फ्रांस को भी अपने साम्राज्यवादी विस्तार का अवसर मिला था, उसके भी कई उपनिवेश और राज्य अफ्रीका और एशिया में स्थापित हो चुके थे।

इस दौड़ में यूरोप की तीसरी महान् शक्ति जर्मनी पीछे रह गई। एक तो जर्मनी का एकीकरण और उत्थान ही देर से हुआ, यथा १८७० ई. में, और तभी वहां के मन्त्री बिसमार्क की

प्रबल राष्ट्रीय उद्भावनाओं से जर्मनी तरक्की करने लगा। थोड़े से वर्षों में उसका उद्योग, उसका जीवन, उसकी सैन्य शक्ति इतनी पूर्ण कुशल ढङ्ग से व्यवस्थित और संगठित हो गई कि दुनियां के लिये वह एक चमत्कारिक वस्तु थी। अब जर्मनी, जहां के यांत्रिक उद्योग विकसित थे, जहां की सेना मशीनों द्वारा पैदा किये गये, आधुनिक अस्त्र शस्त्र जैसे राइफल, पिस्तौल, बम, डिनेमाइट, मशीन गन इत्यादि से सुसज्जित थी,—कब पीछे रह सकता था। उसके दिल में यह खयाल पैदा हो चुका था कि जर्मन जाति उच्च जाति है और दुनियां में उसका भी साम्राज्य, और उसके भी माल के लिये बाजार होना चाहिए। अफ्रीका में दक्षिण-पश्चिम में एवं पूर्व तट पर कुछ प्रदेश उसके हाथ आ गये थे किन्तु उसके लिये वे बहुत छोटे थे;—बाकी दुनियां में और कहीं उसके लिए जगह नहीं छूटी थी।

वास्तव में १९वीं २०वीं शतियों में पश्चिमी यूरोप के लोगों में यथा अंग्रेज, फ्रांसीसी और जर्मन लोगों में एक यह भावना पैदा हो गई थी कि मानों ये गौर वर्ण की जाति के लोग शेष समस्त दुनियां में राज्य करने के लिये ही, और काले लोगों को सभ्य बनाने के लिये ही पैदा हुए हैं। उपरोक्त आर्थिक शोषण के अतिरिक्त साम्राज्यवाद की यह एक दूसरी विशेषता थी। इनके साम्राज्यों का पंजा कहां तक फैल चुका था यह ऊपर वर्णन किया ही जा चुका है।

संयुक्त राज्य अमेरीका भी काफी उन्नति कर चुका था और काफी शक्तिशाली हो गया था किन्तु उसका क्षेत्र अभी तक अपनी सीमा तक ही महदूद था। दक्षिण अमेरीका के जनतन्त्र राज्यों ने मानो अभी जीवन प्रारम्भ ही किया था, वे धीरे धीरे उभर रहे थे। ऐसी स्थिति में वे अभी तक नहीं आ पाये थे कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय हलचल में महत्वपूर्ण क्रियात्मक खटपटी पैदा कर सकते।

"पूर्वी समस्या":- यह तो हाल पच्छिमी यूरोप का था-यथा साम्राज्य विस्तार के लिये परस्पर प्रतिस्पर्धा और उस प्रतिस्पर्धा में सफल होने के लिये एवं एक दूसरे को दबाने के लिये तीव्र गति से युद्ध के लिये तैयारियां। पूर्वीय यूरोप में एक दूसरी ही हालत थी-एक दूसरी ही समस्या। १५ वीं शताब्दी में समस्त बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य स्थापित था। तुर्की साम्राज्य तीन महाद्वीपों को मिला था- यूरोप, एशिया और अफ्रीका। यदि तुर्क लोगों में नव जागृति पैदा हो जाती, पच्छिम यूरोप से सम्पर्क रखकर वे भी ज्ञान-विज्ञान और व्यापार की प्रगति से जानकारी रखते और स्वयं प्रयत्नशील रहते तो उनके लिये एक बहुत जबरदस्त अवसर था कि उनका टर्की एक शक्तिशाली और उन्नत राज्य बन जाता। किन्तु इस बड़े साम्राज्य में सुल्तान अपने मध्ययुगीय अन्धे रास्तों पर चलते रहे, अपने मजहबी रस्म रिवाजों में फंसे रहे, अपनी शान शौकत, आराम-ऐश में ही दिन बिताते

रहे। साथ ही साथ फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद बाल्कन प्रायद्वीप के ईसाई देशों में यथा यूनान, रूमानिया, सरविया, बलगेरिया, मोटीनिगरो इत्यादि में राष्ट्रीय भावना की लहर पैदा हो चुकी थी और वे तुर्की उस्मानी साम्राज्य से पृथक हो स्वतन्त्र बनना चाहते थे। अतः उन्होंने टर्की के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिये थे। इन विद्रोहों का जोर १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खूब बढ़ा। इसी समय टर्की के ऊपर एक दूसरी जबरदस्त आफत मंडरा रही थी। वह था रूस का फैलता हुआ पंजा। रूस के जार की नजर टर्की की राजधानी कुस्तुनतुनियां पर थी। रूस समझता था कि यदि कुस्तुनतुनियां उसके हाथ आ गया, तो उसका काले सागर पर अधिकार हो जायगा और वह अपनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ा सकेगा। इसलिये रूस ने कई बार टर्की पर हमला किया। एक बात मजे की देखिये। तुर्क लोग ईसाई प्रजा पर घोर अत्याचार किया करते थे इससे यूरोप के सभी ईसाई देश इङ्गलेंड, फ्रांस और आस्ट्रिया भी उससे नाराज हो गये। किन्तु रूस ने जब टर्की पर हमला किया तो इङ्गलेंड और आस्ट्रिया रूस के खिलाफ टर्की की मदद करने के लिये खड़े हो गये। इसका केवल यही एक उद्देश्य था कि कहीं रूस की शक्ति बढ़ न जाए। १८५४ ई. में रूस ने टर्की पर चढ़ाई की, इङ्गलेंड की फौजें तुरन्त टर्की की मदद करने के लिये आई और रूस को काले सागर के उत्तर में क्रीमीया

प्रान्त में रोक दिया: इससे टर्की का बचाव हो गया। यह क्रीमियां का युद्ध था जहां सबसे पहिले शिक्षित मध्य वर्ग की महिला इङ्गलेंड की फ्लोरेंस नाइटिंगेल जख्मी पीड़ितों की सहायता करने के लिये उपचारिका (Nurse) बनकर गई थी, इसी एक बात ने पश्चिम के सामाजिक जीवन में एक क्रांति पैदा कर दी। वस्तुत: स्त्रियों की स्वतन्त्रता और उन्नति में यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

किन्तु रूस अपनी टकटकी लगाये हुए था और फिर १८७७ ई. में उसने टर्की पर हमला कर दिया और उसको हरा दिया। किन्तु फिर यूरोप की दूसरी शक्तियां इसी उद्देश्य एवं द्वेष भाव से कि कहीं कोई देश अपेक्षाकृत आगे नहीं बढ़ जाये, बीच बचाव में पड़ीं। १८७८ ई. में बर्लिन में इन शक्तियों का टर्की के प्रश्न को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें यूरोप के तत्कालीन बड़े बड़े राजनैतिज्ञ जैसे जर्मनी के बिसमार्क, ईङ्गलेंड के डिजरेली इत्यादि शामिल थे। बर्लिन में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार बल्गेरिया, सर्बिया, रोमानिया और मोंटीनीग्रो तुर्की साम्राज्य से पृथक होकर स्वतन्त्र हुए-किन्तु टर्की को फिर बचा लिया गया, टर्की के अधिकार में आड्रियाटिक सागर से कालासागर तक के प्रदेश छोड़ दिये गये।

किन्तु १९१२ ई. में अब की बार बाल्कन प्रायद्वीपों ने स्वयं टर्की को बिल्कुल उखाड़ फेंकने का इरादा किया-टर्की की

हार हुई-सिवाय कुस्तुनतुनिया और ऐड्रिआनोपल नगरों के उसके पास कुछ नहीं बचा। इस प्रकार लगभग ४५० वर्ष पुराना यूरोप का तुर्की साम्राज्य खत्म हुआ-यूरोप में वह एक छोटा सा राज्य रह गया ।

पूर्वीय यूरोपः- यूरोप में टर्की साम्राज्य समाप्त हो चुका था। बाल्कान प्रायद्वीपों के देश स्वतंत्र होचुके थे किंतु ये छोटे छोटे देश भी परस्पर द्वेष रखते थे और यह भावना रखते थे कि एक दूसरे को दबाकर स्वयं शक्तिशाली बन जाए। ये सभी देश आर्थिक एवं उद्योग की दृष्टि से अविकसित थे। इनके जीवन पर एशियाई प्रभाव अधिक और पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव कम। भिन्न भिन्न छोटी छोटी जातियों और भिन्न भिन्न भाषाओं के ये प्रदेश थे, गो कि धर्म इन सबका ईसाई था (प्राचीन ग्रीक चर्च)। इन बाल्कन प्रदेशों में दो बड़े राष्ट्रों के यथा रूस और आस्ट्रिया के हित आकर टकराते थे। रूस चाहता था और वह यह घोषणा भी करता था कि स्लैव जाति और भाषा-भाषी बाल्कन प्रदेशों की रक्षा और जीवन का भार उस पर है। उधर आस्ट्रिया चाहता था कि जितने भी प्रदेशों पर वह कब्जा कर सके उतना ही ठीक, पच्छिम की तरफ तो उसके लिये बढ़ने को रास्ता था नहीं। इस प्रकार यूरोप के सभी शक्तिशाली राष्ट्रों के लिये (इङ्गलेंड, फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी एवं रूस के लिये) बाल्कन देश तनातनी का कारण बने हुए थे।

१९१४ ई. में यह तो यूरोप और अमरिका की राजनैतिक अवस्था थी। प्रत्येक देशों में जन-सत्तात्मक शासन प्रणाली थी, किंतु इस जन सत्ता और जनतन्त्र के सिद्धान्त का ये पाश्चात् देश अपने आधीन देशों में पालन नहीं करते थे वहां इनका सिद्धान्त आतंकवादी साम्राज्यवाद था। पाश्चात्य देशों के लोग अपने व्यक्तिगत जीवन में, अपने सामाजिक जीवन में प्रायः सच्चे, इमानदार, स्पष्ट और सहानुभूतीपूर्ण थे। किन्तु जहां एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध आ जाता था वहां ये ही लोग बेइमान, आतंकवादी और घोर पाखंडी बन जाते थे—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में झूठ और दगाबाजी में जो बाजी लेजाता था वही कुशल और सफल समझा जाता था। इन देशों में आर्थिक क्षेत्र में इस समय पूंजीवाद का प्रचलन था—आर्थिक शक्ति, उद्योगपतियों, कारखानेदारों एवं बैंक के मालिकों में निहित थी। प्रायः सभी देश (रूस और पूर्वी यूरोप को छोड़कर) यांत्रिक उद्योग में उन्नत थे, और जो देश इस दिशा में उन्नत नहीं थे वे भी गति तो इसी ओर कर रहे थे। कहीं कहीं मध्य युगीय सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी, विशेषतया रूस में। उपरोक्त पूंजीवादी उद्योग ने समाज में एक नया तत्व एवं एक नया वर्ग पैदा कर दिया था। वह नया तत्व था समाजवाद और नया वर्ग मजदूर वर्ग। इसका विशेष विवरण अन्यत्र हो चुका है। उद्योगपतियों के लालच और स्वार्थ

भावना से पिसकर मजदूर वर्ग का जीवन अमानवीय और यातना पूर्ण हो चुका था। उनकी हालत में सुधार के लिये अनेक हलचलें हुई थीं किन्तु फिर भी बीसवीं शती के प्रारम्भ में पूंजीपति कारखाने वालों में, मध्य वर्ग और मजदूर वर्ग में संघर्षात्मक भावनायें जोर पकड़े हुई थीं। प्रत्येक देश में ऐसी संघर्षात्मक दशा थी, कहीं ज्यादा कहीं कम; उदाहरण स्वरूप अमेरिका में कम जहां प्राकृतिक धन और सुविधायें अधिक थी और जन संख्या कम; इङ्गलेंड में भी कम जहां साम्राज्यवाद की लूट का कुछ धन मजदूरों के हाथ भी लगता था; अपेक्षाकृत फ्रांस, रूस और जर्मनी में अधिक। इन देशों में तो उपरोक्त संघर्षात्मक भावना यहां तक बढ़ गई थी कि कोई कोई यह कहने लगे थे कि मजदूर का हित राष्ट्र हित से भी बढ़कर है।

एशिया–२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एशिया का विशाल महाद्वीप प्रायः सारा का सारा यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा पदाक्रांत था। नाम मात्र को, कह सकते हैं कि, अफगानिस्तान, ईरान, चीन, जापान और स्याम एशिया के स्वतन्त्र देश थे, किन्तु वस्तुतः ये देश अकेले जापान को छोड़कर किसी न किसी रूप में यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त नहीं थे। चीन में अंग्रेजी, फ्रांसीसी एवं जर्मनी आर्थिक हित कायम होरहे थे, अफगानिस्तान से इङ्गलैंड जो कुछ चाहता करवा सकता था,

और ईरान पर भी इंगलैंड एवं रूस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जोर था, स्याम भी फ्रांसीसी या अंग्रेजी लोगों की मरजी से ही मुक्त था।

बात यह है कि १६वीं १७वीं शताब्दी से जब यूरोप में एक नव जागृति पैदा हुई थी, वहां के लोग प्रकृति और दुनियां की खोज में जुट गये थे, अपने पुराने अन्ध-विश्वासों, रीति रस्मों को छोड़ मानसिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होने लगे थे, नये विचार, नई भावनायें, सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में नये नये परीक्षण, वैज्ञानिक अविष्कार एवं यांत्रिक उद्योगों ने यूरोप में एक नया संसार एक नया मानव पैदा कर दिया था। यूरोप में जब यह होरहा था तब एशिया सोता रहा। एशिया में प्रायः बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भी नवजीवन का प्रकाश नहीं आया, नई हलचल की गति नहीं आई, वह अपने मध्ययुगीय विचार और विश्वासों में, और आलस में डूबा रहा। साधारणतया यह एशिया की हालत थी।

जापान—एशिया में केवल यही एक ऐसा देश था जो यूरोप को समझ चुका था और यूरोप के ही अस्त्रों से तथा यन्त्र उद्योग और साम्राज्यवाद से, यूरोप से टक्कर लेने को तैयार था। यहां वालों ने अपने देश में अभूतपूर्व औद्योगिक उन्नति करली थी, सैनिक दृष्टि से अपने आपको शक्तिशाली बना लिया था, सन् १९०५-६ में यूरोप के विशाल देश रूस से टक्कर

लेकर उसको परास्त कर चुका था और यूरोप के दिल पर अपनी शक्ति की छाप बैठा चुका था। कोरिया को अपने साम्राज्य का अंग बना चुका था और मंचूरिया पर उसकी आंखें गड़ी हुईं थीं। जापान का सम्राट हिरोहितो अपनी एकाधिपत्य सत्ता द्वारा एक नाम मात्र की पार्लियामेन्ट की सलाह से यह सब कुछ कर रहा था।

चीन—कई शताब्दियों से मंचु सम्राटों की परम्परा चली आ रही थी। सन् १९१२ में जनतन्त्रात्मक क्रांति हुई। पुरानी मंचु सम्राटशाही खत्म की गई और डा० सनयातसन क्रांति का नेता, चीन जनतन्त्र का प्रथम अध्यक्ष बना। पुरानी, मध्ययुगीय सामन्तवादी, सम्राटशाही की जगह एक आधुनिक जनतन्त्रात्मक शासन की स्थापना तो हो चुकी थी किन्तु इस शासन की केन्द्रीय शक्ति अभी जम नहीं पाई थी, यह अभी बहुत कमजोर थी। वास्तव में चीन का महादेश अनेक योद्धा सामन्ती सरदारों के भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त था और वे अब तक केन्द्रीय प्रजातन्त्र के अंकुश को बिल्कुल मान्यता नहीं देते थे। कई वर्षों तक चीन की ऐसी ही स्थिति बनी रही। डा० सनयातसन के नेतृत्व में नानकिंग में एक नियमित जनतन्त्रात्मक सरकार कायम रही, और वह कोशिश करती रही कि किसी प्रकार सामन्ती सरदारों का अन्त होकर समस्त चीन एक केन्द्रीय शक्तिशाली शासन के आधीन हो।

भारत–यह विशाल सभ्य धनी देश अंग्रेजी साम्राज्य का अंग था। धीरे धीरे राष्ट्रीयता की भावना यहाँ के लोगों में पैदा होने लगी थी। आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान की ओर भी यह देश सचेत होने लगा था।

लंका, मलाया (सिंगापुर), उत्तरी बोर्नियो, पश्चिमी न्युगिनी–के ये सब धनी, उपजाऊ देश या द्वीप अंग्रेजी साम्राज्य के अंग थे।

सुमात्रा, जावा, बोर्नियो एवं अन्य पूर्वी द्वीप समूहः–मसाले, रबर, चीनी और पेट्रोल तेल के भण्डार ये द्वीप डच (होलेण्ड) साम्राज्य के अंग थे।

हिन्द चीन—फ्रांस साम्राज्य का अंग था।

फिलीपाइन द्वीप समूह—अमेरिकन साम्राज्य के अंग थे।

अफगानिस्तान—में स्वतन्त्र अफगानी बादशाह एवं ईरान में स्वतन्त्र ईरानी शाह राज्य कर रहे थे।

अरब, ईराक, फीलीस्तीन, सीरीया, एशिया-माइनर—इत्यादि समस्त मध्य पूर्वीय देश कई शदियों से विशाल तुर्की साम्राज्य के अंग थे।

समस्त उत्तरी एशिया अर्थात साइबेरिया—यूरोपीय रुस साम्राज्य का अंग था।

भारत, चीन, जापान, मंचूरिया को छोड़ यातायात के आधुनिक साधनों का अर्थात् रेल, तार, डाक का विकास अभी अन्य एशियाई प्रदेशों में नहीं हो पाया था, इन एशियाई देशों में कृषि एवं जीवन के साधन प्रायः आदि कालीन थे। शासन में परिवर्तन होते रहते थे किन्तु साधारण दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया था।

अफ्रीका—समस्त महाद्वीप पर भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य था। अफ्रीका के आदिनिवासियों की भिन्न भिन्न जातियां सब अब तक असभ्य स्थिति में थीं।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे। यहां के आदि निवासियों की भी हालत अब तक असभ्य थी।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८)

सन् १९१४ में एक महायुद्ध हुआ–ऐसा महायुद्ध जैसा भयंकर और भीषण जैसा मानव इतिहास में पहिले कभी नहीं हुआ था। यह महायुद्ध होने के पहिले दुनियां के इतिहास का एक युग समाप्त होता है। युद्ध प्रारम्भ होने के पहिले दुनियां की क्या हालत थी, इसका सिंहावलोकन हम कर आये हैं। यूरोप की दशा का जब हम अध्ययन कर रहे थे तब मालूम हुआ होगा कि वहां का तमाम वातावरण ऐसा बना हुआ था

कि जिसमें युद्ध अनिवार्य था। मानव इतिहास में पहले अनेक युद्ध हुए थे, उन सबकी भिड़न्त और मारकाट केवल युद्ध क्षेत्र में सिपाहियों तक ही सीमित रहती थी। किन्तु बीसवीं शताब्दी में युद्ध के नये तरीके, अद्भुत अस्त्र शस्त्र, मानव के हाथ लगे थे जिनमें केवल सिपाहियों का ही विनाश नहीं होता था किन्तु युद्ध क्षेत्र में बहुत दूर साधारण जनता का भी भयंकर अनिष्ट किया जा सकता था, और गांवों के जीवन को उखाड़ा जा सकता था।

युद्ध के कारण—इस युद्ध के जड़ में तो थी यूरोप के प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्रों के दिल में एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना। उस द्वेष का कारण था इन राष्ट्रों की साम्राज्यवाद के विस्तार की महत्वाकांक्षा। इङ्गलैंड तो इतने उपनिवेश अपने कब्जे में कर गया, फ्रांस ने भी देश हथियाये, अब जर्मनी क्यों पीछे रहने वाला था। जर्मनी ने कुछ ही वर्षों में अद्भुत औद्योगिक उन्नति की थी, अपने आपको एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया था और वह समझने लगा था कि वह सर्वाधिक योग्य है, सब से अधिक श्रेष्ठ; राष्ट्र के जन जन में यह भावना भर गई थी और उनके दिल में यह स्वप्न घर कर गया था कि जर्मनी संसार का अधिपति होगा। सचमुच अद्वितीय संगठन शक्ति, अनुशासन और कार्य कुशलता उन लोगों में थी। तेजी से उनके शस्त्रों, उनकी सेनाओं एवं उनके जहाजों में वृद्धि हो रही थी।

आखिर कहीं तो उनका प्रयोग होता ! जर्मनी ने टर्की से मिलकर यह भी तय कर लिया था कि जर्मनी की राजधानी बर्लिन से पच्छिमी मध्य एशिया के प्रमुख नगर बगदाद तक एक रेलवे बनेगी । इसने इङ्गलैंड को डरा दिया कि कहीं उधर से उसकी 'सोने की चिड़ियां' भारत पर ही हमला नहीं होजाये । जर्मनी की देखा देखी इङ्गलैंड और फ्रांस भी इसी शस्त्रीकरण में लग गये। बालकन देशों में अभी युद्ध समाप्त ही हुए थे । किंतु उनके बाद भी सर्बिया, जिसके पक्ष में रूस था, अपनी सीमाओं को बढ़ा रहा था । आस्ट्रिया इस बात को सहन नहीं कर सकता था, क्योंकि सर्बिया के विस्तार में उसे यह स्पष्ट दिखलाई दे रहा था कि उससे रूस की शक्ति में अभिवृद्धि हो रही है । आखिर यूरोप की परम्परा के अनुसार यूरोप की शक्तियों में संतुलन तो कायम रहना चाहिए था ना ! सब के दिल में यह बैठ गई थी कि युद्ध होने वाला है अतः भिन्न भिन्न राष्ट्रों में मैत्री होने लगी और गुट्ट बनने लगे । एक गुट्ट बना इङ्गलैंड. फ्रांस और रूस का; दूसरा गुट बना जर्मनी; आस्ट्रिया और टर्की का । यूरोप दो खेमों खेमों में विभक्त था, युद्ध चालू होने के लिये बस एक चिंगारी की जरुरत थी।

युद्ध का प्रारम्भ—२८ जून सन् १९१४ के दिन आस्ट्रिया का युवराज बोसनिया की राजधानी सेराजीवो में घूम रहा था। उस समय किसी ने उसका वध कर डाला, बोसनिया थोड़े ही

दिन पहिले आस्ट्रिया की गुलामी से मुक्त हुआ था और इस मुक्ति में उसका मुख्य सहायक था सर्बिया। इसलिये आस्ट्रिया ने सर्बिया पर भी यह इल्जाम लगाया कि उसी के इशारे से आस्ट्रिया के युवराज की हत्या की गई है अतएव उसने तुरन्त ही सर्बिया को युद्ध की चेतावनी देदी और इस प्रकार यूरोप के क्षेत्र में जिसमें बारुद भरा था चिनगारी लग गई।

१६१४ से १९१८ तक ४ वर्ष तक यह युद्ध चला। इस युद्ध में एक तरफ इंगलैंड, फ्रांस और रूस और दूसरी तरफ जर्मन, आस्ट्रिया और टर्की ही नहीं थे किन्तु ज्यों ज्यों युद्ध की गति बढ़ने लगी त्यों त्यों उसमें दुनियाँ के और भी देश सम्मिलित हो गये। युद्ध में भाग लेने वाले देशों की स्थिति इस प्रकार थी:—

मित्रराष्ट्र पक्ष	जर्मन पक्ष
(इंगलेंड, फ्रांस, रूस)	(जर्मनी, आस्ट्रीया, टर्की)
सर्बिया, बेलजियम, अमेरिका, जापान, चीन, रुमानिया, यूनान और पुर्तगाल, ब्रिटिश साम्राज्य के सब देश यथा भारत दक्षिण अफ्रीका इत्यादि।	बलगेरिया,

लड़ाई में भाग लेने वाले देशों की स्थिति से तो यह साफ जाहिर होता है कि मित्र पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कहीं अधिक थे। कह सकते हैं जर्मनी दुनियां के अधिकांश हिस्से से अकेला लड़ रहा था।

युद्ध के क्षेत्र–जब आस्ट्रिया ने सर्बिया पर हमला कर दिया तो उसके तुरन्त बाद जर्मनी ने बेलजियम को दबाकर फ्रांस पर हमला कर दिया, उधर पूर्व से रुस भी सर्बिया की मदद को आया। इस प्रकार यूरोप में युद्ध क्षेत्र बेलजियम. फ्रांस, जर्मनी, सर्बिया, आस्ट्रिया और रुस आदि देशों की भूमि रही। किंतु यह युद्ध क्षेत्र इन्हीं देशों की भूमि तक सीमित नहीं था। टर्की साम्राज्य के समस्त एशियाई देशों में यथा ईराक, सीरीया, फलस्तीन, मिश्र इत्यादि में, अफ्रीका में जर्मनी के दोनों उपनिवेशों में और चीन में (उस नगर में) जो जर्मनी का एक छोटा सा उपनिवेश था।—इन देशों में भी दोनों पक्षों में अनेक लड़ाइयां हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युद्ध ने दुनियां के अनेक देशों में हलचल पैदा करदी थी।

नये अस्त्र शस्त्रों का प्रयोगः– इस युद्ध में सर्व प्रथम ऐसे अस्त्र शस्त्र काम में लाये गये जो पहिले दुनियां को ज्ञान नहीं थे यथा पनडुब्बी (Submarines), जो पानी के अन्दर चलती थी और बड़े बड़े जहाजो में छेद करके उनको डुबो

देती थी। इनका अविष्कार जर्मनी ने किया था। टैंक (Tank) ये लोहे की चादरों से चारों ओर से ढ़की हुई एक प्रकार की मोटर गाड़ी होती थी जो सभी प्रकार के फौजी सामान से भरी होती थी और जिसके पहिये पर मजबूत सांकले जुड़ी हुई होती है–जिससे कि ये ऊंची, नीची सभी जगहों पर जा सकती थीं।

हवाई जहाजः– इसी लड़ाई में सर्व प्रथम जर्मनी ने एक विशेष प्रकार की बड़ी हवाई जहाज का जिसे जेपलिन (Zeplin) कहते हैं, प्रयोग किया। इन हवाई जहाजों से शहरों और कस्बों पर बम गिराये गये, जिससे शान्त और बेकसूर जनता त्राहि त्राहि करके भस्म हो जाती थी। यह हवाई जहाज का प्रयोग फिर दोनों पक्षों की ओर से होने लगा था।

जहरीली गैसें– युद्ध के अन्तिम महीनों में दोनों पक्षों की ओर से जहरीली गैसों का भी प्रयोग हुआ। ये गैसें ऐसी होती थीं जो हवा में फैलादी जाती थी और उस हवा में सांस लेते ही आदमी तड़फ तड़फ कर मर जाता था।

इस प्रकार इन भयङ्कर विनाशकारी शस्त्रों से यह विश्व-व्यापी युद्ध चलता रहा। चार वर्ष तक यह युद्ध चला। लगभग ढ़ाई करोड़ आदमी मरे, दो करोड़ जख्मी हुए, ९० लाख बच्चे अनाथ हुए ५० लाख स्त्रियां विधवा। अनुमान

किया जाता है कि लगभग ५६ अरब पौंड सब देशों का इस युद्ध में खर्च हुआ। जीवन और धन की कितनी भयङ्कर यह बर्बादी थी—मानव चेतना का प्रतिपीड़न ।

प्रारम्भ के वर्षों में तो जर्मनी विजय करता हुआ चला जा रहा था-उसकी युद्ध की तैयारी अद्भुत थी । उस समय अमेरिका का अध्यक्ष विलसन था; उसने प्रयत्न किया था कि युद्ध शांत हो जाये, कोई संधि हो जाये—उसकी बात नहीं सुनी गई। आखिर सन् १९१७ में अमरीका मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में कूद पड़ा, तभी से युद्ध ने पलटा खाया । जर्मनी की शक्ति का दुनियां के इतने देशों के विरुद्ध लड़ते लड़ते ह्रास हो चुका था, जर्मनी पस्त हुआ,—जर्मन सम्राट अपना देश छोड़कर भाग गया, जर्मनी के लोगों ने प्रजातन्त्र की घोषणा की। ११ नवम्बर १९१८ को लड़ाई बंद हुई। १९१८ में लड़ाई बंद होने के पहिले दुनियां में एक और महत्वपूर्ण क्रांतिकारी घटना हो चुकी थी—वह थी रूस में जारशाही का खात्मा एवं एक साम्यवादी सरकार की स्थापना । यह घटना दुनियां पर छाया की तरह छाई रही ।

वर्साई की संधि

युद्ध के पश्चात् सन्धि की शर्तें तय करने के लिये सन् १९१९ में पेरिस नगर के निकट वरसाई में उन सब राष्ट्रों का

जो युद्ध में सम्मिलित हुए थे एक बहुत बड़ा शांति-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में मुख्य भाग ब्रिटेन के प्रधान मंत्री लायडजार्ज, संयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्ष विलसन, और फ्रांस के प्रधान मंत्री क्लेमेंशू का रहा। कई महिनों तक यह सम्मेलन होता रहा। दुनियां के लोगों को इससे बड़ी बड़ी आशायें थीं। जब युद्ध चल रहा था तब दुनियां के लोगों को कहा गया था कि यह युद्ध खत्म करने के लिये लड़ा जा रहा है, इस युद्ध का उद्देश्य यह है कि दुनियाँ के सब राष्ट्र स्वतन्त्र हों, उनको आत्म निर्णय का अधिकार हो।—दुनियां में एकतन्त्र न रहे, जनतन्त्र का विकास हो।

किन्तु जब विजेता राष्ट्र संधि करने बैठे तो वे अपनी जोम में अपने सब उच्च आदर्शों को भूल गये। ऐसी संधि की गई जो विजित राष्ट्रों के लिये बहुत अपमानजनक थी, जिससे केवल इङ्गलेंड और फ्रांस के स्वार्थ सिद्ध होते थे, उनके साम्राज्यों की जड़ें और भी सुरक्षित होती थीं। सन्धि के मुख्य मुख्य निर्णय ये थे।

(१) जर्मनी का सम्राट देश छोड़कर भाग गया, उसके स्थान पर नया जनतन्त्र राज्य स्थापित हुआ—सन् १९१९ में एक राष्ट्र परिषद् वीमर नगर में बैठी जिसने देश का जनतन्त्रात्मक विधान बनाया। उसको सब राष्ट्रों ने स्वीकार

किया। जर्मनी की सेना तथा जहाजी बेड़े को बहुत कम कर दिया गया। उसके अफ्रीका के उपनिवेश मित्र राष्ट्रों को दे दिये गये।

अलसेस तथा लोरेन प्रान्त जो पहिले फ्रांस के अंग थे और जिन पर जर्मनी ने १८७० ई. में फ्रांस जर्मन युद्ध में अपना अधिकार जमा लिया था, वे फ्रांस को वापस दिला दिये गये। इन प्रदेशों की हानि के अतिरिक्त जर्मनी को और भी बहुत बड़ा युद्ध का हर्जाना देने लिये बाध्य होना पड़ा, जिसको वसूल करने के लिये "सार की घाटी" जिसमें लोहे और कोयले की बहुत खाने थी, जमानत के रुप में मित्र राष्ट्रों को सौंप दी गई। जर्मनी क्या कर सकता था ?

(२) यूरोप के नकशे में कई परिवर्तन हो गये:-

(क) युद्ध पूर्व का आस्ट्रिया-हंगरी का एक साम्राज्य तोड़कर कई भागों में विभक्त कर दिया गया। एक राज्य के बदले अब उसके चार राज्य बना दिये गये। (१) आस्ट्रिया (२) हंगरी (३) जैकोस्लोवेकिया (४) युगोस्लेविया। अंतिम दो राज्य यूरोप में सर्वथा नये राज्य थे-इतिहास में पहिले इनकी स्थिति कभी नहीं थी।

(ख) पोलेंड का पुराना राज्य जो १९ वीं शताब्दी के यूरोप के शक्ति-संतुलन के झगड़ों में मिटा दिया गया था, वह फिर से स्थापित किया गया और उसके व्यापार की सुविधा

के लिये डेनजिग का बन्दरगाह जर्मनी से लेकर उसको दे दिया गया। बाल्टिक सागर के किनारे पर रूस के कुछ प्रदेश स्वतन्त्र हो गये और वे नये राज्यों के रूप में कायम हुए--फिनलेंड, एसटोनियां, लेटविया और लिथूनियां।

(३) टर्की का यूरोपीय साम्राज्य तो १६१२-१३ के बाल्कन युद्धों में छिन्न भिन्न हो चुका था; उसका एशियाई-साम्राज्य भी इस युद्ध के बाद छिन्न भिन्न कर दिया गया। टर्की समूल दुनियां के पर्दे पर से ही हट जाता, किन्तु उसी काल में एक कुशल योद्धा एवं महान् व्यक्ति का टर्की में उदय हुआ--यह था मुस्तफा कमालपाशा। इसने सन् १६१८ के बाद भी युद्ध जारी रक्खा, और इतना सफल हुआ कि टर्की यूरोप में कुस्तुनतुनिया और समीपस्थ थोड़ी सी भूमि और एशिया में एशिया-माइनर बचाये रख सका। पूर्व टर्की साम्राज्य का देश अरब स्वतन्त्र हो गया, ईराक और फीलीस्तीन का शासनादेश (Mandate) ब्रिटेन को दिया गया, और सीरीया का फ्रांस को। शासनादेश (Mandate) का अर्थ यह था कि ईराक, फीलीस्तीन और सीरीया पर इङ्गलेंड और फ्रांस का अधिकार तब तक रहेगा जब तक कि इन देशों की आर्थिक, राजनैतिक स्थिति ठीक नहीं हो जाती, इसके बाद उनको स्वतन्त्र कर दिया जाना पड़ेगा। साम्राज्यवाद कायम रखने का मित्र राष्ट्रों का यह एक नया तरीका था।

राष्ट्र संघ—

बरसाई की संधि की एक मूल और प्रमुख शर्त यही थी कि राष्ट्र संघ की स्थापना हो। राष्ट्र-संघ का अर्थ था कि दुनियां के भिन्न भिन्न राष्ट्र सब मिलकर दुनियां में सुख-शांति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ कायम करें। इस संघ का मूल विधान बरसाई की संधि में ही शामिल कर लिया गया था-इस मूल विधान को राष्ट्र संघ का शर्तनामा (Covenant of the league of nations) कहते हैं। इस विचार की मूल प्रेरणा अमेरिका के प्रेजीडेन्ट विलसन से मिली थी।

भूमण्डल का कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र संघ का सदस्य बन सकता था-केवल चार देश जान बूझकर इससे अलग रखे गये थे-पराजित देश जर्मनी, आस्ट्रिया और टर्की; एवं रूस जहां पच्छिमी राष्ट्रों के आदर्शों के खिलाफ साम्यवादी व्यवस्था कायम हो चुकी थी। राष्ट्र संघ की स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्नति हो और दुनियां में शांति और सुरक्षा कायम हो; इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य ने यह मंजूर किया था कि वह किसी भी अन्य राष्ट्र से तब तक युद्ध न छेड़ेगा, जब तक कि शांति-पूर्ण समझौते के सारे प्रयत्न और संभावनायें असफल नहीं हो जायें। यह भी व्यवस्था की गई थी कि अगर कोई सदस्य राष्ट्र इस प्रतिज्ञा को

तोड़ेगा तो अन्य सब सदस्य राष्ट्र उससे किसी तरह क आर्थिक सम्बन्ध न रखेंगे।

विधान के अनुसार किसी भी प्रश्न का निर्णय राष्ट्र संघ के उपस्थित सदस्यों की सर्व सम्मति से ही हो सकता था। इसका यह मतलब था कि यदि एक भी किसी प्रस्ताव के विरोध में आया तो वह गिर जाता था। दूसरे शब्दों में कोई भी राष्ट्रीय सरकार संघ के किसी भी अच्छे से अच्छे कदम या सुझाव को रद्द (Fail) करवा सकती थी।

राष्ट्र संघ का कार्य संचालन के लिये सर्व प्रथम तो एक असेम्बली थी जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठते थे। इसके अतिरिक्त एक छोटी कौंसिल (Council) थी, जिसके सदस्य मुख्य मित्र-राष्ट्रों के स्थायी प्रतिनिधि होते थे और कुछ प्रतिनिधि असेम्बली द्वारा भी चुने जाते थे। कह सकते हैं कि राष्ट्र संघ की मुख्य और महत्व-पूर्ण कार्य-कारिणी संस्था यह कौंसिल ही थी। संघ का जिनेवा (स्वीटजरलैंड) में एक स्थाई मंत्री-कार्यालय बनाया गया था। संघ के आधीन कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें या कार्यालय या आयोग (Commission) भी खोले गये थे जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इत्यादि।

संघ का विधिवत् कार्य १० जनवरी सन् १६२० से प्रारंभ हुआ। हजारों वर्षों के मानव-इतिहास में—मानव का, युद्ध

निराकरण के लिये, विश्व शांति के लिये, एक विश्व संगठन की ओर विधिवत् आयोजित यह प्रथम प्रयास था।

हम कल्पना कर सकते हैं कि १६१६ ई. के पेरिस के शांति-सम्मेलन और वरसाई की संधि में ही दूसरे महायुद्ध के बीज निहित थे। १६२० के बाद विश्व का इतिहास मानों उस संधि के निराकरण का इतिहास था। जिस प्रकार १८१५ में वियना-कांग्रेस के बाद यूरोप का इतिहास वियना की संधि के निराकरण का इतिहास था, उसी प्रकार बरसाई की संधि के बाद यूरोप का इतिहास वरसाई की संधि के निराकरण का इतिहास है।

—×—

५६

युद्ध ?–एक दृष्टि

एक विनाशकारी महायुद्ध का वर्णन हमने पिछले अध्याय में पढ़ा। इस विश्वव्यापी महायुद्ध ने मानव के मस्तिष्क को थोड़ा खदेड़ दिया,–मानव प्रश्न सूचक दृष्टि से देखने और सोचने लगा कि यह युद्ध क्या ?–मानव की मान्यताओं का मूल्य क्या ?

इस पर थोड़ी दृष्टि हम डालें।

मानव मानव में विरोध और युद्ध के कारण, समय समय पर सामाजिक विकास की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न रहे हैं।

मानव इतिहास के प्रारंभिक युग में, भिन्न भिन्न प्रदेशों में, हम मानव को प्रायः अपने पूर्वजों के नाम पर निर्मित छोटी छोटी समूहगत जातियों (Tribes and Clans) में विभक्त हुआ पाते हैं, और इस जातिगत भेदभाव की वजह से वे परस्पर लड़ते रहते हैं;

फिर मानव इतिहास के प्राचीन युग में, ग्रीस के अलक्षेन्द्र, रोम के सीजर, ईरान के दारा, भारत के चन्द्रगुप्त समुद्रगुप्त, चीन के तांग वंश के ली शीह मिन,—महान योद्धा और विजेता युद्ध में प्रविष्ट हुए मुख्यतः शुद्ध पराक्रम और विजय की भावना से;

फिर ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल के निकट आते जाते हैं हम युद्ध के कारण एक के बाद दूसरी, मुख्यतः बातों में निहित पाते हैं—

(१) धार्मिक भेदभाव

(२) जाति-राष्ट्र गत भेदभाव

(३) राजनैतिक-आर्थिक मान्यताओं में भेदभाव

मध्ययुग में युद्ध के कारण मुख्यतः धर्मगत भेदभाव रहे जैसे ७वीं ८वीं सदियों में इस्लाम के प्रसार के लिये युद्ध, १३वीं

१४वीं सदियों में यूरोप क्रूसेडस् (Crusades) अर्थात् ईसाई और मुसलमानों में धर्मयुद्ध (१२००-१३५० ई.); फिर १६वीं १७वीं सदियों में यूरोप में धार्मिक-सुधार के लिये युद्ध, एवं भारत में भी हिंदू और मुसलमान शासकों में युद्ध;—

फिर राष्ट्रीयता की धुन्धलीसी भावना जो रिनेसां युग में मानव विचार में अवतरित हुई थी, ज्यों ज्यों काल बीता यूरोप की विशेष राजनैतिक परिस्थितियों में स्पष्ट और परिपुष्ट होती गई। जो यूरोप ईसा के पवित्र साम्राज्य का एक देश था, वह अब अलग अलग इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस और इटली था, और वे अलग अलग एक दूसरे से अधिक धनी और शक्तिशाली बनना चाहते थे, अलग अलग वे सोचने लगे थे, हमारा देश है-हमारा राष्ट्र है। बस यही राष्ट्रगत भेद-भावना फूट कर निकली एक विनाशकारी बवंडर और धूआंधार में-विश्व के प्रथम महायुद्ध में।

और जैसे मानो अभी 'राष्ट्र की भावना' प्राणों की इतनी आहुतियों से भी संतुष्ट नहीं थी, फिर प्रकट हुई, अपने आपको फासिज्म और नाजिज्म के रूप में अधिक पुष्ट और सुसंगठित बना कर। और फिर एक बार प्रलयंकारी रणचंडी का नृत्य हुआ। लाखों उभरती हुई आशायें बुझ गईं, चेतना का प्रकाश मंद पड़ गया।

और फिर आज, "जाति राष्ट्रगत" भेद भावना तो मानो लुप्त हुई है, किंतु राजनैतिक-आर्थिक मान्यता (Ideology) की एक नई भेदभावना ने जन्म लिया है, जिसने अभी से विश्व को दो युद्ध खेमों (War Camps) में बांट दिया है।

क्या यह भेद-भावना आदिकालीन मानव की समूहगत जाति भेदभावना से, मध्ययुग की धर्मगत भेद-भावना से, आधुनिक युग की राष्ट्रगत भेदभावना से कम असभ्य और कम असंगत है ?

—※—

५७

विश्व इतिहास

(सन् १९१९–१९४५)

प्रस्तावना—बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध मानव के लिये प्रायः एक (Unrelieved Crisis) का काल रहा है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही यूरोप में ऐसी बातें होने लगी थीं कि आज युद्ध हुआ, कल युद्ध हुआ, युद्ध टल नहीं सकता और सचमुच १९१४ का साल आते आते विश्व-व्यापी ऐसा विनाश-कारी युद्ध हुआ जैसा पहिले कभी नहीं हुआ था। सन १९१४-१८ तक महायुद्ध काल में मानव कितना फिक्रमन्द रहा। सन् १९१९

में शांति हुई । ४–५ वर्ष तक इस महायुद्ध के घाव भर भी नहीं पाये थे कि फिर युद्ध की बात होने लगी और भिन्न भिन्न देशों के लोगों का दिल भारी रहने लगा । उसने कुछ ही वर्ष चैन से बिताये होंगे कि फिर ज्यों ज्यों एक एक वर्ष बीतता जाता था युद्ध की शंका से उसका दिल भारी से भारीतर होता जाता था। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद प्रायः सन् १९२२–२३ ई. तक तो लोगों को यही फिक्र रहा कि सन् १९१७ ई. में रूस में जो साम्यवादी क्रांति हो चुकी थी उसका क्या होगा; फिर यूरोपीय-देशों को उनकी परम्परागत संकुचित राष्ट्रीयता की भावना, और राष्ट्रों में शक्ति-संतुलन के विचार ने इतना परेशान किया कि आखिर सन् १९२५ में वे सब लोकार्नो सम्मेलन (Locarno-Conference) में मिले और उन्होंने शांति और युद्ध निषेध के लिये एक संधि की; संधि तो की किन्तु मन की शंका नहीं गई। एक न एक रूप में वह बनी ही रही। फिर सन् १९२९ ई. में विश्व-व्यापी आर्थिक संकट का जमाना आया, उसने लोगों को बेचैन रक्खा; फिर मसोलिनी और हिटलर इतिहास के पर्दे पर एक तूफान की तरह आये, जगह जगह खटपटें शुरु हुई और सशंकित मानव की शंका आखिर सच ही निकली। १९३९ में दूसरा महायुद्ध हो गया–प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भीषण, भयंकर और विनाशकारी । इस प्रकार केवल २५ वर्षों में विश्व ने दो महायुद्ध देख लिये। दूसरे महा-

युद्ध के घाव अभी भरने भी नहीं पाये हैं कि जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर मानव दूसरे महायुद्ध के लिए सशंकित रहने लगा था, अब तो मानव उससे भी अत्यधिक तीसरे युद्ध के विषय में सशंकित रहने लगा है। पिछले महायुद्ध को समाप्त हुए अभी (१९५०) ५ वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये हैं कि भूमण्डल पर सर्वत्र मानव डरने लगा है कि कहीं आज युद्ध न हो जाए, कल युद्ध न हो जाए। यह है पिछले तीन वर्षों की कहानी की रूप रेखा।

हम सर्व प्रथम रूस की क्रांति को ही लें। रूस की क्रांति तो हुई अक्टूबर सन १९१७ में अर्थात् प्रथम महायुद्ध काल में। किन्तु उसका महत्व युद्धोत्तर काल में है, अतः उसकी चर्चा हम यहीं युद्धोत्तर काल के विवरण में करते हैं।

रूस की क्रांतिः—

हम सन् १७७६ ई. के अमेरिका के स्वतन्त्रता युद्ध का विवरण पढ़ चुके हैं, जब मानव ने सर्व-प्रथम अपने समाज संगठन का विधिवत् या कानूनन यह आधार माना था कि मानव समाज में सब मानव स्वतन्त्र हैं। किन्तु तब इस विचार का प्रभाव विशेष कर अमेरिका तक ही सीमित रहा। फिर सन् १७८९ में फ्रांस की राज्य-क्रांति हुई जिसमें फिर एक बार मानव ने यह घोषणा की कि मानव मानव सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं,

सत्ता सब में निहित है किसी एक जन में नहीं। इस क्रांति की प्रतिक्रिया सर्वत्र यूरोप में हुई और वह मानव-चेतना में ऐसी समा गई कि मानो वह उसकी संस्कृति की एक बुनियादी निधि बन गई हो। उसी समानता और स्वतन्त्रता की भावना की परम्परा में रूस की क्रांति भी हुई थी, उस परम्परा में होते हुए भी रुस की क्रांति में एक भिन्न बुनियादी तत्व था। वह भिन्न बुनियादी तत्व था आर्थिक समानता। फ्रांस की राज्य क्रांति में तो केवल राजनैतिक समानता थी—अर्थात् सबके राजनैतिक अधिकार समान हों; उसने एक दृष्टि से सामाजिक समानता भी देखी अर्थात् समाज में कोई बड़ा-छोटा नहीं, कोई उच्च-नीच नहीं, कोई नवाब गुलाम नहीं, किन्तु वह क्रांति यह विचार लोगों के सामने स्पष्ट नहीं कर पाई थी कि समाज में आर्थिक विषमता से उच्च-नीच का भाव पैदा हो जाता है, कि उस आर्थिक विषमता का मूल कारण है जमीन-धन पर व्यक्तिगत स्वामित्व। यह नई चेतना मानव को रुस की क्रांति ने दी।

रूस की क्रांति का प्रेरणा स्रोत था कार्ल-मार्क्स (१८१८–८३), जिसने यूरोप के प्रसिद्ध क्रांतियों के वर्ष सन् १८४८ ई. में अपने सहयोगी ऐंगल्स के साथ एक साम्यवादी-घोषणापत्र (Communist--manifesto) प्रकाशित किया था। इस घोषणापत्र में सर्व-प्रथम समाजवाद के सिद्धान्तों

का प्रतिपादन हुआ, जिसका जिक्र अन्यत्र किया जा चुका है। कार्ल-मार्क्स की ही प्रेरणा से यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में मजदूरों के संगठन हुए, सन् १८६४ ई. में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (First International) सन १८८६ ई. में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) स्थापित हुआ। इन संघों को गति और शक्ति साम्यवादी घोषणापत्र के इन शब्दों से मिलती थी, "संसार के मजदूरों एक हो जाओ। अपनी दासता की जंजीरों के सिवाय तुम खोओगे तो कुछ नहीं और पाने को संसार पड़ा है।"

ये ही क्रांतिकारी विचार धीरे धीरे रूस में पहुंच रहे थे। १६ वीं शताब्दी में रूस में महत्वाकांक्षी निरंकुश जार लोगों (सम्राट) का राज्य था। जब कि पश्चिमी यूरोप में तो जन-क्रांति हो रही थी और सत्ता, कम से कम राजनैतिक सत्ता, प्रजा के हाथों में धीरे धीरे आ रही थी तब रूस में जार लोगों की निरंकुशता और तानाशाही अपने असली रूप में पाई जाती थी। सन् १८६० ई. तक रूस के किसान सर्फ याने गुलाम थे, सब भूमि जमींदारों के हाथ में थी, काम किसान को करना पड़ता था, धान जमींदारों को जाता था। जमींदार दो टुकड़े किसानों की ओर फेंक देते थे जिससे काम करने के लिये वे जिन्दा रहें। सन् १८६१ में जार ने (सम्राट ने) एक सुधार किया।

सर्फडम याने किसानों की दासता का अन्त किया गया, कुछ किसानों को स्वतन्त्र भूमि दी गई जिस पर जमीदार का कोई अधिकार न हो यह बात तो बड़ी थी किन्तु यथार्थ में इसका कुछ परिणाम नहीं निकला, क्यों कि जो भूमि स्वतन्त्र किसानों को दी गई वह बहुत छोटी थी, उस पर किसान स्वतन्त्र अपना गुजारा नहीं कर सकते थे। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस की यह समाजिक दशा थी–एक ओर जार, उसके उच्च कर्मचारी और भूमिदार। दूसरी ओर बहु-संख्यक किसान, गरीब और पीड़ित। १८६० ई. के बाद जब रूस में सर्फडम खत्म हुआ उसी समय एक दूसरी महत्वपूर्ण बात भी वहां हुई, वह थी पच्छिमी यांत्रिक उद्योग धन्धों का शुरु होना और उनका बढ़ाना। तब तक रुस सम्पूर्णत: मध्य युगों की तरह का एक खेतीहर अविकसित देश था। अब मास्को, सेन्टपीटसबर्ग एवं अन्य शहरों में अनेक उद्योग व्यवसाय खुले और साथ ही साथ रूस के समाज में मजदूर-वर्ग उत्पन्न हुआ। इन मजदूरों से दिन-रात काम लिया जाता और उनको खूब चूसा जाता था। इन मजदूरों में पच्छिमी यूरोप से मार्क्स के उपरोक्त क्रांतिकारी विचार आ आकर फैलने लगे। इन विचारों के माध्यम थे कुछ नई चेतनायुक्त लिखे पढ़े नवजवान; उनमें प्रमुख था लेनिन। इन नवजवानों ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर एक दल कायम किया था, जिसका

नाम था सामाजवाद प्रजासत्तात्मक मजदूर दल (Social Democratic Party) जार अपने क्रूर और सर्वत्र फैली हुई खुफिया पुलिस के जाल से इन लोगों की खबर रखता था उसकी सजा का तरीका था—या तो देश निकाला, या साइबेरिया के जंगलों में अपने मित्र और परिवार से दूर कठिन मजदूरी या फांसी। लेनिन एवं अन्य अनेक नव-जवानों को देश निकाला मिल चुका था। लेनिन और उसके साथी यूरोप में और अधिकतर लंदन में अपना जीवन बिताते थे वहीं रूस की मजदूर पार्टी के प्रोग्राम और सिद्धान्त बनते थे और वहीं से उस पार्टी के कार्यों का परिचालन होता था। सन् १९०३ में उपरोक्त समाजवादी प्रजासत्तात्मक दल (Social Democratic Party) के सामने एक प्रश्न आया कि अपने काम को आगे धीरे धीरे सरकार से समझौते करते हुए बढ़ाना चाहिये, या एक दम बिना कोई समझौता किये उग्रता से मार्क्स द्वारा बताये हुए क्रांति के रास्ते से। लेनिन बिल्कुल सुलझे हुए विचारों का मर्क्सवादी था, वह बिना कोई समझौता किये शुद्ध क्रांति के मार्ग के पक्ष में था। इस प्रश्न पर पार्टी के दो टुकड़े हो गये। उग्रवादी, लेनिन की बात मानने वाले बोल्टाविक (एक रूसी शब्द जिसका अर्थ होता है बहुमत) कहलाये, और समझौतावादी मैनशेविक (एक रूसी शब्द जिसका अर्थ होता है लघुमत) कहलाये। शायद उस समय

लेनिन के ही अनुयायी अधिक थे। इनमें प्रमुख थे ट्रोटस्की और स्टालिन। यह पृष्ठ भूमि थी जिसमें रूस की क्रांति की आग धीरे धीरे सुलगने लगी। इस आग की प्रथम लपट सन् १९०५ में लगी जब जगह २ कारखानों में मजदूरों ने तंग आकर स्वयं हड़तालें कर डालीं। यह वही समय था जब रूस और जापान का युद्ध छिड़ा हुआ था। ये हड़तालें राजनैतिक हड़तालें थीं जिनका उद्देश्य एक दृष्टि से सरकार याने जार के खिलाफ बगावत करना था। उस समय इन मजदूरों का कोई नेता नहीं था किन्तु स्वयं मजदूरों ने ही आगे होकर ये हड़तालें और बगावतें की थी। जारशाही को इन बगावतों से कुछ दबना पड़ा और उसको प्रथम बार यह महसूस हुआ कि वह एक नई दुनियां में है जहां मनमानी निरंकुशता नहीं चल सकती अतः उसने एक वैधानिक परिषद बनाने का वायदा किया। बगावत कुछ शान्त हुई, जमीदार लोग भी डरे कि कहीं क्रांति फैल न जाय। इसलिये वे भी किसानों को कुछ सुधार देने को राजी हो गये। मामला शान्त पड़ जाने पर जार ने बदला लेना प्रारम्भ किया और क्रांतिकारियों को घोर निर्दयता से खत्म करना शुरु किया। कहते हैं कि जार ने मास्को में बिना मुकदमा चलाये ही एक हजार आदमियों को फांसी देदी और ७० हजार को जेल भेज दिया। ऐसा भी अनुमान है कि देश के भिन्न भिन्न भागों में लगभग १४ हजार आदमी मरे एक बार

तो मानों क्रांति शान्त हो गई।

किंतु स्यात् आग नीचे ही नीचे सुलग रही थी सन् १६१४ में जब विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरु हुआ, रूस में फिर मजदूरों में १६०५ जैसी चेतना जागृत होगई थी। ज्यों ज्यों युद्ध बढ़ता जाता था रूस की परिस्थिति खराब होती जारही थी। देश में अन्न-भोजन एवं दूसरी आवश्यक वस्तुओं की कमी होने लगी थी। लोगों में बहुत अशान्ति थी। ऐसी अवस्था में मार्च सन् १६१७ में पेट्रोग्रैड के कारखानों के मजदूरों ने हड़ताल और बगावत करदी। जार ने उनको दबाने के लिये अपनी फौजें भेजी किंतु फौज ने उन पर गोली नहीं चलाई। पेट्रोग्रैड के मजदूरों का उत्साह बढ़ा और यह बात फैल गई कि मजदूर और सेना एक होगई हैं। यही बात मास्को तक पहुंची, मास्को के मजदूरों ने भी हड़ताल और बगावत करदी। जब फौजों ही ने सरकार का साथ छोड़ दिया था, तो सरकार टिकती किसके बल पर। जार को गद्दी छोड़कर भागना पड़ा।—अब रूस में यदि कोई सत्ता बची तो वह मजदूरों और सैनिकों की थी। जगह जगह के मजदूरों ने अपनी अपनी पंचायतें याने प्रतिनिधि सभायें बनाई, मजदूरों की ये प्रतिनिधि सभायें सोवियट (Soviet) कहलाई। इसी प्रकार की सोवियट (Soviets) सैनिकों ने भी बनाई। यह क्रांति जनता में से स्वयं उद्भूत हुई थी। इसका नेतृत्व अभी तक किसी ने नहीं किया था। उन्होंने क्रांति तो कर डाली

और जब वे उसमें सफल होगये तो उनको यह नहीं सूझा कि अब राज-सत्ता चलायें किस प्रकार। कुछ वर्षों से डूमा (रूस की धारा सभा=Parliament) चली आरही थी जिसमें जार के जमाने के उच्च वर्गीय और मध्यम वर्ग के लोगों के प्रतिनिधि थे। मजदूरों और सैनिकों ने सोचा कि अब जार तो भाग ही गया है, जारशाही तो खत्म हो ही गई है, डूमा ही लोक-सत्तात्मक सिद्धान्त पर राज्य चालाये। डूमा ने अधिकार ग्रहण किया। इस प्रकार १९१७ की मार्च क्रांति का अंत हुआ।

डूमा पूंजीपति, मध्यमवर्ग, के लोगों की प्रतिनिधि सभा थी। किंतु सोवियत भी अपनी इच्छा के अनुसार उसको चलाना चाहते थे। इन सोवियतों में इस समय बहुमत मेनशेविक (नर्म दल) लोगों का था- जो, जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, मार्क्स के पक्के अनुयायी नही थे, एंव जो क्रांति के वजाय किसी प्रकार समझौते से काम चलाना चाहते थे। उनमें एक नेता पैदा हुआ केरेन्सकी। उसने एक समझौते की सरकार वनाई। वैसे क्रांति तो मजदूरों ने की थी किंतु एक दृष्टि से राज्य स्थापित हुआ मध्यम एवं पूंजीपतिवर्ग का।

क्रांति की ये सव खवरें यूरोप में पहुंच चुकी थीं। लेनिन और उसके साथियों ने भी इस क्रांति के समाचार सुने। वे छिपकर किसी प्रकार रूस आ गये। १७ अप्रेल सन् १९१७ के

दिन लेनिन रंगमच पर आता है वह स्थिति का अध्ययन करता है और महसूस करता है कि अभी तक क्रांति ने मार्क्स के उद्देश्य की पूर्ति नहीं की। उसने तय किया कि मध्यमवर्ग और पूंजीपति वर्ग की जो पूंजीवाद सरकार कायम होगई थी उसको मजदूरवर्ग गरीब किसानों के साथ मिलकर खत्म करे और उसकी जगह मजदूरों और किसानों की सरकार कायम करें। मजदूरों और सैनिकों की सोवियटों में (पंचायतों में) उसने यह मार्क्सवादी मन्त्र फूंका और धीरे धीरे मजदूरवर्ग को अपने साथ लेकर अपने पथ पर आगे बढ़ा। इसी समय ट्रोटस्की भी जो अब तक अमेरिका था आ चुका था। स्टालिन भी शामिल होचुका था।

लेनिन का पहला काम यह भी था कि सोवियतों (पंचायतों) में मेनसेविकों (नर्मदल) के बजाय बोलसेविकों (मार्क्सवादी उग्रदल) का बहुमत हो। ट्रोटस्की के, जो एक तूफानी वक्ता था, भाषणों के प्रभाव से एवं लेनिन के कुशल संगठन से एवं स्टेलिन की अदम्य कार्य-शक्ति से सोवियतों का रूप बदलने लगा और उनमें बोलसेविकों का बहुमत होने लगा। इससे करेंस्की की सरकार घबराने लगी और उसने अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये बोलसिवकों को दबाना शुरु किया और उनका भयंकर दमन प्रारम्भ किया, किन्तु लेलिन ने शांति कायम रक्खी और वह उपर्युक्त घड़ी की टोह में लगा रहा। जब उसने देख

लिया कि हरएक दृष्टि से सरकार को हटा देने की उनकी तैयारी मुकमिल है तो बड़ी सोच समझ के बाद ७ नवम्बर का दिन क्रांति के लिये उसने चुना। ७ नवम्बर आई और सोवियट सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतों खासकर तारघर, टेलीफोन एक्सचेंज, टेलीफोन एवं अन्य महत्वपूर्ण जगहों पर कबजा कर लिया। अस्थायी सरकार हवा में गायब हो गई, मजदूरों की सरकार कायम हुई हजारों वर्षों के पुराने मानव इतिहास में यह पहला मौका था जब कि इस भूमण्डल पर अब तक पीड़ित और प्रताड़ित मजदूर और निम्न से निम्न वर्ग लोगों की सरकार स्थापित हुई।

अक्टूबर सन १९१७ में बोल्शविक (साम्यवादी) दल की विजय हुई और वे "सर्वहारावर्ग" (अर्थात् भूमिरहित किसान, और मजदूर) की डिक्टेटरशिप के अन्तर्गत एक समाजवादी समाज के निर्माण में लग गये,—ऐसे समाज के निर्माण में जहां सब औद्योगिक उत्पादन के साधनों पर एवं सम्पूर्ण भूमि पर सारे राष्ट्र (स्टेट) का स्वामित्व हो, कुछ इने गिने लोगों का नहीं। साम्यवादी पार्टी की इस विजय से आसपास में साम्राज्यवादी देश घबराये, जैसे ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, जापान, जर्मनी इत्यादि। १३ साम्राज्यवादी देशों ने रूस में अपनी फौजें भेजी, समाजवादी राज्य की स्थापना को रोकने के लिये एवं रूस के पूंजीपतियों, धनिकों, भूमि-पतियों की सहायता से वहां फिर से

एक पूंजीवादी राज्य कायम करने के लिये सन् १९१७ से १९२६, लगभग ६ वर्षों तक एक देशव्यापी भयंकर गृह-युद्ध जिसमें विदेशी फौजों की पुराने धनिक पूंजीपतिवर्ग को भरपूर सहायता थी, बराबर चलता रहा, किन्तु साधारणजन की शक्ति की दृढ़ता के सामने विदेशी फौजें जो चार वर्ष तक पहिले ही महायुद्ध में लड़ चुकी थीं, आखिर थककर चली गई और साथ ही साथ रूस के धनिक और भूपति लोगों की शक्ति भी परास्त हुई। इसी बीच सन् १९२० ई. में रूस को एक भयंकर अकाल का सामना करना पड़ा। गृह-युद्ध, अकाल, एवं विदेशी फौजों की अड़ंगेबाजी की लड़ाई को तो रूस की साम्यवादी पार्टी ने, जिसके पीछे जनशक्ति थी, जीत लिया, किन्तु अब स्वयं साम्यवादी पार्टी में कुछ विचारक एवं नेता ऐसे निकले जो कहते थे कि केवल एक देश में समाजवादी सिद्धान्तों पर समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता, ऐसा करने के पहिले यह आवश्यक है कि दुनियां भर में साम्यवादी क्रांति की जाये। ऐसे लोगों में मुख्य ट्रोटस्की थे। इनका विरोध हुआ उन विचारकों से—यथा लेनिन और स्टालिन से जो यह कहते थे कि एक देश में भी समाजवादी क्रांति सफल हो सकती है, समाजवादी समाज की स्थापना हो सकती है। यह भी रूस के सामने कोई कम मुश्किल का प्रश्न नहीं था। आखिर लेनिन और स्टालिन की बात मानी गई; उन्हीं के हाथ में इस समय देश का कारभार

भी था। उन्होंने कट्टरपंथी समाजवादी शास्त्र के अनुसार नहीं किन्तु अपनी सहज व्यवहारिक बुद्धि से (Practical Commonsense) परिस्थितियों के अनुरुप काम किया, और वे निर्माण के पथ पर अग्रसर हुए।

रुस का समाजवादी नव निर्माण—इस निर्माण का लक्ष्य ऐसा समाज था जहां जन का किसी भी प्रकार का शोषण न हो, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित अच्छी रोटी मिले, रहने के लिये मकान मिले, एवं उच्चतम शिक्षा मिले, जहां सब अपनी शक्ति और दक्षता के अनुसार समाज में कोई भी कार्य करें और अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार धन अथवा आवश्यक वस्तुयें लेलें। किंतु इस लक्ष्य तक पहुँचना कोई आसान काम नहीं था–साम्यवादी नेताओं ने इस बात को देखा; और उन्होंने कहा, सम्पूर्ण समाज की सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई के लिये प्रत्येक व्यक्ति को त्याग करना ही पड़ेगा; यह त्याग और बलिदान व्यक्ति को खुशी खुशी अपना धर्म समझ कर करना चाहिये; और यदि वह ऐसा नहीं करता है और यदि समाज और राष्ट्र को ऊंचा उठाना ही है तो यह त्याग और बलिदान जबरदस्ती उससे कराया जाये–सम्पूर्ण राष्ट्र और समाज के कल्याण के लिये। रुस के साम्यवादी नेताओं में अद्भूत कुछ ऐसी विचक्षणता थी कि वे सम्पूर्ण राष्ट्र की नसों में बिजली की करंट की तरह एक अद्भुत जोश प्रवाहित कर सके और लोग अपनी पूरी ताकत लगाते हुए

समाज को ऊंचा उठाने में तल्लीन होगये। जिन लोगों ने आलस्यवश काम से मुंह मोड़ा, जिन लोगों ने निजी स्वार्थवश अथवा दलबंदी के कारण काम में रोड़े अटकाना चाहा, काम को ऊंचा उठाने के बजाय बिगाड़ना और नष्ट करना (Sabotage) चाहा, उनको झेलनी पड़ी जेल और फिर भी न माने तो "समाज की रक्षा" के लिए गोली। नेताओं ने साफ साफ कह सुनाया कि मजदूरों और किसानों को, सब तरह के कार्यकरों को अनुशासन और शिस्त से काम करना पड़ेगा, काम में किसी प्रकार की ढिलाई या सुस्ती बर्दाश्त नहीं की जायेगी। जो काम नहीं करेगा उसे रोटी भी नहीं मिलेगी। जो जितना एवं जैसा काम करेगा उसको उतने ही पैसे मिलेंगे। सबको भरपूर धन, सबको सबकी आवश्यकताओं के अनुसार भरपूर चीजें तो तभी मिलेंगी जब सब कार्यकर (मजदूर, किसान, कारकून, आफिसर, इन्जीनियर, डाक्टर, शिक्षक, इत्यादि-इत्यादि) कड़ा परिश्रम करके, काम में अपनी निपुणता (Efficiency) बढ़ाकर चीजों के उत्पादन में इतनी वृद्धि करलें कि चीजें सबके बंटवारे में आसके। जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती तब तक लोगों को इन चीजों की कमी बर्दाश्त करनी ही पड़ेगी। सर्वतोमुखी विकास के लिये, यथा कृषि, उद्योग, यंत्रनिर्माण, रेल, जहाज, हवाईजहाज, खनिज-पदार्थ, तेल उद्योग, अन्वेषण कार्य, शिक्षा स्वास्थय इत्यादि के

विकास के लिये, ढ़िलाई और अकर्मण्यता के खिलाफ जिहाद बोला गया, विज्ञान का सहारा लिया गया, और फिर जमकर कदम आगे बढ़ाया गया। पहिले एक पंचवर्षीय योजना बनी (१९२८-३२ ई.), फिर दूसरी (१९३२-३८ ई.), और फिर तीसरी, जिसके दो ही वर्ष बाद रुस को द्वितीय महायुद्ध में फंसना पड़ा। योजनाओं का अन्तिम स्वरुप तय होने के पहले प्रस्तावित योजनाएं पत्रों में प्रकाशित होती थी. कारीगर मजदूर, कृषक, वैज्ञानिक, इन्जीनियर, सब लोग उन पर बहस करते थे,-कारखानों खेतों अनेक सभाओं एवं दलों में उन पर वाद-विवाद होता था योजना की छोटी से छोटी लेकर बड़ी से बड़ी प्रत्येक विवरण में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं संजीदगी की भावना होती थी। और फिर योजना कमीशन द्वारा योजना सम्बन्धी अन्तिम स्वरुप तय होने पर, और योजना के अन्तरगत प्रत्येक जिले के लिए, प्रत्येक गांव के लिए, प्रत्येक फेक्टरी के लिए, प्रत्येक छोटी से छोटी बात तय होने पर, यह योजना पूरी करने में एक मन हो अपने अपने निर्दिष्ट काम में जुट जाना पड़ता था। योजनाओं को सफल बनाने के लिए यदि आठ घन्टे, दस घन्टे यहां तक कि चौदह-चौदह घन्टे भी काम करना पड़े तो क्या हुआ; यदि वर्षों फटे-टूटे कपड़ों से काम चलाना पड़ा तो क्या हुआ; यदि पेट के

पट्टी बांधनी पड़ी और अन्य विकसित देशों से आवश्यक मशीनरी मंगाने के लिए अपना अन्न, अपना पनीर, मक्खन, खुद न खाकर अन्य देशों को भेजना पड़ा तो क्या हुआ; यदि लाखों छोटे विद्यार्थियों तक को महीनों महीनों तक स्कूल छोड़ कर खेतों में, कारखानों में एवं जंगलों तक में काम करना पड़ा तो क्या हुआ। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, यहां तक कि बर्फीले टंड्राज में भी, साईबेरिया के जंगलों में भी, यूराल के पर्वतों में भी, और एशियाई रूस के दूरस्थ सर्वथा अविकसित देशों में भी, सर्वत्र हथौड़ा और हसिया लेकर आदमी फैल गये और एक नये उत्साह और एक नई स्फूर्ति से अपने अपने निर्णीत काम में जुट गये कोई नहीं छूटा—बाल, वृद्ध, औरत, मर्द, सब काम में, व्यस्त-सब तरह के कामों में व्यस्त— खेत में, कारखानों में, जहाजी अड्डों में, खानों में, सेना में, सरकारी दूकानों में, आफिसों में, स्कूल और कॉलिजों में एवं अन्वेषणलयों में—ऐसा मालूम होता था कि कोई महान् राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है और सामरोह को सफल बनाने के लिए सब लोग चाव से काम में जुटे हुए हैं।

और फिर केवल दस वर्ष के परिश्रम के उपरान्त :—

१. १९३८ तक औद्योगिक उत्पादन ९०८ प्रतिशत तक बढ़ गया— इसका अर्थ हुआ कि यदि पहले १०० मण इस्पात बनता था, तो अब ९०० मण से भी अधिक बनने लगा यदि पहले १०००

गज कपड़ा बनता तो ६००० से भी अधिक गज कपड़ा बनने लगा,-अर्थात् यदि पहिले रूस में बनी औद्योगिक वस्तुयें केवल १०० आदमियों के लिए पर्याप्त थीं तो अब ६०० से भी अधिक आदमियों के लिए काफी थीं।

२. अन्न उत्पादन में तो इससे भी अधिक विचक्षण बात हुई। जहाँ १९२७ में १० लाख टन भी अन्न उत्पन्न नहीं हुआ था वहाँ सन १६४१ में १३ करोड़ टन अन्न खेतों से इकट्ठा किया गया। जरा कल्पना तो कीजिये—१३० गुणा अधिक। वहां १६२४ में खेतों के लिए २६०० ट्रेक्टर थे, सन १९४० में ५,२३,१०० ट्रैक्टर हो गये,—अर्थात् लगभग २०० गुना अधिक।

३. १६१४-१५ में जहां केवल १६५३ हाई स्कूल, जिनमें ४२८०३ शिक्षक एवं ६३५५१ विद्यार्थी थे वहां १६३६ में १५८१० हाई स्कूल जिनमें ३७७३३७ शिक्षक एवं १०८३४६१२ विद्यार्थी हो गये।

४. १६१३ में जहां केवल ८५६ समाचार पत्र थे जिनकी २७०००००प्रतियाँ छपती थीं, १६३८ में वहां ८५०० समाचार पत्र थे जिनकी ३७५००००० प्रतियां छपती थीं।

राष्ट्र एक छोर से दूसरे छोर तक उन्नत समृद्ध और हरा भरा हो गया। रेगिस्तानों में सब्जियां उगने लगीं, टण्ड्रा के बर्फीले मैदानों में फल, जमीन में तेल के कुएं निकले, और यूराल

पर्वतों के पार मशीनरी। मजदूर और किसानों के बच्चे बड़े बड़े इन्जीनियर और वैज्ञानिक होने लगे, और स्त्रियां हवाई जहांजचालक और रूस के दुश्मनों की छातियों पर बम फोड़ने वाले सैनिक। कितना अद्‌भुत यह उत्थान था-मानों अज्ञान के अन्धकार से घिरा, आलस्य में सोया हुआ "महा-मानव" जाग कर उठ खड़ा हुआ हो-और उसको उठ खड़ा देख, तमाम दुनियां आश्चर्य-चकित उसकी ओर एक टक-ताकने लगी हो।

पूर्वीय देशों में राष्ट्रीय भावना का विकास-एक देश एक जाति, एक भाषा, एक धर्म, एक पुराने इतिहास के आधार पर जिस राष्ट्रीयता की भावना का प्रथम अभ्यास यूरोप के लोगों ने १५वीं १६वीं शताब्दी में किया और जिसका तीव्र रूप १९वीं शताब्दी में विकसित हुआ और जो अन्त में प्रथम महायुद्ध के रूप में फूटकर निकली, उसी राष्ट्रीयता की भावना की जागृति प्रथम महायुद्ध के बाद एशियाई लोगों में भी होने लगी, और उसका खूब विकास हुआ। वस्तुतः महायुद्ध विश्व में एक ऐसी घटना हुई थी, जिसने पूर्व के भी सोये हुए देशों को झकझोर दिया था और उनको यूरोप के प्रति सचेष्ट कर दिया था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और बाद प्रायः समस्त एशिया पर यूरोप वालों का या तो राज्य था, या जिन कुछ देशों में राज्य नहीं था वहां उनका आर्थिक दबाव। राष्ट्रीयता की भावना

विकसित होने के बाद प्रत्येक एशियाई देशों में यूरोपीय राज्यों से, यूरोपीय राज्य-भार से, या उनके आर्थिक दबाव से मुक्त होने की चेष्टायें होने लगीं। इन चेष्टाओं ने कई देशों में उग्र रुप भी धारण किया। यहां तक की कई आतंकवादी विद्रोह हुए यद्यपि उन सब को यूरोपीय शासकों ने अपनी मशीनगन और संगीन की शक्ति से दबा दिया। ठीक है एशियाई देशों का अपनी स्वतन्त्रता के लिये ये प्रयत्न एक दम सफल नहीं हो पाये किन्तु एक भावना जागृत हो चुकी थी और एक चिनगारी लग चुकी थी। मध्य युगीय एशिया यूरोप के ही पद चिन्हों में प्रथम महायुद्ध के बाद आधुनिकता की ओर अग्रसर होने लगा था।

जापानः—यूरोप का सब से अधिक असर पड़ा जापान पर। यहां तक तो ठीक कि जापान ने अपने आपको यूरोप के ढंग का बहुत जल्दी से ही एक यांत्रिक औद्योगिक देश बना लिया था; मशीन, कपड़ा, खेल-खिलौने और औजार-यन्त्र इत्यादि का खूब उत्पादन होने लगा था। सामरिक दृष्टि से भी उसने अपने आपको खूब शक्तिशाली बना लिया था। किन्तु इसके साथ साथ यूरोप की तरह ही उसकी राष्ट्रीयता संकुचित होने लगी, और उसमें साम्राज्यवादी उग्रता भी आने लगी। उसने खयाल बना लिया कि एशिया जापान का है, वहां की सूर्य-वंशी जाति (जापानी सम्राट अपने आप को सूर्य का वंशज और

उत्तराधिकारी मानते हैं) का अधिकार है कि वे समस्त एशिया पर राज्य करें। अतः १६०४-५ में जापान ने कोरिया पर तो अपना अधिकार जमा ही लिया था तदनन्तर उसकी आंखें मंचूरिया की ओर हुई। सन् १६३१ में उसने समस्त मंचूरिया को हड़प लिया। सन् १६३७ में समस्त चीन को हड़पने के लिए उसने अपनी गति प्रारम्भ कर दी। दूसरे विश्व युद्ध के जमाने में (सन् १६३६-४५) प्रायः समस्त पूर्वीय चीन फिलीपाइन द्वीप, हिन्द-एशिया, मलाया, बरमा, प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप एवं अन्य द्वीपों पर वह अपना पूर्ण अधिकार जमा चुका था; यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम वर्ष में जापान की पराजय के बाद यह जापानी साम्राज्य खत्म हो गया।

चीन—चीन में डा० सनयातसन की अध्यक्षता में जनतंत्र स्थापित हो चुका था, किन्तु कितनी कमजोर उसकी सत्ता थी और कितने छोटे से क्षेत्र में उसका राज्य जब कि वस्तुतः चारों ओर स्वतन्त्र प्रान्तीय सरदारों का राज्य था, इत्यादि इन बातों का जिक्र पहले हो चुका है। राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और आर्थिक उन्नति और समानता के अपने तीन सिद्धान्तों पर सनयातसन जब अपने देश के निर्माण का प्रयत्न कर रहा था, तब सन् १६२५ में उसकी मृत्यु हो गई। तदनन्तर चीन में सैनिक सरदारों में गृहयुद्ध होता रहा किन्तु सन १६२८ में चांग-काई-शेक इन

सैनिक सरदारों को परास्त कर चीनी जनतन्त्र का अध्यक्ष बना और इस उद्देश्य की ओर वह अग्रसर हुआ कि चीन एक सुसंगठित शक्तिशाली राष्ट्र बने इसके रास्ते में दो बाधायें आई एक तो स्वयं चीनी साम्यवादी दल जिसका रूस के प्रभाव से जन्म हो चुका था और जिसका विकास सन् १९२२-२३ में होने लगा था; दूसरी बाधा थी जापान की साम्राज्यवादी आकांक्षा।

भारत—भारत में अंग्रेजी राज्य था। प्रथम महायुद्ध में इंगलैंड एक पक्ष की ओर से लड़ रहा था; भारत को भी अपना जन-धन इङ्गलेण्ड की सहायता में समर्पित करना पड़ा क्योंकि भारत इङ्गलैंड के आधीन था। किन्तु भारत में भी राष्ट्रीय भावना की जागृति हो चुकी थी। पूर्व का यह विशाल देश भी अब करवट बदलने लगा था और इङ्गलैंड के साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिये अग्रसर होने लगा था।

पुराने तुर्की साम्राज्य के देश(मध्य-पूर्व देश)-ईराक, फलस्तीन, सीरिया, ट्रांसजोर्डन:—याद होगा कि प्रथम महायुद्ध में टर्की की पराजय के बाद टर्की के इन देशों पर इङ्गलेण्ड और फ्रांस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अधिकार स्थापित हो गया था। इन समस्त देशों में भी तीव्र राष्ट्रीयता की लहर फैली, जगह जगह यूरोपीय शासकों के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह हुए किन्तु सब विद्रोह बम-वर्षा, मशीनगन और संगीन

की शक्ति से दबा दिये गये। ईराक, फलस्तीन, ट्रांसजोर्डन पर राष्ट्र संघ के शासनादेश के अन्तर्गत ब्रिटेन ने अपना कब्जा जमाये रक्खा और इसी तरह सीरिया पर फ्रांस ने।

अरब—में अवश्य इब्नसउद नामक एक योद्धा सरदार उठा जिसने स्वतन्त्र साउदी अरेबिया राज्य की स्थापना की। सन् १९२३ ई. के लगभग वह स्वतन्त्र स्थिति को पहुंच चुका था। इसी प्रकार अरब के दक्षिण-पश्चिम किनारे पर यमन नामक एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य एक अरब सुल्तान के आधीन स्थापित हो गया। अरब के नाके अदन बन्दरगाह पर और आस पास के कुछ प्रदेशों पर इङ्गलैंड का अधिकार कायम रहा।

मिश्रः—में भी जहां सन् १८९९ में अंग्रेजों ने मिश्र के सुल्तान से खटपट करके सुल्तानियत कायम रखते हुए भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, अनेक हिंसात्मक विद्रोह हुए, जिसकी परिणति सन १९३६ में इस संधि में हुई कि मिश्र स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया गया किन्तु वहाँ ब्रिटेन को नियमित सेनायें रखने का अधिकार रहा।

टर्की—याद होगा प्रथम महायुद्ध में टर्की का विशाल साम्राज्य जर्मनी के पक्ष की ओर से इङ्गलैंड-फ्रांस के खिलाफ लड़ा था। इस युद्ध में टर्की साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। यह समूल ही नष्ट हो जाता, लेकिन युद्ध-काल में मुस्तफा-

कमालपाशा नामक एक प्रतिभाशाली और दूरदर्शी टर्की योद्धा का उदय हुआ। उसने अपनी दक्षता से यूरोप में कुस्तुनतुनियां और समीपस्थ प्रदेश पर और एशिया में अनातोलिया (एशिया-माइनर) पर टर्की-प्रभुत्व कायम रक्खा और इस तरह से टर्की एक साम्राज्य के रुप में नहीं किन्तु एक राष्ट्रीय राज्य के रुप में बचा रहा। शताब्दियों से टर्की में टर्की सुल्तानों का राज्य चला आता था और ये सुल्तान ही समस्त इस्लामी दुनियां के खलीफा अर्थात् सर्वोच्च धर्म-गुरु माने जाते थे। प्रथम महायुद्ध काल तक टर्की एक मध्य-यूगीय देश था किन्तु मुस्तफा-कमालपाशा पर पच्छिमी जागरुकता और प्रगतिवादिता का प्रभाव था। सुल्तान की सेना में धीरे धीरे उसने अपनी शक्ति का संगठन किया और समय आते ही सन् १९२२ में एक चोट से सुल्तानियत का अन्त किया और उसकी जगह टर्की में जनतन्त्र की स्थापना की। वह स्वयं टर्की का प्रथम अध्यक्ष बना। अपने देश की उन्नति के लिए वह तीव्रता से आगे बढा और एक बार दृढता अपने मन में लेकर सन १९२४ में युगों से चले आते हुए इस्लामी दुनियां के धर्म गुरु खलीफा का भी उसने अन्त किया। सारी इस्लामी दुनियां का विरोध होते हुए भी खलाफत का अंत हुआ। इतना ही नहीं—उसने मुसलमानियत की निशानी फेज-टोपी को भी अपनी एक आज्ञा से अपने देश से हटा दिया। फेज-केप की जगह हेट नजर आने लगे। इसी प्रकार की एक

दूसरी आज्ञा मे उसने औरतों के लिए बुरका और पर्दा गैर-कानूनी घोषित कर दिया, टर्की भाषा को रोमन-लिपी में लिखवाना प्रारम्भ कर दिया और एक आधुनिक सशक्त राष्ट्रीय सेना का निर्माण किया। टर्की एक आधुनिक शक्ति बनने लगा। अफगानिस्तान में अफगानी बादशाह का स्वतन्त्र राज्य चलता रहा। एक नव विचार युक्त बादशाह जिसका नाम अमानुल्लाखां था के जमाने में देश को पश्चात्य सभ्यता में रंगने के प्रयत्न किये गये किन्तु वे विशेष सफल नहीं हुए।

ईरानः— सन १९२५ ई. में रजाखां पहलवी एक आधुनिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति शाह बना। पच्छिमी ढ़ग पर उसने देश का विकास प्रारम्भ किया-यथा सड़कें बनवाना; मोटर लोरीज द्वारा यातायात प्रारम्भ करना (तब तक इन देशो में— अफगानिस्तान, ईरान में, रेल और मोटर का नामोनिशान नहीं था) एवं पेट्रोल तेल के कूओं की खोज होने के बाद उनका विकास करना ।

अफ्रीकाः— अबीसीनियां और मिश्र को छोड़कर जिसका जिक्र ऊपर कर आये हैं बाकी का सारा अफ्रीका यूरोपीयन देशों के भिन्न भिन्न औपनिवेशिक राज्यों में विभक्त था । यहां के आदि निवासी अभी अशिक्षित और प्रायः असभ्य स्थिति में ही अपना जीवन बिता रहे थे। यद्यपि कुछ ईसाई पादरी लोग

ज्ञानप्रसार का काम उन लोगों में कर रहे थे। अभी तक उनमें राष्ट्रीयता तथा स्वतंत्रता की भावना का विकास नहीं हो पाया था।

अमेरिका– युद्ध के बाद अमेरिका तटस्थता की नीति अपनाकर, यूरोप के मामलों से अलग हो गया, वह राष्ट्र संघ का भी सदस्य नहीं बना। व्यापार को छोड़ अन्य सब बातों में शेष विश्व के प्रति उसने उपेक्षावृति अपनाली। निरंतर उसकी व्यवसायिक एवं औद्यौगिक उन्नति होती जाती थी–वह धनी बनता जा रहा था, किंतु सन् १६२६ के आते आते वह एक विकट आर्थिक संकट में फंस गया। यह आर्थिक संकट भी एक अजीब विरोधामास (Papadex) था। कारखाने बंद होने लगे, बैंक फैल होने लगे; लाखों आदमी बेकार हो गये उनके पास खाने को कुछ नहीं बचा–और यह सब कब ? तब जब कि देश में अन्न का अनन्त भंडार था, सब चीजों का अनंत भंडार था। चीजें खूब मंदी हो गई, कारखाने वाले पूंजीपतियों ने कारखाने बंद कर दिये–लोग बेकार हो गये, चीजें थीं, किन्तु खरीदने के लिये उनके पास पैसा नहीं था। कैसी अजीब हालत। कारखानों के मालिकों ने अपनी चीजों का दाम बढ़ाने के लिये सरकार को बाध्य किया कि वह विदेशों से कोई भी चीज नहीं आने दे। सरकार ने तटकर में वृद्धि कर दी–दूसरे देशों के माल की बिकरी बंद हो गई–वहां भी

हूबहू वही परिस्थिति पैदा हो गई जो अमेरिका में हो गई थी। सब विश्व में चीजों की मंदी, बैंकों का फेल होना, कारखानों का बंद होना, बेकारी और अर्थ संकट। सन १९३३ तक विश्व की यह दशा बनी रही। अमेरिका के तत्कालीन प्रेसीडेन्ट ने व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवसाय उद्योग में हस्तक्षेप शुरु किया, कई नियम बनाये जिनसे उद्योगों पर नियंत्रण हो; सहकारी सिद्धान्तों पर अवलंबित कई नये उद्योग चालू किये और इस प्रकार अपनी नई आर्थिक नीति (New Deal) से किसी प्रकार देश को आर्थिक संकट के पार उतार दिया। १६३७ ई. के आते आते अमेरिका ने देखा कि जापान अपनी शक्ति बढ़ा रहा है, जर्मनी अपनी शक्ति बढ़ा रहा है–तो रुजवेल्ट ने देश को आग्रह किया कि उसे तटस्थता की नीति छोड़नी पड़ेगी– अमेरिका विश्व से पृथक नहीं था।

यूरोप:–जब एशिया में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की भावना का प्रसार हो रहा था जिसको दबाने के लिये यूरोपीय देश हर तरीके से प्रयत्न कर रहे थे, तब यूरोपीय देशों में परस्पर धीरे धीरे वही तनातनी पैदा होने लगी थी जो प्रथम महायुद्ध के पहिले थी और जो पिछली २--३ शताब्दियों से उसकी परम्परा बन गई थी। संयुक्त राष्ट्र-संघ स्थापित अवश्य हो चुका था और उस संघ के द्वारा यूरोप के लिये एक

अवसर था कि वहां के सब प्रमुख देश सामूहिक मेल-जोल से शांति कायम रखें और युद्ध न होने दे किन्तु इस अवसर से लाभ नहीं उठाया गया; यह काम मुश्किल भी था। युद्ध के बाद इङ्गलैंड के राजनैतिक या आर्थिक अधिकार में कई प्रदेश आये थे, अतएव वह संतुष्ट था। इसी तरह फ्रांस, पोलेंड, जेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया और रुमानिया भी संतुष्ट थे, क्योंकि उनके भी राज्यों में किसी न किसी रूप में वृद्धि ही हुई थी; किन्तु दूसरी ओर जर्मनी, हंगरी, बलगेरिया और इटली देश थे, जो बरसाई की संधि से बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं थे। जर्मनी पराजित देश था, उसके कई प्रदेश जैसे रूर और डेनजिंग अलसेस और लोरेन उससे छीन लिये गये थे, उसकी फौज कम करदी गई थी, उसको युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिये प्रति-वर्ष बहुत सा धन विजयी देशों को देना पड़ता था, उसका राष्ट्राभिमान कुचल दिया गया था, किन्तु उस देश में जीवन अब भी बाकी था, अतः वह तो संतुष्ट होता ही कैसे। इटली भी जो कि जर्मनी के विरुद्ध लड़ा था, बरसाई की संधि से संतुष्ट नहीं था, क्योंकि उसने जो यह आशा बना रखी थी कि जर्मनी के अफ्रीकन उपनिवेश और अलबेनिया युद्ध के बाद उसको मिलेंगे वह पूरी नहीं हुई। इस प्रकार यूरोप में संतुष्ट और असंतुष्ट दो प्रकार के देशों के गुट्ट बन गये। संतुष्ट देश तो चाहते थे कि राष्ट्र संघ बना रहे और वह बरसाई संधि के अनुसार व्यवस्था और

शांति बनाये रखने में सफल हो, किन्तु असंतुष्ट देश परिवर्तन चाहते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली देश था राष्ट्र संघ का सदस्य बनने से इन्कार कर दिया क्योंकि अमेरिका की राष्ट्र सभा में यह तय कर लिया था कि उनका देश यूरोप के किसी झगड़े में और नहीं पड़ने वाला है। इस बात से राष्ट्र संघ का प्रभाव और भी कम हो गया था। अतः बजाय सामुहिक शांति के प्रयत्न होने के यूरोप में पूर्ववतः दलबन्दी होने लगी, और प्रत्येक देश संयुक्त राष्ट्र संघ के नियमानुसार निःशस्त्रीकरण करने के बजाय अधिकाधिक अपना शस्त्रीकरण करने लगा। स्थिति यह थी कि फ्रांस, युद्ध समाप्त होने के बाद, दस वर्ष तक सामरिक दृष्टि से सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था।

आयर लैंड:–यूरोप में केवल आयरलैंड एक देश था–जो स्वतंन्त्र नहीं था। इस पर इङ्गलैंड का अधिकार था। आयरलैंड में स्वन्त्रता युद्ध चले–अंत में सन् १९२२ में इरिश फ्री स्टेट की स्थापना हुई। डीवेलेरां प्रधान मन्त्री बना–उसने वहां सम्पूर्ण जनतन्त्र की परम्परायें कायम कीं।

स्पेन:– में राजतंत्र चला आ रहा था। सन् १९३१ में वहां रक्तहीन क्रांति हुई और जनतंत्र की स्थापना हुई। कुछ ही वर्ष बाद वहां जनतंत्र सरकार और फ्रैंको के आधीन फासिस्ट शक्तियों

में झगड़ा हो गया। १६३८ ई. में गनतंत्र खत्म हुआ और वहां अधिनायकत्ववाद (Dictator ship) की स्थापना हुई- इसमें फासीस्ट इटली और जर्मनी की काफी मदद थी।

इटली और फासीज्मः-

यद्यपि इटली १८६० ई. में स्वतन्त्र हो चुका था, उसके प्रदेशों का एकीकरण हो चुका था और वहां वैधानिक राजतंत्र स्थापित हो चुका था, तथापि वहां कोई एक स्थायी और सुसंगठित सरकार कायम नहीं हो पाई थी। सन् १६१३ तक सार्वभौम मताधिकार भी लोगों को मिल चुका था किन्तु इससे कुछ फायदा नहीं हो सका। वोटिंग में सब तरह की बेइमानी, धांधलेबाजी चलती थी और उपयुक्त आदमी निर्वाचित होकर नहीं आते थे। राजनैतिक दल भी कोई सुसंगठित नहीं थे । ब्रिटेन में तो कई सौ वर्षों की परम्परा थी, अनुभव था, इसलिये वहां वैधानिक राजतन्त्र सफलतापूर्वक चलता था, किन्तु इटली में यह परम्परा नहीं बन पाई।

महायुद्ध के बाद इटली में सर्वत्र अशांति थी, बेचैनी थी। लोगों के दिल पर किसी तरह से यह जम गया कि एक विजेता देश होते हुए भी युद्ध से उसको कोई लाभ नहीं मिला। जगह जगह हड़तालें होने लगीं और सरकार की यह आलोचना होने लगी कि वह कुछ भी नहीं कर पा रही है। इसी समय

आतंकवादी उपद्रव भी होने लगे। ये उपद्रव करने वाले ये लोग थे जो अपने आप को फासिस्ट कहते थे । इन फासिस्ट लोगों की धीरे धीरे एक विचारधारा (Ideology) विकसित होगई थी, जो फासिज्म कहलाई।

फासिज्म—फासिज्म कट्टर राष्ट्रीयता की भावना है। इसके ध्येय को फासिस्टों के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "मेरा राष्ट्र में पूर्ण विश्वास है। इसके विना मैं पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं कर सकता"। फासीज्म का इटली में जहां पर मसोलिनी ने इसको जन्म दिया, ध्येय यह था कि इटली सम्पूर्ण विश्व पर अपना महान् आध्यात्मिक प्रभाव डाले। सब नागरिक मसोलिनी की आज्ञा का पालन करें क्योंकि आज्ञा पालन के विना समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।

फासिज्म आर्थिक विचार—फासीज्म विभिन्न वर्गों के हितों के आधारभूत भेद को स्वीकार नहीं करता । साम्यवाद की तरह फासीज्म यह नहीं मानता कि समाज में वर्ग-युद्ध होना अनिवार्य है। चूंकि मार्क्सवाद या साम्यवाद राष्ट्र में वर्ग-कलह पैदा करके राष्ट्र को कमजोर बनाता है इसलिए फासीज्म साम्यवाद का कट्टर विरोधी है। समस्त देश का आर्थिक संगठन केवल एक ही उद्देश्य से होना चाहिए और वह यह कि राष्ट्र-शक्ति का उत्थान हो—उसमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं।

फासिज्म: राजनैतिक-विचार—फासीज्म यह विश्वास नहीं करता कि समाज के सभी सदस्य समाज पर शासन करने के योग्य होते हैं, अतः फासीज्म जनतन्त्रवाद का विरोधी है। राष्ट्र की समस्त शासन शक्ति राष्ट्र के किसी एक महापुरुष के हाथ में होती है जिसका संचालन वह किन्हीं योग्य व्यक्तियों के द्वारा करता है। राष्ट्र की समस्त प्रवृत्तियों का जैसा शिक्षा, अर्थ, न्याय, युद्ध इत्यादि का संचालन वह एक महापुरुष करता है। राष्ट्र की पात्रता इसी में है कि वह ऐसे एक महापुरुष को अपने में से ढूंढ निकाले। यह एक प्रकार का अधिनायकत्ववाद (Dictatorship) है।

फासिज्म साधन-अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये राष्ट्र किन्हीं भी साधनों का प्रयोग कर सकता है। युद्ध उसके लिये वर्जित नहीं है, शांति उसके लिये आवश्यक नहीं है।

इटली में फासिस्ट नेता मसोलिनी था जो पहिले इटली की समाजवादी पार्टी का एक प्रमुख सदस्य था। उसके सामने बस केवल एक ध्येय था। वह ध्येय था इटली और इटली-निवासियों का भावी-हित, इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बने। इस ध्येय की ओर मसोलनी और उसके फासिस्ट अनुयायी अविश्रांत गति से बढ़ रहे थे। इसी दृष्टि से वे लोग सरकार को बदलकर वहां अपना कब्जा जमा लेना चाहते थे। जब फासिस्ट

नव-जवानों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई, हजारों नव-जवान फासिस्ट वर्दीवाले स्वयं-सेवक बन गये, उनको यह महसूस होने लगा कि उनके हाथ में काफी शक्ति है, तब उन्होंने इटली की राजधानी रोम की ओर एक सैनिक कूच कर दिया। इस कूच में ५० हजार फासिस्ट स्वयं सेवक थे। इटली के बादशाह ने पहिले तो चाहा कि फासिस्ट नेता मसोलिनी अन्य दलों के साथ मिलकर अपना मंत्रीमंडल बना ले किंतु वह नहीं माना, अतः गृह युद्ध टालने के लिये बादशाह ने फासिस्ट नेता मसोलिनी को सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित कर दिया। यह घटना सन १६२२ की थी; मसोलिनी की फासिस्ट सरकार कायम हुई और कुछ ही वर्षों में मसोलिनी ने सब शासन सत्ता अपने में केन्द्रित कर ली, वह इटली का तानाशाही शासक बना। फासिस्ट स्वयंसेवक क्रमशः इटली की राष्ट्रीय सेना में भर्ती हो गये। तुरन्त वह इटली को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के काम में लग गया। मजदूर और पूंजीपति और किसान सबको उसने हिंसा और आतंक के डर से मजबूर किया कि वे अधिक से अधिक उत्पादन करें, विरोध का प्रश्न नहीं था क्योंकि विरोध का मतलब था तुरन्त हत्या। मजदूरों से खूब काम लिया गया, और यदि कोई समाजवादी या साम्यवादी नेता सामने आया तो उसको खत्म कर दिया गया। इस एक उद्देश्य और आदेश से कि इटली का साम्राज्य कायम होगा, उसने सारे देश को युद्ध के

लिये तैयार कर दिया। खाद्य के मामले में देश को स्वावलम्बी बनाने के लिये बहुत सी अनऊपजाऊ भूमियों को ऊपजाऊ बनाया गया, किसानों को कृषि के नये वैज्ञानिक उपाय सिखायें गये और इस तरह गेहूं का उत्पादन बढाया गया। व्यवसायिक उन्नति के लिये कोयले की कमी को पूरा करने के लिये बिजली अधिक पैदा की गई।

अब मसोलिनी अपना स्वप्न पूरा करने को आगे बढ़ा। सन् १६३४ में उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। अफ्रीका महादेश में केवल अबीसीनीया ही एक स्वतंत्र देश बचा था, जहां पुराने जमाने से वहीं के आदि निवासियों का एक बादशाह हेलसी.लेसी राज्य करता आरहा था। टैंक, हवाईजहाज, और मशीनगन की शक्ति से अबीसीनीयां को अपने कब्जे में कर लिया गया। राष्ट्र संघ कुछ न कर सका। अबीसीनिया का तमाम कच्चा माल और धन इटली को मिला। वह अब और भी अधिक शक्तिशाली हो गया। सन् १६३६ में उसने अपने पड़ौसी देश अलबेनियां पर आक्रमण कर दिया-तभी से द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

जर्मनी और नाजिज्म

१८७१ ई. में जर्मन प्रदेशों का एकीकरण हुआ था और वहां वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ था। तब से प्रथम महायुद्ध काल तक वह एक अपूर्व शक्तिशाली राष्ट्र बन गया

और उसने लगभग अकेले सारी दुनियां को एक वार हिला दिया। महायुद्ध में अन्त में वह परास्त हुआ: विजेता राष्ट्रों ने संधि के समय उसको बहुत जलील किया और उसे अपना वह अपमान चुपचाप हजम करना पड़ा: किन्तु आग दिल में सुलगती रही। प्रथम महायुद्ध के बाद अब जर्मनी केसर (सम्राट) का खात्मा होचुका था और उसकी जगह जनतंत्रात्मक शासन विधान लागू होगया था। मित्र राष्ट्रों ने चारों ओर से जर्मनी की नाके-बन्दी कर रखी थी. इसके फलस्वरूप खाद्य वस्तुओं का उचित मात्रा में आयात नहीं होता था और लोग, बच्चे और स्त्रियां दुखी थीं। अकाल और अपूर्ण भोजन से जर्मनी में लाखों मौतें हुईं। इसके अतिरिक्त जर्मनी को क्षति पूर्ति के रूप में जुर्माना देना पड़ा। सन् १९२१ में मित्र-राष्ट्रों ने यह जुर्माने की रकम लगभग ६५ अरब रुपया निश्चित किया। वह जर्मनी जहां के उद्योग व्यवसाय युद्ध-काल में छिन्न भिन्न होचुके थे. जहां का खनिज द्रव्य से परिपूर्ण रूर प्रदेश उससे छीन लिया गया था—उपरोक्त क्षति-पूर्ती कैसे करता।

इस दृष्टि से कि जर्मनी क्षति-पूर्ति करने के योग्य हो, इंगलैंड और अमरीका यह चाहने लगे थे कि जर्मनी का व्यवसाय उद्योग फिर से विकसित हो. यद्यपि फ्रांस इस डर से कि जर्मनी फिर कहीं शक्तिशाली नहीं बन जाये इस बात के

विरुद्ध था। अमेरिका ने जर्मनी को खूब ऋण दिया, जर्मनी के उद्योगों का फिर से विकाश हुआ और जर्मनी अपनी उपज का माल भेजकर अपना कर्ज और क्षति-पूर्ति धीरे धीरे अदा करने लगा। किन्तु सन् १६२६ ई. में अमेरिका में एक कठिन आर्थिक संकट आया, और अमेरिका और कोई ऋण जर्मनी को नहीं दे सका। इस आर्थिक संकट का कुप्रभाव सारी दुनियां पर पड़ा, जर्मनी के आर्थिक, व्यवसायिक, औधौगिक क्षेत्र में फिर गति हीनता पैदा हो गई, उसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड़ गई वहां का सबसे बड़ा बैंक फेल हो गया, जर्मन सरकार का दिवाला निकल गया। उस समय जर्मनी में २० लाख आदमी बेकार थे। प्रतिहिंसा की आग और भी धधक उठी। १९३२ ई. में जर्मनी की दशा अत्यन्त शोचनीय हो चुकी थी।

ऐसी परिस्थितियों में वहाँ एक राजनैतिक दल की, जिसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल (National Socialist Party) था जड़ें मजबूत होने लगीं। इस दल की स्थापना तो युद्ध के बाद १६२० में हो चुकी थी, किन्तु अब तक यह अज्ञात था– अब यह प्रकाश में आने लगा।

इसका ध्येय इटली की फासिस्ट पार्टी की तरह तीव्र और शुद्ध राष्ट्रीयता था। यही पार्टी नाजी-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका एक मात्र नेता था हिटलर।

नाजिज्म— प्रत्येक दृष्टि से, ध्येय, आर्थिक उद्देश्य और नीति, सामाजिक उद्देश्य और नीति और साधन इत्यादि में नाजिज्म बिल्कुल इटली के फासिज्म से मिलता जुलता था। कह सकते हैं कि नाजिज्म इटली के फासीज्म का जर्मन संस्करण था। केवल एक बात की इसमें खूब विशेषता थी। वह विशेषता थी हिटलर द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित यह सिद्धांत और भावना कि जर्मन लोग आर्य उपजाति के (Aryan race) विशुद्ध और श्रेष्ठतम वंशधर हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊंची है। "दुनियां में एक विशेष जाति सर्वोच्च और श्रेष्ठत्तर है, वह जाति आर्यन जाति है, उस आर्यन जाति के विशुद्ध वंशज केवल जर्मनी के लोग हैं,"—यह विचार नाजीज्म का मूल मंत्र था। संकुचित राष्ट्रीयता में संकुचित सांस्कृतिक भावना का यह एक रंग था: ध्येय तो यही था कि जर्मन राष्ट्र शक्तिशाली हो और विश्व में राज्य करे।

इटली में फासिस्ट पार्टी की भी धीरे धीरे खूब शक्ति बढ़ी; वहां की रीशस्टेग (Parliament) में इनकी सदस्य संख्या बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त नाजीयों ने फासिस्टों की तरह अपने दल का संगठन सैनिक ढङ्ग से कर रक्खा था। इसका भी रीशस्टेग (Parliament) और देश के अध्यक्ष पर आतंकात्मक प्रभाव था। अन्त में जर्मनी के प्रेजीडेंट

हिंडनवर्ग ने ३० जनवरी सन् १९३३ के दिन नाजी पार्टी के नेता हिटलर को जर्मनी का प्रधान मन्त्री बनने के लिये आमन्त्रित किया। हिटलर प्रधान मन्त्री बना। २३ मार्च सन् १९३३ के दिन रीश-स्टेग ने एक प्रस्ताव पास कर हिटलर को जर्मनी का अधिनायक (Dictator) घोषित किया।

डिक्टेटर हिटलर—ने सब विरोधी संस्थाओं को और विरोधी दलों को, विरोधी जनों को नृशंसता से खत्म किया। यहूदियों को जिनकी उपजाति आर्यन नहीं थी किंतु सेमेटिक, एक एक करके देश निकाला दिया गया या मार डाला गया। यह इसलिये कि प्रत्येक जर्मन में विशुद्ध आर्यन रक्त रहे। साम्यवादियों को भी जो राष्ट्रीयता की नींव को ढीली करते थे उतनी ही क्रूरता से खत्म किया गया। वैज्ञानिक ढंग से प्रचार द्वारा प्रत्येक जर्मन में शुद्ध राष्ट्रीय भावना का संचार किया, और उनको जोत दिया राष्ट्र-निर्माण के काम में। अन्न-उत्पादन बढ़ाया गया, उद्योगों का अधिक विकास किया गया, उद्योगों में काम आने वाले कई कच्चे माल जैसे रबर, चीनी इत्यादि जो जर्मनी को और देशों से नहीं मिलते थे, उसने नये वैज्ञानिक ढंग से अपने कारखानों में ही पैदा करना शुरु किया। हिटलर का ध्येय स्पष्ट था, उस ओर यह बढ़ता हुआ जारहा था उसने अपनी सेना में वृद्धि की, सर्वाधिक वृद्धि वायु सेना में। प्रत्येक

काम बिल्कुल निश्चित प्रोग्रामानुसार होता था और इतना कुशलतापूर्वक कि कहीं भी कुछ भी कमी न रह जाये, विज्ञान की सहायता से युद्ध की मशीनरी को पूर्ण बनाया जारहा था। हिटलर तैयार था–तैयारी कर रहा था।

युद्ध की भूमिका– सन १६३३ में जर्मनी ने राष्ट्र संघ छोड़ दिया. सन १६३५ में सार प्रांत जर्मनी को मिला। उसी वर्ष उसने घोषणा कर दी कि वह वरसाई की संधि की सैनिक शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं है और न क्षति पूर्ति की रकम चुकाने को। सन १६३६ में उसने राइन लेंड पर कब्जा कर लिया। उसी वर्ष तीन राष्ट्रों यथा जर्मनी, जापान और इटली ने साम्यवादी विरोधी इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य था कि रूस और साम्यवाद के खिलाफ ये तीनों देश एक दूसरे की सहायता करें। सन् १६३६ में स्पेन में जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में फासिस्ट शक्तियों ने वहां की जनतंत्र सरकार के विरुद्ध गृहयुद्ध प्रारंभ कर दिया था–इसमें भी जर्मनी और इटली ने फ्रेंको की सहायता की–और फासिस्ट फ्रेंको विजयी हुआ। अन्य जनतन्त्र देश देखते ही रह गये। हिटलर ने फिर देखा कि इटली, अबीसीनिया का अपहरण कर गया और राष्ट्र संघ कुछ न कर सका तो वह जान गया कि राष्ट्र संघ एक थोती वस्तु है–वह कुछ नहीं कर सकती। अतः वह

भी आगे बढ़ा। सन् १९३८ में समस्त आस्ट्रिया देश को उसने जर्मनी का अंग बना लिया और फिर जेकोस्लोवेकिया को धमकी दी कि उसका पच्छिमी भाग सूडेटनलैंड (Sudetan-land) जिसकी बहुसंख्यक आबादी जर्मनी जाति के लोगों की थी, फौरन जर्मनी को सौंप दिया जाय। इङ्गलैंड से वहां का प्रधान मन्त्री चम्बरलेन उड़कर जर्मनी आया। म्यूनिच नगर में चेम्बरलेन, हिटलर और जेकोस्लोवेकिया के अध्यक्ष डा: बीनीज मिले और तय हुआ कि सूडेटनलैंड जर्मनी को दे दिया जाय और फिर इसके आगे जर्मनी न बढ़े। सूडेटनलैंड जर्मनी के हाथ आया, आस्ट्रिया पहिले आ ही चुका था, जर्मनी अब और भी सशक्त था। उपरोक्त म्यूनिक समझौते के कुछ ही दिन बाद हिटलर ने जेकोस्लोवेकिया पर आक्रमण कर दिया और उसे भी जर्मनी का अंग बना लिया। संसार के आश्चर्य का ठिकाना न रहा ? विश्व अब युद्ध के किनारे पर खड़ा था।

युद्ध को रोकने के लिये, विश्व शांति कायम रखने के लिये, राष्ट्रों के झगड़े परस्पर समझौतों से तय कराने के लिये सन् १९१९ में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी। क्या वह संघ विश्व को युद्ध में पड़ने से नहीं रोक सकता था ? दुर्भाग्यवश अमेरिका तो जो एक ऐसा शक्तिशाली देश था और जिसका अच्छा प्रभाव पड़ सकता था शुरु से ही संघ का सदस्य नहीं रहा।

अपने सकुंचित राष्ट्रीय हित में लीन, प्रथम महायुद्ध की विजय के बाद जीत के माल से संतुष्ट इंगलेंड ने राष्ट्र संघ की ओर उपेक्षा का भार बना लिया, फ्रांस अपने आपको अकेला पा शस्त्रीकरण में लगगया। संस्कारित राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठ कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीयता के, मानवता के भाव को नहीं अपना सका:-वही पुरानी नीति, वही पुराना तौर तरीका बना रहा: सब अपने अपने स्वार्थ में रत थे, सब अपनी अपनी गर्ज को मरते थे। राष्ट्र संघ स्वयं के पास ऐसी कोई शक्ति थी नहीं जो राष्ट्रों की सार्वभौम सत्ता को सीमित कर सकती-वस्तुतः राष्ट्र संघ मर चुका था:-युद्ध के लिये रास्ता खुला था।

द्वितीय महायुद्ध (१६३९-१६४५ ई.)

पहली सितम्बर सन १६३९ के दिन जर्मनी ने पौलेंड पर आक्रमण कर दिया। उसने यह बहाना लिया था कि डेनजिंग प्रदेश, और समीपस्थ भूमि का वह टुकड़ा (Corridor) जिसको जर्मनी से छीनकर उसके (जर्मनी) पूर्वी प्रशा के हिस्से को उसके पश्चिमी हिस्से से अलग कर दिया गया था, वस्तुतः जर्मनी का ही था; वह उसे मिल जाना चाहिए था किन्तु पोलेंड और इङ्गलेण्ड दोनों ने मिलकर उसकी यह न्यायपूर्ण मांग पूरी नहीं की थी, अतः उसके लिये और कोई चारा नहीं था। जब जर्मनी ने पोलेंड पर आक्रमण किया तो उसे विश्वास

था कि कोई भी यूरोपीय देश उसमें दखलन्दाजी करने की हिम्मत नहीं करेगा, क्योंकि रूस से एक ही महीने पहिले उसने परस्पर युद्ध निषेध का समझौता कर लिया था। किन्तु उसका ख्याल गलत निकला, उसके पोलेंड पर आक्रमण के तुरन्त बाद इङ्गलैंड और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध आरम्भ हो गया। जर्मनी की मशीन की तरह आर्डर से चलने वाली फौजी शक्ति के सामने न पोलेंड टिक सका न फ्रांस। कुछ ही महीनों में पोलेंड खतम हो गया। उसके बाद जर्मनी ने पच्छिम की ओर अपनी दृष्टि डाली; सन् १९४० के आरम्भ तक डेन्मार्क और नोर्वे खत्म हुए और फिर होलेंड और बेलजियम को पदाक्रान्त करता हुआ वह फ्रांस की ओर बढ़ा। फ्रांस में डनकर्क नगर के पास फ्रांस की फौजों पर एक बिजली की तरह वह टूट कर पड़ा और फ्रांस की लाखों की फौज ऐसे खत्म हो गई मानो बिजली ने उसको मार दिया हो। फिर तुरन्त फ्रांस की राजधानी पेरिस पर कब्जा कर लिया गया। फिर इङ्गलैंड पर भयंकर हवाई आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। इङ्गलैंड में धन, जन उद्योगों का भयंकर विनाश हुआ–किंतु इङ्गलैंड दबा नहीं–वह किसी न किसी तरह खड़ा रहा।

भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये वह बाल्कन देशों में बढ़ता हुआ ग्रीस और क्रीट पर जा टूटा और उन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली सितम्बर सन्

१९४१ तक ग्रेट ब्रिटेन और पूर्वीय रूस को छोड़कर जर्मनी समस्त यूरोप का अधिपति था। नोर्वे, होलेण्ड, वेलजियम, डेनमार्क, उत्तरी-फ्रांस, आस्ट्रिया, जेकोस्लोवेकिया, पोलैंड और वाल्टिक सागर के तीन छोटे छोटे प्रदेश अस्टोनिया, लेटविया, लिथूनियां, ग्रीस, क्रीट और पच्छिम रूस पर तो जर्मनी का सीधा अधिकार था, बाकी के देश यथा स्पेन, रूमानिया, बलगेरिया, जुगोस्लेविया, हंगरी, फिनलेण्ड या तो उसके मित्र थे या उसके हाथ की कठपुतली। दुनियां हैरान थी, इङ्गलैंड और फ्रांस घबराये हुए। सन् १९३९ अगस्त की जर्मन-रूस संधि खत्म हो चुकी थी। जापान पिछले कई वर्षों से (१९३७) से चीन पर धीरे धीरे अपना कब्जा जमा रहा था—और फिर सहसा दिसम्बर १९४२ में उसने प्रशान्त महासागर में स्थित अमेरिकन बन्दरगाह पर्ल हारबर (Pearl Harbour) पर आक्रमण कर दिया—और उस महत्वपूर्ण स्थान पर अपना कब्जा कर लिया। अमेरिका ने भी युद्ध घोषित कर दिया।

पक्षः—अब इस द्वितीय महायुद्ध में दो पक्ष इस प्रकार बन गये। एक पक्ष जर्मनी, इटली, और जापान का जो धुरि राष्ट्र कहलाये। इनके पास उपरोक्त पदाक्रांत देशों के सब साधन थे। दूसरा पक्ष इङ्गलैंड, फ्रांस, रूस, चीन और अमेरिका जो मित्र-राष्ट्र कहलाये। इनके पास इंगलेण्ड के राज्य भारत और लंका, इङ्गलेण्ड के स्वतन्त्र उपनिवेश आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण

अफ्रीका संघ, न्यूजीलैण्ड इत्यादि; दक्षिण अमेरिका के देश एवं अफ्रीका उपनिवेश के साधन थे।

युद्ध-क्षेत्रः-दुनियां में तिब्बत, दक्षिण अमेरिका, अफगानिस्तान,एवं अन्य एक दो ऐसे दूरस्थ देशों को छोड़ कर, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा जहां युद्ध सम्बन्धी फौजी हलचल नहीं हुई हो। महासमुद्र तो पनडुब्बी, माइनस, इत्यादि के खतरों से कोई भी खाली नहीं था। युद्ध की गति तीव्र थी। पच्छिम में तो जर्मनी विजयी हो रहा था, पूर्व में उसी तरह जापान बिजली की तरह आगे बढ़ने लगा था। समस्त पूर्वीय चीन पर तो उसने कब्जा कर ही लिया था, फिर फिलीपाइन द्वीप समूह पर सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, न्यूगीनी, इत्यादि समस्त पूर्वी द्वीप समूह पर और फिर मलाया और बरमा पर उसने कब्जा कर लिया। भारत के आसाम प्रान्त में उसने हवाई- आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे।

सन् १९४२-४३ में युद्ध कुछ पलटा खाने लगा। जर्मनी की फौजें दूर रूस में फंस गई। इधर अफ्रीका में मित्र-राष्ट्रों ने अबीसीनिया जो इटली के कब्जे में था और उत्तर अफ्रीका में अपने हमले प्रारम्भ कर दिये। सन् १९४३ के प्रारम्भ तक अफ्रीका से सब इटालियन सिपाही साफ कर दिये गये। सन् १९४३ के मध्य में मित्र राष्ट्रों द्वारा इटली और सिसली पर आक्र-

मण किया गया और जर्मनी स्वयं पर एंग्लोअमेरिकन बोम्बर्स ने हवाई-आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। जून सन् १६४४ में एंग्लो अमेरिकन फौजों ने जमीन के रास्ते से पच्छिमी यूरोप से जर्मनी पर हमले प्रारम्भ कर दिये। उधर पूर्वीय यूरोप में रूसी फौजें भी जर्मनी फौजों को खदेड़ती हुई आगे बढ़ने लगी। अन्त में जर्मनी का तानाशाह हिटलर रणक्षेत्र में मारा गया या उसने आत्महत्या कर ली; इटली का तानाशाह मसोलिनी भी गोली से उड़ा दिया गया। मई सन् १६४५ के दिन यूरोप का युद्ध समाप्त हुआ और जर्मनी ने पराजय स्वीकार कर ली। पूर्व में जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रहा। ६ अगस्त सन् १९४५ के दिन अमेरिका ने एक बिल्कुल नया अस्त्र, अणु बम (Atom-Bomb) जापान के हीरोसीमा नगर पर डाला और दूसरा बम ६ अगस्त को नागासाकी नगर पर। इन दो बमों ने प्रलयङ्कारी विध्वंस मचा डाला-सैकडों मीलों तक उसकी गैस और आग की लपटों की झुलस पहुंची। विश्व इतिहास में यह एक अद्भुत विनाशकारी अस्त्र निकला। इसका अनुमान हिरोशामा नगर पर जो बम डाला गया था उसके परिणाम से लगाइये। नगर पर एक हवाई-जहाज से जो ३०००० फीट की ऊँचाई पर उड़ रहा था, एक अणु बम डाला गया जिसका वज़न ५० मन था। नगर की आबादी ३ लाख थी जिसमें से ९२००० मर गये इसके अलावा ४० हज़ार घायल हुए; ६०००० घरों में से ६२००० घर गिर गये।

और यह सब बम गिरने के कुछ ही देर बाद हो गया। बम गिरने के बाद भयंकर धुएं के बड़े बड़े बादल ४०००० फीट की ऊँचाई तक उड़े थे। जापान इसके सामने कैसे ठहर सकता था अन्त में उसने भी १४ अगस्त सन् १९४८ के दिन पराजय स्वीकार कर ली।

द्वितीय विश्व व्यापी महायुद्ध जो पहली सितम्बर सन् १९३९ के दिन प्रारम्भ हुआ था, ६ वर्ष में १४ अगस्त सन् १९४५ के दिन समाप्त हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के तात्कालिक परिणाम—

१. युद्धजनित विनाश: कल्पनातीत भयंकर विनाश हुआ, क्योंकि युद्ध के अस्त्र प्रलयंकारी थे,—अणुबम जैसे प्रलयंकारी। अनेक नगर, उद्योग, खेत, भवन, कारखाने राख बनगये; २।। करोड़ जन की प्राण हानि हुई, और फलस्वरूप कितना दुःख और विषाद कोई चिंतन कर सकता है? ४ खरब डालर युद्ध में व्यय हुआ,—इतना तो व्यय हुआ, किन्तु विनाश कितना धन हुआ, इसका कुछ अनुमान नहीं। सब देशों में जीवन अस्त व्यस्त होगया, जीवन का पुनर्निर्माण एक भागीरथ काम होगया। सब देशों में भयंकर अन्नाभाव, मंहगाई, दुःख, शंका और अंधेरा। आज (१९५०) पांच वर्ष के बाद भी मानव युद्ध जनित अन्नाभाव, मंहगाई, दुःख, शंका और अंधेरे से मुक्त नहीं।

२. विजित राष्ट्रों की व्यवस्था

१. इटली–युद्धोत्तर काल में विजयी राष्ट्रों ने इटली को स्वतंत्र छोड़ दिया। वहां अब एक स्वतंत्र जनतन्त्रात्मक राज्य कायम है।

२. जर्मनी–शांति घोषणा के वाद जर्मनी का एक छोटासा पूर्वीय हिस्सा तो जर्मनी से पृथक कर दिया गया जो पोलेंड में मिल गया। शेष जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभाजित करदिया गया जिनमें क्रमशः इंगलेंड, फ्रांस, अमरीका और रुस का सैनिक अधिकार कायम कर दिया गया। यह निर्णय किया गया कि यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक जर्मनी के साथ कोई स्थायी संधि नहीं होजाती। आज सन् १६५० तक जर्मनी का प्रश्न अभी विचाराधीन है। आस्ट्रिया में भी (जहां कि बहुजन संख्या जर्मन लोगों की है) जर्मनी के समान उपरोक्त चार राष्ट्रों का सैनिक अधिकार है।

३. जापान—युद्ध के वाद जापान पर अमरीका का सैनिक अधिकार स्थापित कर दिया गया—तब तक के लिये जब तक कि जापान के साथ कोई स्थायी संधि नहीं होजाती। आज तक जापान पर अमेरिका के प्रतिनिधि जनरल मैकआर्थर का सैनिक नियंत्रण है और यह कोशीश की जारही है कि जापान का मानस जन तंत्रवादी बने। युद्धकाल में जापान द्वारा विजित देश जैसे, वरमा

हिंदेशिया, मलाया, फिलीपाइन द्वीप युद्ध-पूर्व स्थिति में आगये, यथा हिंदेशिया पर पूर्ववत उच राज्य कायम होगया; बरमा और मलाया में अंग्रेजों का अधिकार रहा; मंचूरिया चीन की साम्यवादी क्रांति के बाद पूर्ववत चीन का अंग रहगया, कोरिया पर रूस और अमरीका की फौजों का अधिकार रहा-३८ अक्षांस के उत्तर में रूस और दक्षिण में अमरीका।

संसार के शेष राज्यों की राजनैतिक स्थिति बिल्कुल वही रही जो युद्ध के पहिले थी।

३. शांति के प्रयत्न—जब युद्ध लड़ा जारहा था तो मित्रराष्ट्रों ने घोषणा की थी कि यह युद्ध जनस्वतंत्रता, राष्ट्रस्वतंत्रता और जनतंत्रवाद (Democracy) के लिये लड़ा जारहा है। स्वयं अमरीका के प्रेसीडेंट रुजवल्ट ने घोषणा की थी-हम ऐसे संसार और समाज की स्थापना के लिये लड़ रहे हैं जिसका संगठन चार आवश्यक मानवीय स्वतंत्रताओं के आधार पर होगा। पहिली यह है कि दुनिया में सर्वत्र वाणी और विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो। दूसरी यह कि मानव को धर्मपालन की स्वतंत्रता हो,-वह चाहे जिस धर्म का पालन कर सके, धर्म के मामले में कहीं जोर जबरन न हो। तीसरी यह कि मानव गरीबी से मुक्त हो, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक देश के निवासियों को वे साधन उपलब्ध हो जिससे कि वे स्वस्थ जीवन यापन कर सकें। चौथी स्वतंत्रता यह कि प्रत्येक

देश किसी भी दूसरे देश के आक्रमण के डर से मुक्त हो,–जिसका अर्थ हुआ राष्ट्रों का निःशस्त्री करण। इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के लिये मानव ने एक व्यवहारिक कदम उठाया—

संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.)

जिस प्रकार पिछले महायुद्ध के बाद विश्व शांति कायम रखने के लिये विश्व के राष्ट्रों का एक संघ बना था और जिसका बाद में व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो अस्तित्व ही मिट चुका था, लगभग वैसा ही और उन्हीं सिद्धान्तों पर द्वितीय महायुद्ध के बाद एक संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। युद्ध कि समाप्ति के बाद विश्व के अनेक राष्ट्र जो किसी न किसी रुप में युद्ध में लड़े थे, जिनमें संयुक्त राज्य अमरीका, रुस, इङ्गलेंड, फ्रांस और चीन प्रमुख थे, अमरीका के प्रसिद्ध नगर सेनफ्रांसिसको में एकत्रित हुए, और उन्होने संयुक्तराष्ट्रों का एक चार्टर (घोषणा पत्र) बनाया जिसके अनुसार उन्होंने एक संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना की। इस चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य, साधन और उसका विधान सम्मिलित थे। इस चार्टर पर एकत्रित राष्ट्रों ने २६ जून १९४५ के दिन हस्ताक्षर किये।

उदेश्य—यह जो संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित किया गया, उसके उदेश्य थे:—अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखना। यदि शांति भंग का कहीं खतरा हो तो उसे रोकने और हटाने के

लिए सामूहिक कार्यवाही करना। किसी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े के या ऐसी परिस्थितियों के जिनसे शांति भंग हो उपस्थित होजाने पर न्याय और अंतर्राष्ट्रीय नियमानुसार उनका शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा करना। राष्ट्रों में इस सिद्धान्त को मानते हुए कि सबके अधिकार समान हैं, परस्पर मित्रता पूर्ण सम्बंध स्थापित करना। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से काम करना एवं सबके समान मानवीय अधिकारों और आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति आदरभाव को प्रोत्साहित करना।

सदस्य—जिन राष्ट्रों ने प्रारंभ में ही उपरोक्त चार्टर पर हस्ताक्षर किये वे तो राष्ट्रसंघ के सदस्य थे ही, इनके अतिरिक्त कोई भी अन्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर, जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर संयुक्तराष्ट्र संघ का सदस्य बन सकता है। आज सन् १९५० में ६० राज्य (States) इसके सदस्य हैं।

संगठन—संयुक्त राष्ट्र संघ का काम सुचारु रुप से चलाने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के कई अंग स्थापित किये गये।

१. जनरल असेम्बली—संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य जनरल असेम्बली के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य (राष्ट्र) जनरल असेम्बली में बैठने के लिए ५ प्रतिनिधि भेज

सकता है किन्तु प्रत्येक सदस्य (राष्ट्र) का वोट एक ही होगा। जनरल असेम्वली उन तमाम मामलों पर जो संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के अन्तर्गत आते हैं बहस कर सकती है और उनके विषय में सुरक्षा परिषद को अपनी सिफारिश कर सकती है। इसका अर्थ यही है कि जनरल असेम्वली केवल वाद विवाद एवं विचार विनिमय करने का एक प्लेट फोर्म-मंच मात्र है।

२. सुरक्षा परिषद्—सदस्य-संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और चीन स्थायी सदस्य हैं; और जनरल असेम्वली द्वारा निर्वाचित ६ अन्य अस्थायी सदस्य। और इस प्रकार कुल ११ इसके सदस्य होते हैं। कार्य-राष्ट्र के परस्पर झगड़ों की जांच करना, समझौते करवाना, आक्रमणकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करना-इत्यादि। सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्यकर्त्री अंग है। यही मुख्य कार्य पालिका (Executive) है; इसको किसी राज्य का मन्त्री मण्डल कह सकते हैं। सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यों को किसी भी बात पर अपना विशेष निषेधाधिकार (Veto) काम में लाने का हक है। अर्थात् यदि सभी सदस्य किसी एक प्रश्न पर अपना निर्णय बनाते हैं, किन्तु एक स्थायी सदस्य उस निर्णय से सहमत नहीं होता तो वह उस निर्णय को ही रद्द कर सकता है और उस प्रश्न पर कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सुरक्षा परिषद

के स्थायी सदस्यों को यह एक ऐसा अधिकार है कि उनमें से कोई भी एक यदि चाहे तो सुरक्षा परिषद और जनरल असेम्बली के सब निर्णयात्मक कामों को रोक सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। ऐसा अधिकार इन स्थायी सदस्यों को इन पांच बड़े राष्ट्रों को क्यों दिया गया ? स्यात् इसीलिये कि युद्धकाल में युद्ध का विशेष भार और उसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर रहा और युद्धोतर काल में अपनी विशेष शक्तिशाली स्थिति के अनुसार शांति के उत्तरदायित्व का भार इन्हीं पर रहा। जो कुछ हो इससे यह तो स्पष्ट झलकता है कि इस प्रकार के अधिकार की व्यवस्था होते समय इन पांचों राष्ट्रों के दिल एक दूसरे के प्रति साफ नहीं थे; एक दूसरा एक दूसरे को संदेहात्मक दृष्टि से देख रहा होगा।

३. ट्रस्टी शिप कौंसिल— सदस्य-चीन, फ्रांस, रूस, ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका तो स्थायी सदस्य; तथा उपनिवेशों पर शासन करने वाले देश, तथा उपनिवेशों पर शासन न करने वाले उतने ही सदस्य जितने की शासन करने वालों के हैं। कार्य—समस्त उपनिवेशों की प्रगति देखते रहना और वहां के लोगों को उन्नत बनाने के प्रयत्न करना।

४. मिलिटरी स्टाफ कौंसिल— सदस्य–पांच बड़े राष्ट्रों के सैनिक प्रतिनिधि। कार्य—सुरक्षा परिषद का आदेश मिलने पर आक्रमक देश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना।

५. अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेना– सदस्य–ऐसी आशा है कि संघ के समस्त सदस्य इसमें योग दें। कार्य–शांति स्थापन के लिये सेना तथा अन्य तत्संबंधी सुविधायें प्रदान करना ।

६. आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल– सदस्य–जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित कोई भी १८ सदस्य। कार्य-सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के लिये सिफारिश करना तथा संबंधित विशेषज्ञ समितियों जैसे यूनेस्को (Unesco=शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक आयोग), अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, खाद्य और कृषि संगठन, इत्यादि में परस्पर संबंध स्थापित करना।

७. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय– संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य जूडिशियल अंग है। जनरल असेम्बली तथा सुरक्षापरिषद द्वारा निर्वाचित १५ न्यायाधीश राष्ट्रों के पारस्परिक कानूनी झगड़ों को तय करते हैं ।

८. सचिवालय– संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्य वाहक दफ्तर है। इसका सेक्रेटरी जनरल सुरक्षा परिषद की सलाह से जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित होता है। सेक्रेटरी जनरल का पद बहुत उत्तरदायित्व और महत्व का पद है। सेक्रेटरी जनरल अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा पर आघात करने वाले सभी मामलों को 'सुरक्षा परिषद' के समक्ष रखता है। तथा, जनरल असेम्बली के सामने वार्षिक रिपोर्ट पेश करता है । राष्ट्र संघ

का स्थायी कार्यालय लेकसकसस-अमेरिका में रक्खा गया। कार्यालय का एवं संघ के भिन्न भिन्न अंगों का संगठन बहुत ही कुशल और सुव्यवस्थित है। कार्यालय में विश्व के चुने गये बुद्धिमान और कुशल लगभग ३००० व्यक्ति सेक्रेटरी, अफ़सर, क्लर्क, इत्यादि की हैसियत से काम करते हैं। काम के ढंग से, संगठन के ढंग से, पत्रों और संवादों और प्रस्तावों के ढंग से तो ऐसा ज्ञान होता है मानो कोई विश्व-राज्य का संचालन हो रहा हो।

ऐसा यह राष्ट्र-संघ बना। सन् १९४५ से १९५० तक इसका इतिहास आशा और गौरवपूर्ण नहीं रहा। ऐसा अनुभव रहा कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर संघ कोई भी क्रियात्मक, फलदायक कार्यवाही नहीं कर सका। जितने भी महत्वपूर्ण प्रश्न आये उन पर सुरक्षा परिषद् के किसी न किसी स्थायी सदस्य ने अपने निषेधात्मक अधिकार से क्रियात्मक निर्णय नहीं होने दिया। यह है राष्ट्र-संघ की कहानी। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो पाया हो किंतु अन्य क्षेत्रों में संघ ने—जैसे विश्व में वैज्ञानिक ज्ञान प्रसार के लिये, विश्व की सामाजिक, शैक्षणिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने में, विश्व क्षेत्र में सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में, एक स्वतंत्र, स्वस्थ

और सुखद जीवन किस प्रकार विश्व में जन जन को प्राप्त हो इसका रास्ता ढूंढने के प्रयत्नों में, प्रशंसनीय कार्य किया है और करता जा रहा है।

यदि मानव समझे तो यह संयुक्त राष्ट्र-संघ एक विश्व राज्य बन सकता है। कुछ न भी हो, तब भी इतना तो हम स्पष्ट देख सकते हैं कि आज सम्पूर्ण विश्व के मानव परस्पर इतने संबद्ध हैं कि किसी भी एक व्यक्ति या किसी भी एक राष्ट्र का शेष विश्व से पृथक अस्तित्व नहीं:–आज मानव को इतना चेतन ज्ञान है कि वह व्यवहार में "विश्व का एक संगठन" प्रस्तुत कर सके।

—*—

५८

विश्व-इतिहास

(१९४५–५०.)

द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) में अक्षम्य विनाश हुआ। जब युद्ध चल रहा था, जब जापान के हिरोशीमा और नागासाकी नगर पर अणु बम डाले गये थे, तब ऐसा प्रतीत होता था मानो इतिहास की गति रुकने वाली है। किन्तु युद्ध समाप्त हुआ और ५० हजार वर्ष पुराना मानव फिर गतिमान हो चला, उसका इतिहास भी गतिमान हो चला।

स्वतंत्र एशिया- सन १९३९ ई. में युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व प्राय: समस्त एशिया, आर्थिक दृष्टि से, यूरोपीय देशों द्वारा शोषित था; इतना ही नहीं वरन् एशिया के अनेक प्रदेश यूरोपीय देशों के राजनीतिक गुलाम भी थे। केवल ६ देश राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण स्वतंत्र थे–जापान, चीन, स्याम, अफग़ानिस्तान, ईरान और साऊदी अरब। किंतु सन् १९४५ ई. में युद्ध की समाप्ति के बाद स्वतंत्रता की एक लहर समस्त एशियाई देशों में गई। द्वितीय महायुद्ध जब हो रहा था–तो मित्र राष्ट्रों द्वारा यह कहा जारहा था कि "यह युद्ध स्वतंत्रता के लिये है"। युद्ध के समाप्त होते ही तो मित्र राष्ट्रों की ये युद्धकालीन सब घोषणायें पाखंड भरी मालूम होने लगीं, किंतु धीरे धीरे वातावरण स्पष्ट होता गया और आज यह महसूस किया जा रहा है कि वास्तव में यह युद्ध स्वतंत्रता के लिये लड़ा गया था। युद्ध समाप्त होने के चार वर्षों के अंदर अंदर अनेक देश स्वतंत्र होगये:–१९४५ में फिलीपाईन अमेरिका से स्वतंत्र हुआ; १९४७ में विशाल देश भारत अंग्रेजी राज्य से स्वतंत्र हुआ; इसी प्रकार हुआ बरमा और लंका भी स्वतंत्र हुए; ईरान, सीरिया, ट्रांसजोर्डन, और फलस्तीन भी अंग्रेजी या फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त हुए; १९४९ में विशाल हिंदेशिया डच राज्य से स्वतंत्र हुए। अक्टूबर १९५० में मिश्र ने भी इंगलैंड के साथ हुई सन् १९३६ की संधि को जिसके अनुसार ब्रिटेन को मिश्र में नियमित सेनायें रखने का अधिकार

था, रद्द घोषित किया और इस प्रकार मिश्र ने ब्रिटेन के अवशेष प्रभाव चिन्ह साफ कर दिये। केवल ३ देश परतंत्र बचे हैं:-फ्रांस के अधिकार में हिंद चीन, इङ्गलैंड के अधिकार में मलाया एवं ईगलैंड और होलैंड के अधिकार में न्यूगिनी। ये छोटे छोटे देश भी स्वतंत्र हो जायें इसमें कोई संदेह नहीं। ये देश किसी साम्राज्यवादी लोभ या भावना के वश या आर्थिक शोषण के उद्देश्य से अभी परतंत्र हों, सो बात नहीं, किंतु अमरीका और यूरोप के जनतंत्रवादी भावना वाले देश एशिया में चीन और रूस के बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोकना चाहते हैं, अतः फिलहाल इन देशों में जमे रहना चाहते हैं।

एशिया में साम्यवादी प्रसार—इस दुनियां की सर्व प्रथम साम्यवादी क्रांति रुस में सन् १९१७ में हुई थी। साम्य-वाद का दार्शनिक आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद; और इसका इतिहास का विश्लेषण और अध्ययन करने का ढङ्ग भी है "भौतिकवादी"। इतिहास के इस प्रकार के विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर साम्यवादी इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि दुनियां में साम्यवाद का आना अवश्यंभावी है,—इतिहास की शक्तियां इस दिशा की ओर ही काम कर रही हैं। साम्यवादी रुस ने अपने आपको इस ऐतिहासिक क्रांति का अग्रदूत माना है। याद होगा कि रुस की साम्यवादी क्रांति के बाद वहां के

एक नेता ट्रोटस्की ने कहा था कि तुरन्त ही विश्व में साम्यवादी क्रांति होनी चाहिए, किन्तु उस समय लेनिन और स्टालिन ने विश्व क्रांति के लिये परिस्थितियां उचित नहीं समझी थीं। आज रूस और स्टालिन यह समझ रहे प्रतीत होते हैं कि ऐसी परिस्थितियां आ गई हैं कि विश्व में साम्यवादी क्रांति हो,—और वे इस ओर अग्रसर हैं। द्वितीय महायुद्धोत्तर काल की यह एक वस्तु स्थिति है।

चीन—चीन में युद्ध के तुरन्त बाद चांग काईशेक की राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना हुई। किन्तु उसकी स्थापना के तुरन्त बाद साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का पुराना गृह-युद्ध फिर छिड़ गया। सन् १९४९ ई. में अन्त तक यह गृह-युद्ध चलता रहा; आखिर साम्यवादी शक्तियों की विजय हुई और माओत्से तुंग के अधिनायकत्व में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। इस साम्यवादी सरकार ने फरवरी १९५० में साम्यवादी रूस से एक संधि की। इस संधि के अनुसार मंगोलिया, मंचूरिया और सिक्यांग प्रदेश जो पहिले रुस के प्रभाव में थे, चीन के अधिकार में आ गये; और दोनों देश परस्पर आर्थिक, औद्योगिक और युद्ध कालीन सहायता के सम्बन्धों में जुड़ गये। इस प्रकार दुनियां का एक बहुत पुराना और सब से घनी आबादी वाला देश साम्यवादी हो गया।

तिब्बत—मुख्य चीन से जुड़े हुए मंचूरिया, मंगोलिया और सिक्यांग तो वृहद् चीन के अंग बन ही गये। वृहद् चीन के नक्शे को पूरा करने के लिये अब केवल तिब्बत बचा था। तिब्बत भारत के उत्तर में एक उच्चपर्वतीय प्राचीन देश है। ७वीं शती के पूर्व तो यहां प्रायः असभ्य लोग छोटे छोटे समूहों में रहते थे। भारत और चीन से वहां सभ्यता का प्रकाश पहुँचा। ६३० ई. में पहिले पहल एक सम्राट ने जिसका नाम स्रोड़यनगबो था समस्त तिब्बत को एकतन्त्र के आधीन संगठित किया, ल्हासा राजधानी की स्थापना की और भारत और चीन से अपना सम्पर्क बढ़ाया, और वहां बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। तब से आज तक तिब्बत बौद्ध लामाओं, कला और साहित्य का देश रहा है—आधुनिक दुनियाँ के आगमन से बहुत दूर। ऐसे तिब्बत पर नवम्बर १९५० में चीन की साम्यवादी सेना ने आक्रमण किया, और वहां साम्यवादी चीन की संरक्षता में एक लामा की सरकार स्थापित की—साम्यवादी वृहद् चीन का नकशा पूरा हुआ।

हिंदचीन, मलाया, बरमा, स्याम—ये चारों देश चीन के पड़ोसी हैं। चीन जब साम्यवादी बन गया तो उसका प्रभाव इन देशों पर पड़ना स्वाभाविक था। इन चारों देशों में किसी न किसी प्रकार की साम्यवादी खटपट चल ही रही है। हिंदचीन में,

फ्रांस की संरक्षता में एक राष्ट्रीय राजा जिसका नाम "बाओदाई" है, स्थापित है; किन्तु वहीं का एक साम्यवादी नेता 'हो चिन्ह मीन' साम्यवादी सरकार स्थापित करने के लिये गुरीला ढंग की लड़ाइयां लड़ रहा है। ऐसे समाचार भी आते रहते हैं कि साम्यवादी चीनी सेना हिन्दचीन की सीमापर हलचल जारी रखती है। उधर मलाया और बरमा में भी तद्देशीय साम्यवादी लोगों के गुरीला ढंग के गृहयुद्ध बराबर जारी हैं; मलाया की ब्रिटिश सरकार और बरमा की राष्ट्रीय सरकार सतत प्रयत्नशील होते हुए भी और प्रतिदिन लाखों रुपैया खर्च करते हुए भी उनको दबाने में असफल रही है। यद्यपि स्याम में अपेक्षाकृत शांति है, किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि साम्यवाद आया तो वहां के लोग उसका सहर्ष स्वागत करेंगे; उसको रोकने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

फारमूसा—चीन की मुख्य भूमि से ९० मील पूर्व में एक छोटा सा उपजाऊ द्वीप है। जनसंख्या ५० लाख है, जिनमें ९५ प्रतिशत चीनी हैं, शेष कुछ तो जापान से आये हुए विदेशी, एवं कुछ लाख डेढ़ लाख आदि असभ्य लोग। प्राचीन काल से सन १८९४-९५ तक फारमूसा चीन राज्य का अंग रहा, जब जापान के साथ चीन के युद्ध में फारमूसा पर जापान का अधिकार हुआ। तब से द्वितीय महायुद्ध तक अर्थात १९४५ तक

फारमूसा जापानी साम्राज्य का ही अंग रहा। महायुद्ध में जापान की पराजय के बाद चीन ने फारमूसा में जापानी सेनाओं का आत्मसमर्पण स्वीकार किया. और फिर से फारमूसा चीन का अंग बना। चीन में साम्यवादी एवं राष्ट्रवादी पक्षों में गृहयुद्ध हुआ. १६४६ में राष्ट्रीय पक्ष की. जिसके नेता चांगकाईशेक थे, हार हुई। चांगकाई शेक ने भागकर फारमूसा में शरण ली. और साम्यवादी शक्ति की बाढ़ को रोकने के लिए अमरीका से सहायता की अपेक्षा करने लगा। सुदूर पूर्व में फारमूसा का सामरिक महत्त्व है, अतः अमरीका ने वहां एक जहाजी बेड़ा कायम किया। आज फारमूसा के लिये साम्यवादी चीन और अमरीका में कशमकश है। किसी भी समय वहां युद्ध की चिनगारी लग सकती है।

कोरिया और कोरिया का युद्ध—कोरिया चीन के उत्तरपूर्व में एक छोटा देश है; २। करोड़ जन संख्या है। मंगोल उपजाति के ये लोग हैं, यूराल-अल्ताई परिवार की कोरियन भाषा बोलते हैं—लिखावट चीनी से मिलती जुलती है। मुख्य धर्म कनफ्यूसियश और बौद्ध है। इस देश का इतिहास प्राचीन है. ईसा की चतुर्थ शताब्दी में चीन की प्राचीन संस्कृति के सम्पर्क से कोरिया एक सभ्य देश था. और बौद्ध वहां का धर्म। सन् १५६२ तक वहां स्वतन्त्र कोरिया के राजाओं का राज्य

रहा,-फिर जापान और चीन का दखल होने लगा। सन् १९०५ में कोरिया जापानी साम्राज्य का अंग बना। द्वितीय महायुद्ध काल के अंततक (१९४५) वहां जापान का अधिकार रहा। जब युद्ध हो रहा था तो उत्तरी कोरिया में तो रुसी फौजें और दक्षिणी कोरिया में अमरीकी फौजें जापानियों से लड़ रही थीं। जापान की पराजय के बाद उत्तरी कोरिया में रुस का प्रभाव रहा और दक्षिणी कोरिया में अमरीका का; इस प्रकार देश के दो विभाग हो गये। इस उद्देश्य से कि एक ही देश दो खंडो में विभाजित नहीं रहना चाहिये उत्तरी कोरिया ने जो साम्यवादी रुस के प्रभाव में था प्रयत्न किया कि वह और दक्षिणी भाग मिलकर एक हो जायें। दक्षिण कोरिया ने जो अमरीका के प्रभाव में था इसका विरोध किया। उत्तरी कोरिया ने युद्ध का रास्ता अपनाया-२३ जुलाई १९५० के दिन दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। वास्तव में तथ्य यह था:-रुस अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना चाहता था, अतः वह चाहता था कि दक्षिण कोरिया उत्तरी कोरिया में सम्मिलित हो, और इस प्रकार सम्पूर्ण देश पर जिसका प्रशांत महासागर में बड़ा सामरिक महत्त्व है उसका प्रभाव हो। अमरीका इसको सहन नहीं कर सका अतएव अमरीका ने दक्षिण कोरिया का पक्ष लेकर प्रत्याक्रमण किया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने जिसका रुस ने बहिष्कार कर दिया था प्रस्ताव पास किया कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के

अनुसार आक्रमक उत्तर कोरिया या तो तुरन्त युद्ध बंद करदे, अन्यथा राष्ट्र संघ के सदस्य आक्रमक का मुकाबला करके उसको उचित दंड दें। प्रस्ताव के अनुसार अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों की फौजें वहां पहुंच गई। अमरीका ने युद्ध का मुख्य उत्तरदायित्व अपने पर लिया। जुलाई से आज दिसम्बर ५० तक वहां बराबर युद्ध हो रहा है। रूस के प्रभाव से चीन ने अपनी लाखों साम्यवादी फौजें कोरिया के युद्ध में भेजदीं। मुख्य युद्ध चीनी साम्यवादी और अमरीकी फौजों में हो रहा है। युद्ध भयंकर और विनाशकारी हो रहा है–क्या यह तृतीय महायुद्ध का श्री गणेश नहीं है? संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से कई प्रयत्न हुए की कोरिया के प्रश्न पर रूस और अमरीका में कोई समझौता हो जाये—किन्तु सब विफल।

उपरोक्त साम्यवादी हलचल–यह तो युद्धोत्तर काल में मानव कहानी के प्रवाह की एक धारा हुई। किंतु याद रखना चाहिये कि इतिहास का प्रवाह सरल नहीं होता, इसमें अनेक धारायें प्रति धारायें होती हैं, अनेक चक्कर और भंवर होते हैं। इन्हीं सबको मिलाकर समग्र इतिहास की एक दिशा बनती है, कहानी का एक रूप बनता है।

युद्धोत्तरकाल में दो नये राष्ट्रों का जन्म

(१) इजराइल–फलस्तीन (इजराइल) पर राष्ट्र संघ के

शासना देश के अनुसार ब्रिटिश देखरेख थी। इस शासना देश की अवधि १४ मई सन् १९४८ के दिन समाप्त हुई । फलस्तीन में यहूदी और अरबों के बराबर झगड़े चलते रहते थे ।

जिस रोज ब्रिटिश देख-रेख समाप्त हुई उसी रोज यहूदियों ने स्वतंत्र इजराइल राज्य की बड़े जोर-शोर से घोषणा करदी। जिस समय उन्होंने यह घोषणा की उस समय फलस्तीन की राजधानी यरुशलम और आसपास का लगभग आधा देश यहूदियों के हाथ में था। इस प्रकार संसार में बिल्कुल एक नये राज्य की स्थापना हुई। अमरीका, रुस एवं अन्य अनेक राष्ट्रों ने नये इजराइल राज्य के अस्तित्व को विधिवत मान्यता भी देदी। इस पर मध्य पूर्व के अरब देश यथा ईराक, सीरिया, साऊदी अरब, मिश्र इत्यादि बिगड़ खड़े हुए और उन सबने मिलकर एक "अरब लीग" के आधीन स्वतंत्र इजराइल राज्य का विरोध करना शुरु कर दिया। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में मध्य-पूर्व का यह झगड़ा भी दुनियां के लिये एक परेशानी सा बना हुआ है ।

(२) **पाकिस्तान**—युग युगान्तरों से एक शरीर, एक प्राण, एक आत्मा था भारत। उसका सन् १९४७ ई. में यहां के निवासियों को स्वतन्त्रता सौंपते समय अंग्रेज सरकार ने दो भागों में विभाजन किया। हिंदू बाहुल्य प्रांतों का एक भाग बना भारत संघ और दूसरा भाग मुसलमान बाहुल्य प्रांतों का पाकिस्तान।

पाकिस्तान एक मजहबी इस्लामी राष्ट्र है जिसका संगठन वहां के नेताओं की घोषणा के अनुसार होरहा है—"शरीयत के उसूलों पर" (मुसलमानों की धार्मिक पुस्तक कुरान के उसूलों पर)। उसकी समस्त नीति, समस्त आकांक्षा, समस्त हलचल बस एक—कि भारत के मुकाबले में मजबूत बनना, यदि संभव होसके तो पच्छिमी एशिया में इस्लामी देशों का एक अंतर्राष्ट्रीय गुट्ट बना कर।

"अरब लीग" और अरब—'अरबलीग'—साऊदी अरब, यमन, मिश्र, ईराक, सीरिया, जोर्डन, लेबनन, इन सात अरबी मुसलमान स्वतंत्रराष्ट्रों की एक संस्था है जिसकी रचना सदस्यों में परस्पर आर्थिक और सामाजिक सहयोग और सहायता के लिये की गई थी। अरबलीग बनने के कुछ काल बाद उसमें दो दल होगये जिनमें पक्षापक्ष की भावना चल रही प्रतीत होती है। एक ओर है जोर्डन जिसने इजराइल का अरबी भाग बिना 'लीग' की अनुमति के अपने राज्य में मिला लिया है; इस जोर्डन के पक्ष में हैं इराक और लेबनन। दूसरी ओर शेष सदस्य हैं—यथा मिश्र, साऊदी अरब, यमन और सीरिया।

अरब— के इस समय ३ राजनैतिक विभाग हैं। पहिला अदन और अदन द्वारा संरक्षित क्षेत्र। अदन इस समय इंगलैंड की एक क्राउन कोलोनी (राज उपनिवेश) है। और वहां के अंग्रेज गवर्नर अपने संरक्षित क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा की गई स्थानीय शेखों

के साथ संधियों के अनुसार शासन करता है। मतलब अरब के इस विभाग पर अंग्रेजों का आधिपत्य है। (२) यमन- अरब शेखों का यहां की४५ लाख जनता पर एकतंत्रीय शासन है। वर्तमान शासक शेख अहमद है और उसकी राजधानी प्रसिद्ध नगर तेज। यमन सन् १६१८ में उस्मान तुर्की साम्राज्य का एक अंग था। जब टर्की की प्रथम महायुद्ध में पराजय के बाद यह स्वतंत्र हुआ, यमन के उस क्षेत्र में जिसकी सीमा अदन संरक्षित प्रांत से मिलती है पेट्रोल के कूए मिले हैं अतएव पच्छिमी एशिया में इसका महत्त्व बढ़ गया है। अरब लीग का यह एक सदस्य है। यमन अरब लीग के सब प्रस्तावों में मिश्र और साऊदी अरब का साथ देता है। (३) साऊदी अरब- सन् १९१८ तक उस्मान तुर्क साम्राज्य का एक अंग था। तुर्कों के हटने के बाद आधिपत्य के लिये स्थानीय अरबी सरदारों में युद्ध हुए। अतं में एक सरदार इब्न साऊद सबकों परास्त करने में सफल हुआ, और १६३२ में उसने अपने आपको अरब का राजा घोषित किया और देश का नाम अपने नाम पर साऊदी अरब रक्खा। साऊदी अब एक स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य है। एकतंत्रीय शासक के आधीन अरब लीग का प्रमुख सदस्य है।

यूरोप अमेरिका और रूस—द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका और रूस मिलकर तानाशाही जर्मनी और इटली के विरुद्ध लड़े थे। अमेरिका पूंजीवादी जनतन्त्र देश था और रूस साम्य

वादी एक-तन्त्रीय। इन दो विरोधी आदर्शों के बीच एक उभय दुश्मन से लड़ने के लिये मित्रता होगई थी, और दोनों देशों ने, यथा अमेरिका और रूस ने यह घोषणा की थी कि वे जनतन्त्र (Democracy) के लिये लड़ रहे हैं। जब तक युद्ध चला दोनों देश एक मन से लड़े, और युद्ध समाप्ति के बाद दोनों देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने में बड़ी तत्परता से काम किया।

किन्तु युद्ध समाप्त होने के एक दो वर्ष पीछे दोनों देशों में अलगांव शुरु होने लगा; दोनों देशों के आदर्शों और विचार धाराओं में जो तात्विक भेद है वह उभरने लगा और दोनों के बीच एक खाई पैदा होने लगी। युद्ध के बाद सारी दुनियां में केवल दो ही देश शक्तिशाली और महत्वशाली बचे थे—अमेरिका और रूस। यूरोप आर्थिक द्रष्टि से बिल्कुल दिवालिया हो चुका था, लोगों की हालत बहुत बुरी थी, मानों एक भूकम्प के बाद जिसमें सब कुछ बर्बाद हो चुका था लोग बे घरबार, एक बंजर और अस्त व्यस्त जमीन पर खड़े हों। ऐसी हालत में अमेरिका ने जिसके पास बहुत धन और सोना इकट्ठा हो गया था, जिसके पास बहुत साधन थे, यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान के लिये एक योजना बनाई जिसके प्रवर्तक अमेरिका के श्री मार्शल थे, और जिसकी घोषणा उन्होंने ५ जून सन् १९४७ के दिन की। इस योजनानुसार यूरोप के भिन्न २ देशों को करोड़ों डालर का कर्ज

मिलता है जिससे वे अपनी आर्थिक हालत को सुधारलें। अनेक लोगों ने सोचा कि इस योजना से यूरोप के करोड़ों लोग फिर आत्म-निर्भर बनेंगें और भिन्न २ देश संसार की एकता की भावना की ओर उन्नति करेगें। अमेरिका ने यूरोप के सभी देशों को, रूस को भी इस योजना में सम्मिलित होने को आमन्त्रित किया। इस योजना की घोषणा के बाद रूस में एक संदेह पैदा हुआ कि यह योजना तो अमेरिकन साम्राज्यवाद के विस्तार का एक तरीका है। बस यहीं से अमेरिका और रूस में पहिले तो अन्दर ही अन्दर एक दूसरे के प्रति डर और सन्देह की भावना पैदा हुई और फिर बाहर स्पष्ट रूप से यह अभिव्यक्त होने लगी। रूस ने तुरन्त जेकोस्लोवेकिया, पोलेंड, बाल्कन प्रायद्वीप के देश जिन पर युद्ध के बाद से ही रूस का प्रभाव था, अपना पंजा और भी मजबूत किया, और रूस ने और इन देशों ने मार्शल योजना में सम्मिलित होने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। मोस्को वाशिंगटन को गाली देने लगा और वाशिंगटन मोस्को को। दोनों देशों के लोगों में एक बिजली सी दौड़ गई। अमेरिका के लोगों की भावनायें रूस के विरुद्ध उभर गई और रूस के लोगों की भावनायें अमेरिका के विरुद्ध उभर गई। दोनों देशों में एक शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। एक ओर अमेरिका कहने लगा रूस लालतानाशाही है-(Red Fascism) है-वह तमाम दुनियाँ को अपनी सैनिक शक्ति से पदाक्रांत कर डालना चाहता

है, दुनियां के व्यक्ति स्वातन्त्र्य और जनतन्त्र को मिटा देना चाहता है, दूसरी ओर रूस कहने लगा अमेरिका एक तानाशाही "साम्राज्यवाद" है जो समस्त दुनियां पर अपना आर्थिक पंजा फैलाकर उसका शोषण करना चाहता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों देशों की एक दूसरे के प्रति इन विचार और भावनाओं में सत्य नहीं है—वे वस्तु-स्थिति को प्रकट नहीं करते हैं। वस्तुतः न तो रूस लाल-फासिज्म है, यद्यपि आज उसकी सैनिक शक्ति यूरोप की सब देशों की सम्मिलित सैनिक शक्ति से बहुत अधिक है, यद्यपि रूस में व्यक्ति स्वातंत्र्य आज नहीं है और यद्यपि उसके काम करने के तरीके फासिस्ट तानाशाही ढङ्ग के हैं। रूस के समाजवादी अपने आर्थिक और सामाजिक आदर्श हैं, उसके तत्वदर्शन में गतिशीलता है जो फासिज्म में कहीं नहीं मिलती। इतिहासकार को यह पहचानना चाहिये कि रूस समस्त दुनियां को जीतकर उस पर अपना साम्यवादी अधिकार नहीं जमा लेना चाहता और यदि रूस को दुनियां में युद्ध का भय न हो तो धीरे धीरे वहां वास्तविक व्यक्ति स्वातंत्र्य का विकास हो सकता है। इसी प्रकार न अमेरिका ऐसा साम्राज्यवादी देश है जो तमाम दुनियां को शोषण के लिये अपना आर्थिक गुलाम बना लेना चाहता है। इतिहासकार को यह पहचानना चाहिये कि वस्तुतः अमेरिका गिरे हुए देशों का

आर्थिक उत्थान चाहता है और दूसरे देशों को उसकी आर्थिक सहायता की योजना का उद्देश्य कदाचित साम्राज्यवादी नहीं।

युद्ध के बाद जब से रूस और अमेरीका में मनमुटाव उत्पन्न हुआ, दोनों देश अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने में तल्लीन होगये। रूस ने समस्त पूर्वीय यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेलिया, केवल ग्रीस और टर्की के मामले में तुरन्त अपनी फौजें भेजकर अमेरिका ने उनको रूसी क्षेत्र में जाने से बचा लिया। जर्मनी में दोनों देशों में शक्ति परीक्षा होने लगी, स्यात् बर्लिन रूस के अधिकार में चलाजाता, किंतु वहां भी अमेरिका ने अपने दृढ निश्चय का परिचय किया, और स्थिति जैसी की तैसी बनी रही।

युद्धोत्तर काल में इङ्गलैंड में चर्चिल की अनुदार दली सरकार खत्म हुई और वहां एटली की समाजवादी सरकार कायम हुई। उसी इङ्गलैंड की स्थिति जो १९वीं सदी में, २०वीं सदी के प्रारंभ में भी, सब से अधिक धनी, सामर्थवान और सम्पन्न थी, युद्धोत्तर काल में शेष यूरोप की तरह कल्पनातीत गरीब थी। किंतु वहां के मानव ने अपनी स्थिति को पहिचाना, अपनी जिम्मेदारी को पहिचाना, अपने पेट के पट्टी बांधी, राष्ट्र भर ने कठिन परिश्रम किया और धीरे धीरे अपनी हालत को सुधारा। यूरोप की उदार शक्तियों का सहयोग प्राप्त करके,

अमेरिका और रूस की दो विरोधी शक्तियों के बीच एक तीसरी ही मध्यस्थ, एक तटस्थ शक्ति पैदा कर सकता था, किंतु प्रत्येक देश में आंतरिक कुछ ऐसी निराशात्मक परिस्थितियां उत्पन्न होगई थी कि इस दिशा की ओर कुछ हो नहीं सका।

संसार दो विरोधी दलों में बंटता रहा, और प्रत्येक दल अपनी सैनिक शक्ति की बृद्धि करने में अंधा होकर लग गया।

२०वीं सदी का भयंकरतम अस्त्र अणुबम था, ऐसा भयंकर कि जो लाखों करोड़ों मनुष्यों को, नगरों को, बात की बात में अन्धाधुन्ध ध्वस्त कर डाले। इससे सभी देश घबराते थे। सभी चाहते थे कि युद्ध में इसका प्रयोग न हो। इस अस्त्र का निषेध करने के लिये, या इस पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के लिये कई अन्तर्राष्ट्रीय विचारणायें हुईं—कई सम्मेलन हुए, किंतु परस्पर संदेह और भय की भावना की वजह से कुछ भी समझौता नहीं हो सका–स्थिति यह है कि सभी देश इस प्रयत्न में है कि वे अणुबमों का उत्पादन कर सकें। अमेरिका तो कर ही रहा है—रूस भी स्यात् कर रहा हो: इंगलैंड भी परीक्षण कर रहा है—अन्य देशों में संभावना कम है।

यह होड़ लगी हुई है—यह तनातनी है। रूस ने पच्छिम में अपनी शक्ति आजमानी चाही, वहां अमेरिका दृढ़ स्थित

मालूम हुआ—अतः रूस ने एशिया में अपना प्रयास प्रारम्भ किया, जहां परिस्थितियां उसके अनुकूल थीं। चीन में तो साम्यवादी सरकार कायम हो ही चुकी थी। सभी देशों में साम्यवादी विचारों के लोग मौजूद हैं ही अतः रूस का यह प्रयास है कि हिंदेशिया, बरमा, मलाया, भारत एवं अन्य पूर्वीय देशों में साम्यवादी हलचलें हों। वहां की राष्ट्रीय सरकारें हटकर साम्यवादी सरकारें कायम हों। मलाया और बरमा में साम्यवादी झगड़े हो ही रहे हैं। फिर कोरिया में खटपट प्रारंभ की गई—वहां युद्ध ठन गया। कोरिया में यह युद्ध चल ही रहा है। एक ओर मुख्यतः चीन की साम्यवादी फौजें लड़ रही हैं, दूसरी ओर अमेरिका की फौजें।

अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए चीन ने तिब्बत पर भी हमला कर दिया, और वहां अपनी संरक्षता में तिब्बती लामा की एक सरकार कायम कर दी।

इन सब बातों को देखकर यूरोप में भी तैय्यारियां होने लग गई। पच्छिमी यूरोप के देशों ने अपना एक गुट्ट बना लिया है, और अटलांटिक समझौते के द्वारा रूस से अपनी रक्षा के लिए वे एक सैनिक और आर्थिक संगठन में बद्ध हो गये हैं। अमेरिका ने भी यह जोर इन देशों पर डाला है कि मार्शल योजना के अन्तर्गत जो आर्थिक सहायता उनको मिल रही है, उस सब का प्रयोग वे अपनी रक्षा और सैनिक शक्ति की

वृद्धि में करें। इङ्गलैंड ने भी सितम्बर १९५० में भारी शस्त्रीकरण की एक योजना तैयार की और निर्णय किया कि अगले तीन वर्षों में शस्त्रीकरण पर वे ३५ अरब पौण्ड खर्च करेंगे।

फिर दिसम्बर १९५० में पश्चिमी यूरोप के १० देशों ने (इंगलैण्ड, फ्रांस, होलैण्ड, बेलजियम, लक्समबर्ग, नोर्वे, डेनमार्क इत्यादि) जिनमें पश्चिमी जर्मनी भी शामिल था एक सम्मिलित सेना निर्माण करने का निर्णय किया। इस रक्षा व्यवस्था के सर्वोच्च सेनापति अमेरिका के जनरल आइजनहावर नियुक्त हुए। रूस ने पश्चिमी जर्मनी की सेना के पुनरुत्थान का विरोध किया। रूस और अमेरिका में और भी ठन गई। यह है दुनिया की दशा सन् १९५० में।

—×—

५९

सन् १९५०-एक विवेचन

आज सभ्यता, ज्ञान विज्ञान का अनुपम विकास होते हुए भी दुनियां एक नाजुक स्थिति में से गुजर रही है। राजनैतिक प्रभाव की दृष्टि से समस्त दुनियां दो गुटों में विभक्त है। एक गुट संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैंड का ऐंग्लो

अमेरिकन गुट है। इसमें इंगलैंड के उपनिवेश जैसे आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि एवं पच्छिमी यूरोप के देश जैसे फ्रांस, होलैंड, बेलजियम, स्वीडन, डैनमार्क, इटली, पच्छिमी जर्मनी इत्यादि सम्मिलित हैं। ऐसा माना जाता है कि अपनी मान्यताओं और विचारधारा में यह पक्ष सभी आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक क्षेत्रों में जनतन्त्र भावना (Democratic View), व्यक्ति स्वातंत्र्य का पोषक है; जिसका आज की परिस्थितियों में व्यावहारिक अर्थ है कि जिस प्रकार धार्मिक राजनैतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्रता उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता हो अर्थात् स्वतन्त्र परिश्रम और उद्योग (Free Labour and Enterprise) जिसका एक रूप है पूंजीवाद। दूसरा गुट है रूस और चीन का साम्यवादी गुट। इसमें पूर्वी यूरोप के देश जैसे पोलैंड, जेकोस्लोवेकिया, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया एवं पूर्वी जर्मनी इत्यादि सम्मिलित हैं। अपनी मान्यताओं और विचारधारा में यह पक्ष सभी क्षेत्रों में "साम्यवाद" (कम्यूनिज्म) की भावना का पोषक है; जिसका आज की परिस्थितियों में व्यावहारिक अर्थ है सामूहिकतावाद अर्थात् व्यक्ति के जीवन का समाज या राज्य (State) द्वारा नियंत्रण।

इन दो-ऐंग्लो अमेरिकन और रूसी गुटों में "शीत युद्ध" चल रहा है, कौन जाने किस घड़ी यह शीत युद्ध वास्तविक युद्ध

में परिणत हो जाये। मानव बहुत ही त्रस्त और अशांत है। इस संसार व्यापी तनातनी के विषय में आज विचारक लोग अपने अपने ढंग से कई बातें कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं यह संसार की मूल भूत दो विभिन्न विचार धाराओं में द्वन्द्व है: जनतंत्रवाद (Democracy) और तानाशाही (Dictator-ship) में; पूंजीवाद (स्वतन्त्र उद्योग) और साम्यवाद में। कुछ लोग कहते हैं कि अमेरिका और रूस में यह तनातनी इसलिये है कि एक ओर तो अमेरिका डर रहा है कि कहीं साम्यवादी रूस का प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया तो उसका व्यापार और आर्थिक प्रभाव ही ठप न हो जाये और दूसरी ओर रूस को यह डर है कि कहीं अमेरिका जैसे पूंजिपति देश उसको खत्म ही न कर डालें। इस भय और संदेह का अर्थ है युद्ध। कुछ लोग कहते हैं कि साम्यवादी रूस को अब एक महान साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा है जिसे अन्य बड़े राष्ट्र बर्दाश्त नहीं कर सकते, अतः टक्कर होना स्वाभाविक है। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में अमेरिका और रूस ही दो महान शक्तियां बचीं। अन्य देशों की जैसे इंगलैंड, फ्रांस इत्यादि शक्तियों का महत्व केवल गौण रह गया; जर्मनी और जापान युद्ध में हार ही चुके थे, अतएव उनकी शक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रूस और अमेरिका, इन दो शक्तियों में परस्पर स्पर्धा है। एक शक्ति दूसरी को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहती; इन दोनों ने

समस्त विश्व को भयातुर बना रक्खा है। हम अपनी दृष्टि से आज की वस्तु स्थिति का कुछ विश्लेषण करें।

अरबों करोड़ों वर्षों की सृष्टि की गति का हमने अध्ययन किया, करोड़ों लाखों वर्षों की प्राण की गति और विकास का हमने अध्ययन किया, हजारों वर्षों की मानव की गति का हमने अध्ययन किया। क्या हम यह तथ्य नहीं समझ पाये हैं कि सृष्टि की गति या प्राण की गति या मानव की गति या सभ्यता और संस्कृति की गति अन्ततोगत्वा विकास की ओर ही है। यह तथ्य हमने जाना है कि प्रकृति विकासोन्मुख है, प्राण विकासोन्मुख है, मानव विकासोन्मुख है। सृष्टि में मानव के उद्भूत होने के बाद,–चेतना और बुद्धियुक्त मानव के उद्भूत होने के बाद, मानो प्रयोजन विहीन सृष्टि में कुछ प्रयोजन आगया। मानव शेष सृष्टि से इसी एक बात में भिन्न था कि उसमें चेतना और बुद्धि थी। इस बुद्धि और चेतना युक्त मानव ने सभ्यता और संस्कृति का विकास किया, स्वयं अपना विकास किया। हमने देखा है कि उसके विकास का आधार रहा उसकी बुद्धि और चेतना की स्वतंत्रता। उसकी बुद्धि और चेतना को यदि अवरुद्ध करदिया जाये, उसका प्रतिबंधीकरण (Regimentation) कर दिया जाए तो न मानव का विकास होगा और न उसको आनंद की अनुभूति। यह बात बिल्कुल सत्य है। किंतु इसके साथ ही आज जो दूसरी बात उतनी ही सत्य है वह

यह है कि मानव की चेतना इस बात का भार आज सहन नहीं कर सकती कि हर घड़ी उसको यह चिंता बनी रहे कि "पेट के लिये रोटी" का इन्तजाम है या नहीं।

यदि मानसिक प्रतिबंधीकरण (Regimentation) विकास में बाधक है तो रोटी का फिक्र भी विकास में बाधक है। यदि अमेरिका सचमुच बौद्धिक स्वतंत्रता अर्थात् व्यक्ति स्वतंत्रता का हामी है तो उसे "रोटी की फिक्र" हटाने का भी हिमायती होना पड़ेगा; और यदि रुस सचमुच "रोटी का फिक्र" हटाने का हिमायती है तो उसे बौद्धिक स्वतंत्रता या व्यक्ति स्वातंत्र्य का हामी होना पड़ेगा। इस बुनियाद पर क्या ये दोनों शक्तियां, क्या ये दोनों बातें आज मिल नहीं सकती, आज जब कि ऐसा उद्‌जन बम सिर पर मंडरा रहा है जो भूमंडल पर समस्त मानव जाति को ही भस्मीभूत करदे।

सन् १९५० की यह दुखभरी कहानी है कि आज के सब विचारक, राजनैतिज्ञ, मानव समाज के नेता इस एक बात में तो सहमत हैं कि मानव समाज में सब प्राणी स्वतंत्र हों, सबको विकास की समान सुविधायें (अच्छा खानापीना, रहना, शिक्षा के साधन) प्राप्त हों, सबको सामाजिक न्याय मिले, किसी का भी आर्थिक शोषण न हो। किंतु इस सामाजिक आदर्श के पाने के तरीकों में-साधनों में कोई भी एक मत नहीं होते। सबका अपने अपने तरीके के प्रति इतना दुराग्रह है कि भिन्न तरीके,

भिन्न साधनों में विश्वास करने वालों को वे मानों खत्म ही कर डालें। सन् १९५० में मानव की यही ट्रेजेडी है।

बीसवीं शताब्दी में एक महामानव हुआ—महात्मा गांधी। उसने मानव इतिहास पर मंडराती हुई इस ट्रेजेडी को देखा और बतलाया कि किसी क्षेत्र में, चाहे व्यक्तिगत क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हो, ध्येय की श्रेष्ठता नहीं रह सकती यदि साधनों की श्रेष्ठता न हो। साधन दूषित होने से ध्येय भी दूषित हो जाता है। समानता, शोषणहीनता, सामाजिक न्याय का आदर्श नहीं प्राप्त किया जा सकता यदि साधन हिंसात्मक हो। जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति में अहिंसा का व्यवहार मान्य है, प्राप्य है,— इसी प्रकार समाज में राष्ट्र, राष्ट्र में अहिंसा मान्य होनी चाहिये, वह प्राप्य है, संभव है। बिना इस सत साधन के उच्च सामाजिक आदर्श की प्राप्त नहीं हो सकती। पाशविक बल से, हिंसा के बल से किसी बात को किसी विचार को थोपना कभी भी वांछित उद्देश्य की प्राप्ति करवाने में सफल नहीं हो सकता। गांधी की यह बात आज २० वीं सदी के मध्यकाल में कितनी मार्मिक मालूम होती है। मानव का अस्तित्व या विनाश आज मानव के इस निर्णय पर आधारित है कि वह साध्यकी ओर बढ़ने में साधनों की पवित्रता अपनाता है या नहीं। स्यात् इस प्रेम की वाणी को अपनाने के लिये मानव अभी तैय्यार नहीं है।

सन १९५० की दुनियां

मानव जन संख्या— लगभग २ अरब ८० करोड़ (२,८०००००००)। दुनियां में भिन्न भिन्न धर्म, भाषा, राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन, किंतु दुनियां के सब देश रेल, तार, डाक, जहाज, वायुयान, रेडियो द्वारा निकट रूप से संबंधित, एवं परस्पर इतना निकट सम्पर्क कि सब एक दूसरे के ज्ञान विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से बिल्कुल अवगत हैं, और उनमें इतना अधिक मेल मिलन होरहा है मानो सारी दुनियां की एक सभ्यता, एक संस्कृति बनने जारही हो—मानो एक विश्व समाज की ओर गति हो। किंतु, इस गति के आगे लगा हुआ है 'युद्ध' का एक प्रश्न सूचक "चिन्ह" ?

वर्तमान मानव इतिहास की गतिविधि को समझाने के लिये १९५० में भिन्न भिन्न देशों के राजनैतिक, आर्थिक संगठन का रुप नीचे सूचियों में दिया जाता है। उसीके अनुसार मानचित्र भी दिये जाते हैं।

संकेतः—जनतंत्र = गणराज्य = Repbulic
पूंजीवाद = स्वतंत्र उद्योग = Free Enterprise
साम्यवादी = राज्य द्वारा नियंत्रित = State Socialism
राजतंत्र = Monarchy
वैधानिक राजतंत्र = Constitutional Monarchy
एकतंत्र = Dictatorship

एशिया
आस्ट्रेलिया

नक्शे में संख्या	एशिया महाद्वीप	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	चीन	४५ करोड़	बौद्ध	चीनी	कृषि, यांत्रिक उद्योग की ओर उन्मुख	साम्यवादी एकतन्त्र	साम्यवादी	१९४९ में साम्यवादी सरकार स्थापित (मंचूरिया, मंगोलिया, सिक्यांग सम्मिलित)
२	भारत	३५ करोड़	हिन्दू	हिन्दी	कृषि, यांत्रिक उद्योग की ओर प्रगति	जनतन्त्र	पूंजीवादी	१९४७ से अंग्रेजी राज्य से पूर्ण स्वतन्त्र
३	जापान	९ करोड़	बौद्ध	जापानी	कृषि, एवं यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतन्त्र	,,	अमेरिका की संरक्षता में
४	पाकिस्तान	७ करोड़	इस्लाम	उर्दू	कृषि	जनतन्त्र	,,	१९४७ में एकनया राज्य स्थापित

५	हिंदेशिया	६ करोड़	बौद्ध, इस्लाम एवं प्राचीन बहुदेववाद	पोलिनीशिन चीनी तिब्बत एवं भारतीय प्रभाव	कृषि एवं खनिज	,,	,,	सुमात्री, जावा, बोर्नियो, सीलीबीज इत्यादि। १९४८ में डच पराधीनता से स्वतन्त्र
६	हिंदचीन	२ करोड़ ५० लाख	बौद्ध	स्थानीय बोलियाँ एवं फ्रेंच	कृषि	पराधीन (फ्रेंच)	,,	स्वाधीनता के लिये युद्ध चल रहा है।
७	कोरिया	२ करोड़ ५० लाख	,,	कोरियन	कृषि एवं खनिज	जनतन्त्र	,,	युद्ध हो रहा है।
८	टर्की	१ करोड़ ८० लाख	इस्लाम	टर्किश	कृषि, भेड़ पालन	,,	,,	राज्य का एक छोटा सा भाग यूरोप में (कस्तुनतुनिया)
९	बरमा	१ करोड़ ७५ लाख	बौद्ध	बर्मी	कृषि और तेल	,,	,,	१९४८ में स्वतंत्र

१०	फिलीपाइन	१ करोड़ ७० लाख	ईसाई	फिलीपिनो, स्पेनिश, एवं कई बोलियां	कृषि	,,	,,	१९४६ में अमेरिका से स्वतन्त्र
११	स्याम	१ करोड़ ६० लाख	बौद्ध	स्यामी	कृषि	राजतन्त्र	,,	
१२	ईरान	१ करोड़ ५० लाख	इस्लाम	फारसी	कृषि, पेट्रोल	,,	,,	
१३	अफगानिस्तान	१ करोड़ २५ लाख	,,	पश्तो	कृषि	,,	,,	१९४७ में पृथक राज्य स्थापित
१४	साअदी अरब	७० लाख	,,	अरबी	,,	,,	,,	१९२५ में स्वतंत्र राज्य
१५	लंका	६० लाख	बौद्ध	सिंहली	,,	औपनिवेशिक जनतन्त्र	,,	ब्रिटिश
१६	नेपाल	६० लाख	हिन्दू	हिन्दी	,,	राजतन्त्र	,,	भारत का अंग
१७	इराक	५० लाख	इस्लाम	अरबी	कृषिएवं पेट्रोल	वैधानिक राजतन्त्र	,,	

१८	मलाया	५० लाख	इस्लाम, बौद्ध; हिंदू	मलायन	कृषि एवं खनिज	पराधीन उपनिवेश	,,	ब्रिटिश
१९	सीरिया	१८ लाख	इस्लाम	अरबी	कृषि फल	जनतन्त्र	,,	
२०	इजराइल	१५ लाख	यहूदी	यहूदी	कृषि	,,	,,	
२१	यमन	१० लाख	इस्लाम	अरबी	,,	राजतन्त्र	,,	१९२५ में स्वतंत्र राज्य
२२	तिब्बत	१० लाख	बौद्ध(लामा)	तिब्बती	कृषि, याकपालन	धार्मिक राजतन्त्र	,,	दिसम्बर १९५० से साम्यवादी चीन की संरक्षता में।
२३	लेबनन	९ लाख	इस्लाम, ईसाई	अरब फ्रेंच	कृषि, फल	जनतन्त्र	,,	
२४	न्यूगिनी	८ लाख	आदिकालीन बहुदेववाद	पेपुआ, निगोपोलिनिशन	कृषि	पराधीन उपनिवेश	,,	डच, ब्रिटिश एवं एक भागशासना देश
२५	अदन एवं समीपस्थ प्रदेश।	८ लाख	इस्लाम	अरबी	,,	पराधीन	,,	ब्रिटिश

२६	जोर्डन	५ लाख	,,	,,	,,	राजतन्त्र	,,	द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र
२७	भूटान	४ लाख	हिन्दू	हिंदी	,,	,,	,,	भारत का अंग
२८	न्यूजीलैंड	२० लाख	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि, भेड़पालन	औपनिवेशिक जनतन्त्र	,,	ब्रिटिश; मूल निवासी मावरी
२९	आस्ट्रेलिया	८० लाख	,,	,,	,, ,,	,,	,,	ब्रिटिश मूल निवासी कई काली जातियां

अफ्रीका—१९५८ ई०
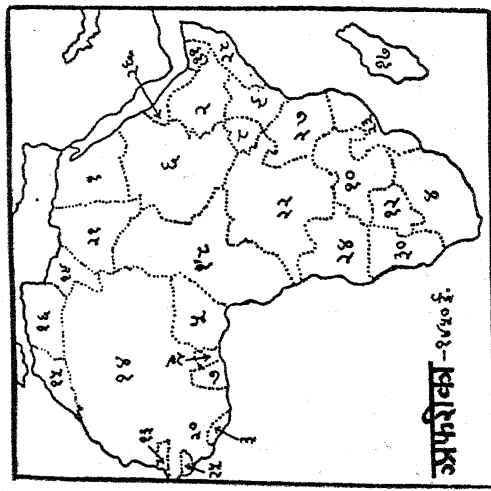
नक्शे में संख्या	अफ्रीका	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	मिश्र	१करोड़ ८० लाख	इस्लाम	अरबी	कृषि	वैधानिक राजतन्त्र	पूंजी वादी	अफ्रीका का स्वतन्त्र दे.।
२	अबीसीनिया	१करोड़ २५ लाख	ईसाई	निग्रोभाषा	"	राजतन्त्र	"	"
३	लिबेरिया	३० लाख	निग्रो	निग्रो	"	जनतन्त्र	"	"
४	दक्षिणअफ्रीका संघ	१करोड़ १० लाख	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि खनिज	औपनिवेशिक जनतंत्र	"	ब्रिटिश
५	नाईजीरीया	२ करोड़	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि और खनिज	पराधीन उपनिवेश	"	"
८	सूदान	७० लाख	निग्रो	अरब और निग्रो	कृषि	"	"	"
७	गोल्डकोस्ट	४० लाख	आदिनिग्रो धर्म	निग्रो	"	"	"	"

८	यूगान्डा	४० लाख	”	निग्रो	”	”	”	”
९	केनया	४० लाख	”	”	”	”	”	”
१०	रह्वोडेशिया	३० लाख	”	”	”	”	”	”
११	ब्रिटिशसोमाली लैंड	४ लाख	इस्लाम	अरबी	”	”	”	”
१२	बेचुआनालैंड	३ लाख	आदिनिग्रो धर्म	निग्रो	”	”	”	”
१३	गेम्बिया	२ लाख	”	”	”	”	”	”
१४	फ्रेंचपच्छिमी अफ्रीका	१ करोड़ ५० लाख	आदिकालीन धर्म	अरब, निग्रो	”	”	”	फ्रांस का राज्य
१५	मोरोक्को	७५ लाख	इस्लाम	अरबी	फल और कृषि	”	”	”
१६	अलजीरिया	७५ लाख	”	”	”	”	”	”
१७	मेडागास्कर	४० लाख	निग्रो	निग्रो	कृषि खनिज	”	”	”
१८	फ्रेंच इक्वेटोरियल अफ्रीका	३५ लाख	निग्रो धर्म	निग्रोभाषा	कृषि	”	”	”
१९	ट्यूनिसिया	३० लाख	इस्लाम	अरबी	फल और कृषि	”	”	”

२०	फ्रेंचगिनी	८ लाख	निग्रो	निग्रो	कृषि	"	"	फ्रांस का राज्य
२१	लिबिया	१० लाख	इस्लाम	अरब	"	"	"	ब्रिटिश एवं फ्रेंच
२२	बेलजियनकोंगों	१ करोड़	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि यूरेनियम	"	"	बेलजियम का शासन
२३	मोजंबीक	५० लाख	निग्रो	निग्रो	चीनी, नारयल	"	"	पुर्तगाल
२४	पुर्तगाली अंगोला	३५ लाख	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि	"	"	आदिनिवासियों पर पुर्तगाल का राज्य
२५	पोर्चुगीजगिनी	३ लाख	निग्रो	निग्रो	रबर	"	"	"
२६	इरीट्रिया	६ लाख	इस्लाम	अरब	कृषि	"	"	इटली का राज्य
२७	टंगनयाका	६० लाख	निग्रो	निग्रो	"	शासना देश	"	ब्रिटेन के संरक्षण में
२८	सोमालीलैंड	१३ लाख	इस्लाम	अरब	"	"	"	इटली के संरक्षण
२९	टोगोलैंड	४ लाख	निग्रो	निग्रो	"	"	"	ब्रिटेन का संरक्षण
३०	दक्षिण पश्चिम अफ्रीका	३ लाख	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	"	"	"	दक्षिण अफ्रीका संघ के संरक्षण में

यूरोप - १८५० ई.
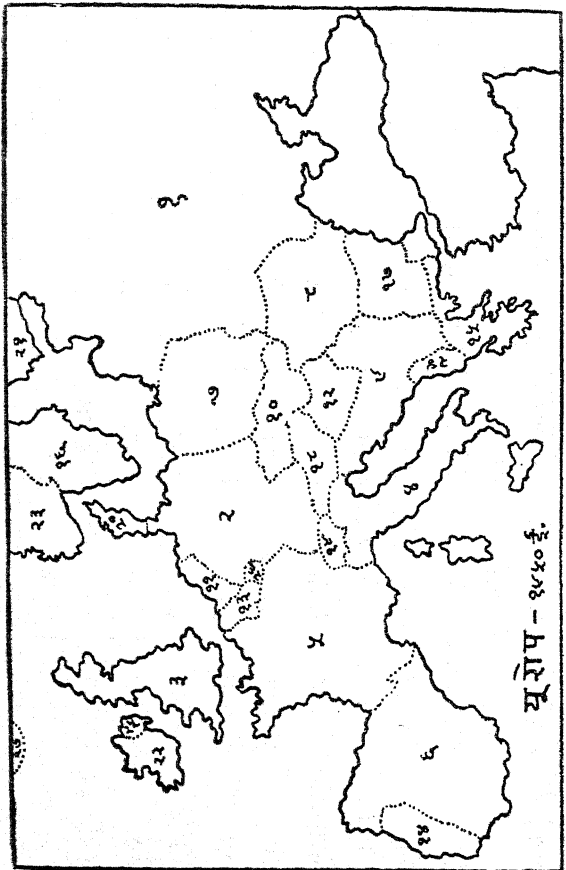
नक्शे में संख्या	यूरोप	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	रूस	१८ करोड़	ईसाई	रूसी	कृषि, यांत्रिक उद्योग	साम्यवादी एकतन्त्र	साम्यवादी	इसमें एशियाई रूस भी सम्मिलित है
२	जर्मनी	७ करोड़	,,	जर्मन	यांत्रिक उद्योग	[illegible]	पूंजीवादी	मित्रराष्ट्रों के संरक्षण में
३	इङ्गलैंड	५ करोड़	,,	अंग्रेजी	,,	वैधानिक राजतन्त्र	पूंजीवादी + समाजवाद	
४	इटली	४ करोड़ ७० लाख	,,	इटालियन	कृषि, यांत्रिक उद्योग	जनतन्त्र	पूंजीवादी	
५	फ्रांस	४ करोड़	,,	फ्रेंच	,,	,,	,,	
६	स्पेन	२ करोड़ ६० लाख	,,	स्पेनिश	कृषि भेड़ पालन	एकतन्त्र	,,	डिक्टेटरशिप
७	पोलैंड	२ करोड़ ५० लाख	,,	पोलिश	कृषि	जनतन्त्र	साम्यवाद की ओर	रूस के प्रभाव क्षेत्र में

१२१७

८	रूमानिया	२ करोड़ २५ लाख	,,	रूमानियन	कृषि पशुपालन	,,	,,	
६	यूगोस्लेविया	१ करोड़ ७० लाख	,,	सेब्रोकोट	कृषि	,,	,,	साम्यवादी होते हुए भी रूस से विरोध
१०	जेकोस्लोवेकिया	१ करोड़ ५० लाख	,,	जेक	,,	,,	,,	रूसके प्रभावक्षेत्र में
११	होलेंड	१ करोड़	,,	डच	कृषि यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतन्त्र	पूंजीवादी	
१२	हंगरी	६५ लाख	,,	हंगेरियन (मंगोल)	कृषि	जनतन्त्र	साम्यवाद की ओर	रूसके प्रभावक्षेत्र में
१३	बेलजियम	६० लाख	,,	फ्रेंच एवं जर्मन	कृषि, यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतन्त्र	पूंजीवादी	
१४	पुर्तगाल	८० लाख	,,	पुर्तगाली	कृषि	जनतन्त्र	,,	
१५	ग्रीस	७५ लाख	,,	ग्रीक	,,	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
१६	स्वीडन	७० लाख	,,	स्वीडिश	कृषि कागज उद्योग	,,	,,	
१७	बलगेरिया	७० लाख	,,	बलगेरियन (मंगोल)	कृषि, पशु पालन	जनतन्त्र	साम्यवाद की ओर	रूसके प्रभावक्षेत्र में

१८	आस्ट्रिया	७० लाख	,,	जर्मन	कृषि, यांत्रिक उद्योग	,,	पूंजीवादी	मित्र राष्ट्रों के संरक्षण में
१९	स्वीटजरलैंड	५० लाख	,,	जर्मन फ्रेंच	यांत्रिक उद्योग	,,	,,	
२०	डैनमार्क	४० लाख	,,	डेनिश	कृषि, पशुपालन	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२१	फिनलैंड	४० लाख	,,	फिनिश (मंगोल)	कृषि, मछली	जनतन्त्र	,,	
२२	आयरलैंड	३३ लाख	,,	आईरिश	कृषि, पशुपालन	,,	,,	
२३	नोर्वे	३० लाख	,,	नोर्वेजो-डेनिश	कृषि, कागज उद्योग	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२४	अलबेनिया	१२ लाख	,,	अलबेनियन	कृषि, पशुपालन	जनतन्त्र	,,	
२५	अल्स्टर	७ लाख	,,	अंग्रेजी	,,	परतन्त्र	,,	ब्रिटिश
२६	लक्समबर्ग	३ लाख	,,	जर्मन, फ्रेंच	,,	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२७	आइसलैंड	१ लाख २५ हजार	,,	आईसलेंडिक नोर्वेजियन	कृषि और मछली	,,	,,	आइसलैंड और डेनमार्क का एक राजा

उत्तर अमेरिका
अमेरिका-१९५० ई.
दक्षिण अमेरिका
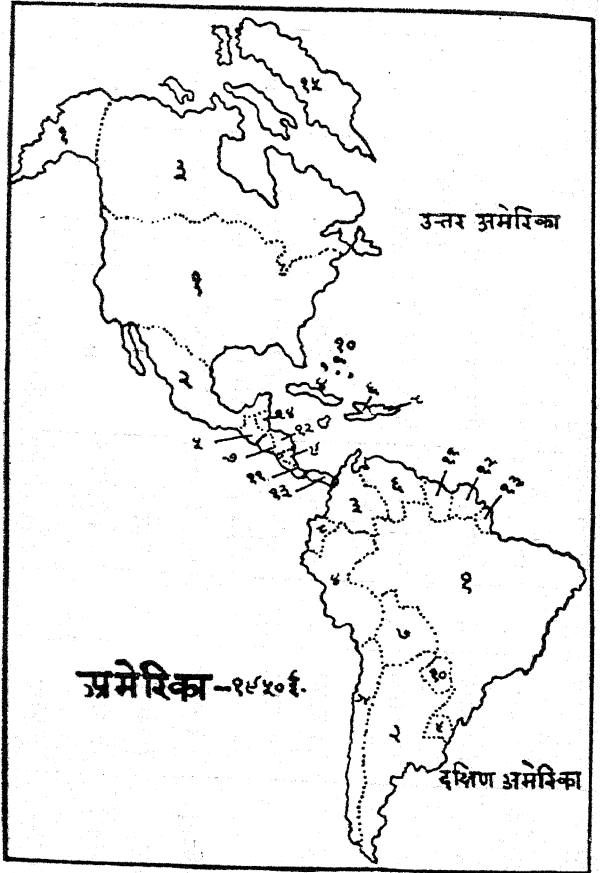
नक्शे में संख्या	उत्तर अमेरिका	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	संयुक्त राज्य अमेरिका	१७ करोड़	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि, उद्योग	जनतन्त्र	पूंजीवादी	अलास्का सम्मिलित जन संख्या
२	मेक्सिको	२ करोड़ ६० लाख	,,	स्पेनिश	कृषि	,,	,,	स्पेनिश विशेष
३	कनाडा	१ करोड़ २० लाख	,,	अंग्रेजी	कृषि, उद्योग	औपनिवेशिक प्रजातन्त्र	,,	ब्रिटिश
४	क्यूबा	५० लाख	,,	स्पेनिश	चीनी और तंबाकू	जनतन्त्र	,,	स्पेनिश और इंडियन
५	गोटीमाला	३६ लाख	,,	,,	कृषि	,,	,,	७०% रेड इंडियन २५% वर्ण संकर ५% स्पेनिश

६	हेटी	३५ लाख	,,	फ्रेंच	चीनी और तंबाकू	,,	,,	निग्रो-विशेष
७	सालवेडोर	२० लाख	,,	स्पेनिश	कृषि	,,	,,	वर्णसंकर-विशेष रैड इंडियन
८	डोमिनीकन गणराज्य	१८ लाख	,,	,,	,,	,,	,,	स्पेनिश-विशेष
९	निकारागुआ	१२ लाख	,,	,,	,,	,,	,,	वर्णसंकर-स्पेनिश और रैड इंडियन
१०	वेस्ट इंडीज	१२ लाख	,,	अंग्रेजी	,,	पराधीन उपनिवेश	,,	जमाइका, बहामा द्वीप, ब्रिटिश
११	कोस्टारिको	१० लाख	,,	स्पेनिश	,,	जनतन्त्र	,,	स्पेनिश, विशेष निग्रो
१२	होंडूरास	१० लाख	,,	,,	कोफी	,,	,,	रैड इंडियन विशेष, स्पेनिश
१३	पनामा	८ लाख	,,	,,	कृषि	,,	,,	वर्णशंकर विशेष
१४	ब्रि. हौंडूरास	६५ हजार	,,	अंग्रेजी	कोफी	पराधीन उपनिवेश	,,	ब्रिटिश
१५	ग्रीन लैंड	३० हजार	,,	डेनिश	मछली, कृषि	,,	,,	डेनमार्क का राज्य एस्किमो

दक्षिण अमेरिका

१	ब्राजील	४ करोड़ ५० लाख	ईसाई	स्पेनिश रैडइंडियन	कृषि,	पशुपालन	जनतन्त्र	पूंजीवाद	जनसंख्या-स्पेनिश, आदि इंडियन एवं यूरोपीय
२	अर्जन्टाइना	१ करोड़ ४० लाख	"	"	"	"	"	"	"
३	कोलम्बिया	१ करोड़	"	"	"	"	"	"	"
४	पीरू	७५ लाख	"	"	"	"	"	"	"
५	चीली	५० लाख	"	"	"	"	"	"	"
६	वेनीजुयेला	४५ लाख	"	"	"	"	"	"	"
७	बोलिविया	४० लाख	"	"	"	"	"	"	"
८	इक्वेडोर	३२ लाख	"	"	"	"	"	"	"
९	यूरूग्वे	२२ लाख	"	"	"	"	"	"	"
१०	पेराग्वे	१२ लाख	"	"	"	"	"	"	"
११	ब्रिटिश गियाना	४ लाख	"	ईंगलिश	"	"	पराधीन उपनिवेश	"	"
१२	डच गियाना	२ लाख	"	डच	"	"	"	"	"
१३	फ्रैंच गियाना	३५ हजार	"	फ्रैंच	"	"	"	"	"

६०

आज ज्ञान विज्ञान की धारा

(१९५० ई.)

भूमिकाः—मनुष्य आवश्यकता से बाध्य और उत्सुकता से प्रेरित होकर प्रकृति, समाज और स्वयं अपने विषय में तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिये हमेशा से प्रयत्नशील रहा है। इस प्रयत्न से उसके अनुभव और ज्ञान के भंडार में अभिवृद्धि होती रही है। इस भंडार की अभिवृद्धि में कई देशों और कई जाति के लोगों ने अपना अपना विशेष अनुदान दिया है, यथा भारत ने एक मुक्त आनंदमय आत्मा का ज्ञान, ग्रीस ने प्रकृति के अन्वेषण और सौन्दर्यानुभूति का भाव, रोम ने नियम एवं सामाजिक राजकीय अनुशासन का ढ़ंग, आधुनिक पच्छिमी ने विज्ञान की सफलतायें—इत्यादि। और इस प्रकार मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है, मानव ने प्रगति की है। किसी भी एक देश या जाति द्वारा उद्घाटित कोई भी तथ्य उस देश और जाति तक सीमित नहीं रहा है। प्राचीन काल में भी जब यातायात के साधन सुलभ नहीं थे देश देश के विचारों में किसी न किसी रूप में आदान प्रदान हुआ और यह आदान प्रदान और विनिमय आधुनिक काल में तो इतना बढ़

गया है कि किसी भी क्षेत्र में साहित्य हो, कला हो, दर्शन विज्ञान हो, धर्म हो,—दुनिया के किसी भी कोने में, कुछ भी हलचल होती है तो उसकी प्रतिक्रिया शेष संसार में तुरन्त होती है, मानो सब देश एक भूमि हैं सब लोग एक जाति।

मानव बुद्धि, एवं प्रकृति और समाज में परस्पर क्रिया प्रति क्रिया के व्यापार से उत्पन्न कई धाराओं ने मिलकर मानव सभ्यता और संस्कृति को प्रशस्त और धनी बनाया है। ये धारायें हैं विशेषतः विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, दर्शन, धर्म, साहित्य और कला। ज्ञान विज्ञान के इन क्षेत्रों में हज़ारों वर्षों की थाती तो मनुष्य के पास है ही, इस थाती में आज के मानव ने भी कुछ जोड़ा है और इस प्रकार वह ज्ञान की एक विशेष स्थिति तक पहुँचा है। ज्ञान के उपरोक्त क्षेत्रों में आज के मानव की जानकारी की क्या स्थिति है इसका बहुत थोड़े में हम यहां विवेचन करेंगे।

व्यावहारिक-विज्ञानः—आदिकाल से मानव सभ्यता का भौतिक विकास होता चला आ रहा है। कौनसा विशेष भौतिक पदार्थ किस काल में विकास का प्रमुख साधन रहा है इस दृष्टि से इतिहासज्ञों ने विकास अवस्था को भिन्न भिन्न युगों में विभक्त किया है जैसे जिस युग में पत्थर के औज़ारों और हथियारों का विशेष प्रयोग रहा वह पाषाण युग, जिसमें कांसा धातु के

औजारों का विशेष प्रयोग रहा वह कांस्य युग और इस प्रकार आगे। अतः

सर्व प्रथम—प्राचीन पाषाण युग

(आज से लगभग ५० हजार से १५ हजार वर्ष पूर्व तक)

दूसरा—नव पाषाण युग

(आज से लगभग १५ हजार से ईसा पूर्व ६ हजार वर्ष पूर्व तक)

तीसरा—धातु (कांस्य) युग (लगभग ६ हजार से २ हजार वर्ष ई. पूर्व)

चौथा—लौह युग (२ हजार वर्ष ई. पू. से वर्तमान शताब्दी तक)

लौह युग को हम दो विभागों में बांट सकते हैं—

वाष्प-शक्ति युग १८वीं १९वीं शताब्दी

विद्युत्-शक्ति युग २०वीं शताब्दी

आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि सभ्यता के विकास का अगला चरण, अर्थात् पांचवा युग "परमाणु शक्ति युग" (Atomic Age) हो।

परमाणु शक्ति क्या है ?—इङ्गलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जोहन डाल्टन ने १९वीं शती के प्रारंभ में अणु-सिद्धान्त (Atomic Theory) की स्थापना की थी; उसके अनुसार प्रकृति के समस्त तत्व (Elements) मूलतः पृथक पृथक ऐसे सूक्ष्म

अणुओं के बने हुए होते हैं जो अविभाज्य माने गये। तत्वों के अंतिम अविभाज्य अंग को 'अणु' (Atom) नाम दिया गया। फिर २०वीं शती के प्रारंभ में भौतिक विज्ञान के अंग्रेज आचार्य थोमसन (J. J. Thomson) ने अविभाज्य अणु को विच्छिन्न किया अर्थात् अणु को भी तोड़ने में वह सफल हुआ। यह एक आश्चर्यजनक, युगांतरकारी घटना थी। इसी बात के आधार पर कि पदार्थ का मान्य सूक्ष्मतम अंग अणु भी विच्छिन्न कर दिया, अणु संबंधी अन्य अनेक अनुसंधान किये गये, जिनमें महत्वपूर्ण काम था केमब्रिज के लोर्डरदरफोर्ड का, कोपेन हेगन (डेनमार्क) के नीलसबोर (Niels Bohr) का, फ्रांस के बेकरल (Becqurel) तथा क्यूरी का; और प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइंस्टाइन का। इन के अनुसंधानों से पता लगा कि अणु के विच्छिन्न होने से जिन परमाणुओं (इलक्ट्रोन, प्रोटोन) का प्रकटीकरण हुआ उनका धर्म पदार्थकण के समान नहीं किंतु विद्युत्कण के समान पाया गया; वे मानो द्रव्य-पदार्थ के कण नहीं थे, वे थे शक्तिकण, अर्थात् अणुओं का परमाणुओं में विच्छिन्न होने का अर्थ है पदार्थ का शक्ति में रुपान्तर होना। यही परमाणु शक्ति है। इस शक्ति का सर्व प्रथम परिचय उस समय मिला था जब १६४५ ई. में द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका ने जापान के दो नगरों पर दो 'अणुबम' डाले थे, जिनमें अणु शक्ति के विस्फोट होने पर चारों

ओर भयंकर आग, तूफान, आंधी फैल गई थी और जो कुछ उसकी झपेट में आया वह सब विनिष्ट होगया था। परमाणु शक्ति (Atomic Energy) संबंधी अमेरिका, रूस, इङ्गलैंड इत्यादि देशों में जो अनुसंधान होरहे हैं उनसे परमाणु शक्ति के उपयोग के संबंध में यह संभावना मानी जाने लगी है कि इससे मानव हित के लिये कल्पनातीत निर्माणकारी कार्य किये जा सकेंगे—यथा (१) ऐसी संभावना है कि एक दो वर्षों में ही परमाणु शक्ति से विद्युत् शक्ति उत्पन्न की जा सकेगी। (२) नासूर जैसे भयंकर रोगों की चिकित्सा में इसका उपयोग होने की निकट संभावना है। (३) इसके अतिरिक्त पौधों, वृक्षों और जीवों में पाचन क्रिया किस प्रकार होती है, किस प्रकार पौधे सूर्य की शक्ति को अपने में जज्ब कर लेते हैं और फिर वही शक्ति हमको भोजन के रुप में देते हैं, ये सब क्रियायें किसी गति से होती हैं, ये बातें अणु शक्ति द्वारा प्रसूत किरणों के प्रकाश में स्पष्ट देखी जा सकेंगी। यदि ऐसा हुआ तो कृषि एवं चिकित्सा ज्ञान में अभूतपूर्व क्रांति हो सकती हैं और हम इस संभावना की कल्पना कर सकते हैं कि हम अपने कारखानों में ही खूब खाद्य पदार्थ पैदा कर सकेंगे, बिना मिट्टी और पौधों की सहायता के। (४) परमाणु शक्ति से 'रोकेट जहाज' चलाये जा सकेंगे जो अन्य ग्रहों तक पहुँच सकेंगे। (५) ऐसे समाचार हैं कि रुस में इस शक्ति का प्रयोग नदियों की दिशा बदलने में हो चुका है।

(५) वर्तमान यांत्रिक युग में जलविद्युत से परिचालित कुछ कारखानों को छोड़ समस्त यंत्रों का (रेल, जहाज, वायुयान, मोटर, बिजलीघर इत्यादिका) परिचालन पेट्रोल तथा कोयले की शक्ति से किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि इस काम के लिये वर्ष भर में आजकल संसार में १५० करोड़ टन कोयला एवं ५५ करोड़ टन पेट्रोल खर्च होता है। फिर संसार के कोयले की खदानों और पेट्रोल के कूओं की उत्पादन क्षमता (Capacity) का अनुमान लगाकर यह हिसाब लगाया गया है कि यदि इसी हिसाब से जैसा आज होता है हम पेट्रोल और कोयले खर्च करते गये तो दुनियां का समस्त कोयला और पेट्रोल एक हजार वर्षों में ही समाप्त होजायेगा। परन्तु परमाणु शक्ति के आविष्कार से तो हमें शक्ति का इतना अपरिमित भण्डार मिल जायेगा जिसके खत्म होने की कल्पना भी हम नहीं कर सकते।

यदि संसार का लोहा खत्म हो गया तो ?—यांत्रिक युग अर्थात् आधुनिक सभ्यता का बहुत सा दारोमदार इसी बात पर है कि हमें पृथ्वी के गर्भ में अर्थात् खदानों में लोहा बराबर मिलता रहे। जिस वेग से आज खदानों में से लोहा निकाला जा रहा है इससे तो कल्पना होती है कि लोहे का भण्डार शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा, किन्तु नये नये औद्योगिक टेकनीकों (Techniques) का अनुपम विकास किया जा रहा है और

आज यांत्रिक उद्योग इसमें सफल हुए हैं कि लोह का काम वे बहुत अंशों तक दो धातुओं यथा अल्यूमिनियम और मेगनेसियम से ले लें। अल्यूमिनियम तो वे कई प्रकार की मिट्टियों एवं बोक्साइट (Bauxite) में से निकालने लगे हैं और मेगनेसियम सीधा समुद्रों में से निकाला जा रहा है। समुद्र के अथाह जल में मेगनेसियम का अथाह भण्डार है।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार परमाणु शक्ति ने हमारी इस चिन्ता को दूर किया है कि यदि कोयला और पेट्रोल खत्म हो जायेगा तो हमारा काम नहीं रुकेगा, उसी प्रकार मिट्टी और समुद्र से अलम्युनियम और मेगनेसियम के निकाले जाने की संभावना ने हमें इस फिक्र से मुक्त किया है कि यदि लोहा खत्म हो जायेगा तब भी हमारा काम नहीं रुकेगा।

सूर्य की शक्ति—सूर्य की ओर देखकर क्या आपने कभी यह अनुमान लगाया है कि शक्ति का यह कितना अक्षय भण्डार है ? वैज्ञानिक ने इस शक्ति को नापा है—उसने अनुमान लगाया है कि एक वर्ष में सूर्य इस पृथ्वी पर इतने ताप (Heat Energy) का प्रसरण करता है जितना ताप ४००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० टन कोयले से उत्पन्न किया जाता है। आज से २००० वर्ष पूर्व जब कि ग्रीक वैज्ञानिक आर्शमडीज ने सर्व प्रथम सूर्य की किरणों को एक कांच में एकत्रित कर पानी के प्याले को गर्म करने का प्रयोग किया था तब से

आजतक अनेक वैज्ञानिक यह प्रयत्न करते आ रहे हैं कि किस प्रकार सूर्य की शक्ति को केन्द्रीभूत करके उससे हम अपने ऐंजिन और कारखाने चला सकें। कोई कोई वैज्ञानिक अवश्य कुछ ऐसे ऐंजिन बनाने में सफल हुए हैं जिनमें सूर्य की शक्ति काम में आये, किन्तु अभी ये प्रयोगात्मक स्थिति में ही हैं। फिर भी हम सोचें तो सही कि मानव मस्तिष्क भी कहां कहां तक पहुँचता है—कितनी अनन्त उसकी संभावनायें हैं।

नक्षत्रयान:—प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर आगस्ट पिकार्ड का कहना है कि आज सिद्धान्ततः तो यह सिद्ध है कि ऐसे 'अणु रोकेटस' (Atomic Rockets = यान) बनाये जा सकते हैं जिनमें बैठकर हम लोग चन्द्रमा तथा समीपवाले कई ग्रहों (जैसे मंगल = मार्स; बृहस्पति = जूपीटर) की यात्रा कर सकें। इन रोकेट्स की गति ४५०० मील प्रति सैकिण्ड होगी—अर्थात् एक घण्टे में एक करोड़ ६४ लाख मील! इस गति की थोड़ी कल्पना तो कीजिये, जब कि हमारी रेलगाड़ी की गति केवल ४० मील और तेज से तेज वायुयान की केवल ४०० मील प्रति घण्टा होती है। यह सम्भव है कि रोकेट्स पृथ्वी पर से रवाना होकर हमारे इस पृथ्वी के यात्रियों को चन्द्रमा उपग्रह एवं मंगल, बृहस्पति आदि उपग्रहों तक (जो हम से करोड़ों मील दूर हैं जैसे मंगल लगभग ५ करोड़, एवं बृहस्पति ३९ करोड़ मील) पहुंचा दें, और उन स्थलों का अन्वेषण करके हमारे यात्री इन्हीं रोकेट्स

द्वारा पृथ्वी पर वापिस लौट आयें। रोकेट में यात्रा करते समय एवं चन्द्रमा तथा ग्रहों पर घूमते वक्त श्वास लेने के लिये ओक्सीजन गेस (प्राण वायु) का, अपार सर्दी गर्मी से बचने के लिये विशेष प्रकार के कपड़ों का, तथा भोजन एवं अन्य आवश्यक साधनों का प्रबन्ध, यात्रियों के लिये किया जा सकेगा। अणु-रोकेट में मंगल तक १ दिन ११ घण्टों में एवं जूपीटर तक ४ दिन २ घण्टों में पहुंच सकेंगे। इन रोकेट का उपरोक्त गति से परिचालन परमाणुशक्ति के द्वारा हो सकेगा। व्यावहारिक रूप से तो ऐसे रोकेट का बनना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है किन्तु भविष्य में ऐसा होना वस्तुतः सम्भव है प्रो० पिकार्ड का कहना है कि रोकेट यात्रा अपने ही सौर मण्डल के ग्रहों तथा अपने उपग्रह चन्द्रमा तक ही सम्भव हो सकेगी; आज की स्थिति में यह नहीं माना जा सकता कि हम अपने सौर मण्डल को भी पार करके अन्य सूर्यों के ग्रहों तक यात्रा कर सकें।

एक अचंभे की बात है, कि सचमुच इस आशा में कि १९७५ ई. तक 'रोकेट यान' मंगल की यात्रा करने लग जायेंगे, न्यूयोर्क की एक एजेन्सी ने मंगल की यात्रा के लिये टिकट भी रिजर्व करना प्रारंभ कर दिया है। इस एजेन्सी का कहना है कि मार्च १९७५ ई. में चार 'रोकेट यान' प्रति दिन (रविवार को छोड़ कर) मंगलग्रह के लिये रवाना हुआ करेंगे; किराये की रकम फिर घोषित की जायगी। अब तक (१९५० ई.) २००

आदमी अपनी सीटें रिजर्व करवा चुके हैं। इन रोकेट यान को हम "नक्षत्र यान" कह सकते हैं:— अन्तर्नक्षत्रीय यात्रा करने के लिये ये नक्षत्र यान सचमुच अद्‌भुत होंगे। क्या यह संभव नहीं कि इन नक्षत्रयानों में बैठकर मानव जब मंगल या बृहस्पति ग्रहों में पहुँचेगा तो वहां उसे प्राण और चेतना युक्त अपने ही जैसे कोई प्राणी मिलें ?

यह विश्व किन तत्वों का बना है ? रश्मि वर्ण दर्शक यंत्रोंकी (Spectroscopes), जिनसे नक्षत्रों की रश्मियों के वर्ण के आधार पर नक्षत्रों के विषय में जानकारी हासिल की जाती है, टेकनीक (बनावट) में दिनादिन अभूत पूर्व सुधार की वजह से, एवं जो पुच्छलतारे टूटकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं उनके विश्लेषण के ढंग में सुधार की वजह से, आज विज्ञान वेत्ताओं के लिये यह संभव हो पाया है कि वे कह सकें कि इस विश्व का रासायनिक संघटन (Chemical Composition) एकसा है। अर्थात् वे रासायनिक पदार्थ जो पृथ्वी पर मिलते हैं, वे ही सूर्य, ग्रहों और नक्षत्रों में उपस्थित हैं; जिन पदार्थों की यह पृथ्वी बनी उन्हीं पदार्थों के सूर्य, ग्रह, नक्षत्र बने हैं— यद्यपि इन भिन्न २ स्थलों में पाये जाने वाले पदार्थों के अनुपान में विभिन्नता अवश्य है। छोटे ग्रह जैसे मंगल (Mars), बुध (Mercury) शुक्र (Venus) पृथ्वी की तरह धातु और शैल (चट्टानों) के बने हैं; यूरेनस एवं नेपच्यून गृह केन्द्र में धातु और शैल के बने हैं;

इन धातु और शैल के चारों ओर बर्फ, तरल अमोनिया और 'मिथेन' की मोटी खाल है और हाईड्रोजन (उद्जन) और हेलियम गेसों की महीन खोल है; बृहस्पति (Jupiter) ग्रह का ६० प्रतिशत भाग केवल उद्जन और हेलियम गेस का बना है। अधिक नहीं केवल दस वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिकों को इस पृथ्वी पर केवल ६२ मूल तत्व (Elements) ज्ञात थे, जिन मूल तत्वों के संघटन से इस पृथ्वी के भिन्न भिन्न रूप रंगों के असंख्यों पदार्थ बने हुए हैं। इन तत्वों में सापेक्ष दृष्टि से सबसे हल का हाईड्रोजन था और सबसे भारी यूरेनियम और यह विश्वास किया जाता था कि यूरेनियम से भारी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि भारी तत्वों का शरीर स्वतः विच्छिन्न होता रहता है, और स्वतः पड़ा पड़ा अपेक्षाकृत दूसरे हलके तत्व में परिवर्तित हो जाता है; जैसे यूरेनियम पड़ा पड़ा स्वयं शीशे में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन की क्रिया को तेजोदगरण (Radio Activity) कहते हैं, जिसका अनुसंधान प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं प्रोफेसर और मेडमक्यूरी तथा अन्य वैज्ञानिकों ने किया था। इस अनुसंधान के बाद तो वैज्ञानिक लोग प्रयोग शालाओं में यूरेनियम से भी अधिक भारी तत्व स्वयं बनाने लगे और इस प्रकार मूल तत्वों की संख्या बढ़कर अब प्रायः १०० तक पहुँच गई है। वैज्ञानिक अब तक ६ और नये तत्व बना सके हैं, यथा नेपट्यूनियमम, फिलोनिय, अमेरि कियम, क्यूरियम, बर्के-

लियम, केली फोर्नियम। ये नये तत्व जिनको वैज्ञानिक लोग प्रयोग शालाओं में बनाने में सफल हुए हैं और जो स्वतंत्ररूप से प्रकृति में नहीं मिलते, इतने भयंकर तेजोद्गरण (Radio-Activity) वाले है और परमाणुशक्ति के रुप में इतने विनाशकारी साबित हो सकते हैं कि दुनिया में एक आफत ले आयें। जैसा पहिले अध्याय ३ में कहा जा चुका है यह तो याद होगा ही कि ये सब पदार्थ, एवं तत्व अन्ततोगत्वा एक ही भूत-तत्व (Matter) के भिन्न भिन्न रुप हैं, वह भूत तत्व जिसके अस्तित्व का अंतिम या प्रारंभिक रुप, आज की ज्ञान की स्थिति में, प्राणु एवं विधुदणु अर्थात प्रोटोन इलक्ट्रोन के रुप में विद्यमान गत्यात्मक विद्युत् शक्ति को माना जाता है। अतः आज की ज्ञान की स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यह विश्व एक ही भूत-द्रव्य (Matter) के प्राणु एवं विद्युदणुओं (Protons-Electrons) का बना हुआ है।

आज सामाजिक विज्ञान की स्थितिः —

सामाजिक संगठन का जो विशेष रुप प्रधानतया आज सन् १९५० में हम देख रहे हैं वह है, राजनैतिक क्षेत्र में जनतन्त्र और आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद और कहीं कहीं साम्यवाद। क्या यह कोई अपरोक्ष परा-प्रकृति या दैवी शक्ति थी जिसने अपनी स्वेच्छा से मानव पर यह विशेष प्रकार की व्यवस्था

लादी ? प्राचीन काल में मिश्र में मानव यह सोच सकता था कि राजा तो देव हैं, सुमेर में मानव यह सोच सकता था कि राजा तो देव का पुरोहित है, मध्य-युग में सर्वत्र मानव यह सोच सकता था कि समाज की सब व्यवस्था ईश्वर द्वारा निर्मित और नियंत्रित है, किन्तु आधुनिक काल में मानव की ऐसी मान्यता नहीं है। आज वह यह सोचता है कि सामाजिक विकास के भी कुछ कारण होते हैं और वे कारण विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही जैसे उत्पादन के साधन इत्यादि में निहित हैं। वे कारण कोई अज्ञात रहस्य नहीं, किन्तु ज्ञात प्रत्यक्ष बातें हैं। उत्पादन की परिस्थितियों के अनुरुप ही पहिले मानव समाज में आदि कालीन साम्यवाद का रुप आया, फिर सामंतवाद और फिर पूंजीवाद। आधुनिक उत्पादन के साधनों और ढङ्ग का अध्ययन करके कुछ समाज शास्त्रियों या बिचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अब संसार में सामाजिक संगठन का रुप समाजवादी या साम्यवादी होगा। इनकी यह मान्यता बन गई है कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियां इसी ओर अग्रसर हैं। वस्तुतः आज संसार के रूस और चीन जैसे दो विशाल देशों में साम्यवादी एकतन्त्र स्थापित है और वे अपने यहां साम्यवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने में प्रयत्नशील हैं: इस ओर भी दृढ़ता से अग्रसर हैं कि संसार के शेष देशों में भी साम्यवादी व्यवस्था कायम हो।

पूंजीवाद, समाजवाद या साम्यवाद क्या हैं, उनके संगठन का कैसा रूप होता है इसका अध्ययन अध्याय ४-६ में हो चुका है। इस अध्याय में ऊपर प्रयास किया गया है यह जानने का कि इन कुछ पिछले वर्षों में प्रायोगिक (Applied) विज्ञान ने कितनी अभूतपूर्व और कल्पनातीत उन्नति की है और उसने कितनी अजीब अजीब और महान संभावनायें आज के मानव के सामने प्रस्तुत करदी हैं।—इतनी अधिक कि मानव स्वयं चकित है अपनी उपलब्धियों या सफलताओं को देख कर। मानो एक प्रश्न है आज के मानव के सामने कि वह टटोले कि आखिर वह चाहता क्या है। क्या वह सुख चाहता है? यदि वह सुख चाहता है तो वह टटोले कि क्या यह सुख विशेषतः गांव की शुद्ध वायु और प्रकाश में रहकर नहीं मिल सकता?—गांव को स्वच्छ और व्यवस्थित बनाकर, वहां की स्थानीय व्यवस्था में अपना सीधा नियन्त्रण रखकर कि जिससे उसे भान हो कि वह भी इस दुनियां और समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, ? सुख के लिये आखिर चाहिये क्या? सादा मोटा भोजन, एवं शुद्ध वायु और प्रकाश जिसमें स्वास्थ्य निहित है, रहने के लिये एक साधारण सा किन्तु साफ घर एवं प्रकृति और विकास को समझने के लिए व्यावहारिक शिक्षा। क्या मुख्यतया गांव में रहकर ही सरल अपना संगठन बनाकर इनकी व्यवस्था नहीं की जा सकती? या वह फिर टटोले कि क्या यह सुख बड़े बड़े

शहरों में रहकर, अपने चारों ओर हजार तरह की चीजें बटोर कर मिलता है ?—हजार तरह के सीधे टेढे सम्बन्ध एवं विशाल सामाजिक और राजकीय व्यवस्था स्थापित करके जहां व्यवस्था जमाये रखने के लिए अनेक पेचीदा रास्ते और कानून और नियमों का एक जटिल ढांचा खड़ा हो, जिसमें साधारण मानव यह समझ भी नहीं पाये कि कहां क्या हो रहा है और क्या नहीं।

सर्वोदय:—२०वीं शताब्दी में भारत में एक महापुरुष हुए महात्मा गांधी। उन्होंने देखा कि आधुनिक युग में व्यक्तियों और राष्ट्रों की यह वृत्ति यह गति है कि भौतिक शक्ति में खूब अभिवृद्धि हो, भौतिक वस्तुओं का खूब परिमाण बढ़े और देखा कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था की गति सामूहिकता की ओर है—केन्द्रीय करण की ओर;—ऐसी सामूहिकता जिसके व्यावहारिक रुप में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रहता, व्यक्ति की स्वतन्त्र अपनी कोई प्रेरणा (Initiative) नहीं रहती, सामाजिक, राजकीय व्यवस्था की पेचीदगी में चकराकर व्यक्ति विशाल समूह में खो सा जाता है। ऐसी गति के प्रति उनकी आत्मा में प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने मानव को सच्चे सुख की ओर लेजाने के लिये एक नई कल्पना, जीवन और सभ्यता के मूल्यांकन का एक नया मापदण्ड दिया। उन्होंने कहा "किसी समाज की सभ्यता की कसौटी यह नहीं कि उसने

प्राकृतिक शक्तियों पर कितनी विजय प्राप्त करली है और न साहित्य और कला में पारङ्गत होना ही उसकी कसौटी है बल्कि उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक बर्ताव में तथा प्राणीमात्र के प्रति कितनी करुणा, उदारता या मैत्री है बस यही सभ्यता की सबसे बड़ी कसौटी है।" (गांधी) मानव सुख और सभ्यता की यह कल्पना सर्वोदय की कल्पना है। इस कल्पना के अनुसार वास्तविक जनतन्त्र जिसको सभी चाहते हैं तभी स्थापित हो सकता जब राजनैतिक क्षेत्र में एवं आर्थिक क्षेत्र में भी शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralization) हो, अर्थात् व्यक्ति और गांव आर्थिक आवश्यकताओं में आत्म-निर्भर हों, उनको अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी शहर या किसी अन्य देश की पूर्ति (Supply) पर निर्भर न रहना पड़े। सर्वोदय की यह प्रेरणा है कि जहांतक हो सके लोग गांवों में ही फैलकर बसें, बड़े बड़े शहरों में एकत्रित होकर नहीं। यन्त्रों द्वारा केन्द्रित उत्पादन से बचें, कारखानों की भीड़ से बचें और गांवों में शुद्ध हवा और प्रकृति के निकट सम्पर्क में अपना जीवन बितायें। जहां तक हो सके किसी के पास उत्पादन के साधन भूमि का इतना अधिक संग्रह न हो कि उस पर काम करने के लिये उसे दूसरे लोगों से मजदूरी करवानी पड़े और इस प्रकार उसे शोषण का अवसर मिले; बड़े बड़े यान्त्रिक कारखाने न हों जिनमें पूंजीवाद के आधार पर किसी विशेष मालिक या कम्पनी द्वारा

लोग मजदूरी पर लगाये जाते हों। कोई स्वयं अपने काम में यन्त्र का प्रयोग करे—जैसे चरखा या चरखे का परिष्कृत रूप भी एक यन्त्र ही है—तो कोई बाधा नहीं। इसी प्रकार राजनैतिक सत्ता भी गांव के लोगों में या गांव की पञ्चायतों में निहित हो। गांव की शिक्षा, न्याय, शांतिव्यवस्था का उत्तरदायित्व और भार गांव की पंचायतों पर ही हो। सर्वोदय के कुछ विचारकों के अनुसार केन्द्रीयकरण सर्वथा त्याज्य नहीं। इसका स्थान राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के साधनों जैसे रेल, बिजली, तार, हवाई जहाज और तत्सम्बन्धी कारखानों में या शक्ति जैसे जलविद्युत् इत्यादि के उत्पादन के कारखानों में हो सकता है, अन्यत्र नहीं। सर्वोदय भी जीवन का एक दृष्टिकोण है, जिसका आधार धर्म में, मानव की तात्विक श्रेष्ठता में, ईश्वर या सत्य में निहित है। उसकी धारणा के अनुसार सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सब क्षेत्रों में किसी भी साध्य के लिये हिंसा या अनैतिक साधन अमान्य हैं। सर्वोदय की सबसे बड़ी मान्यता यही है कि साधनों की पवित्रता में ही साध्य की पवित्रता बनी रह सकती है।

हम देख सकते हैं कि समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय,—सबका ध्येय प्रायः एक ही है कि शोषण-विहित समाज की स्थापना हो, मानव व्यक्तित्व का आदर हो, सबके लिये विकास के समान साधन उपलब्ध हों, सच्चा जनतन्त्र या "शासन-

विहीन" समाज स्थापित हो। किंतु इस ध्येय की प्राप्ति के लिये साधन भिन्न भिन्न हैं, आधारभूत मान्यतायें भी भिन्न भिन्न हैं।

सर्वोदय की मान्यता है-धर्म अर्थात् ईश्वर अर्थात् आत्मा अर्थात् सत्य में आस्था; एवं साधन हैं-सत्य, अंहिसा को अपनाते हुए सरलता और प्राकृत अवस्था की ओर गति, राजनैतिक शक्ति एवं आर्थिक संगठन का विकेन्द्री करण।

समाजवाद की मान्यता है-मनुष्य का अस्तित्व सर्वोपरि है; किसी भी अदृश्य परा-प्रकृति तत्व से मुक्त मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता है; एवं साधन हैं-विज्ञान का विकास, उत्पादन कार्य में विज्ञान की सहायता, उत्पादन के साधनों का (भूमि, खनिज, कारखानों) सामाजिक करण, सब साधनों पर समाज का नियंत्रण और समाज की व्यवस्था।

साम्यवाद की मान्यता वही जो समाजवाद की है, साधन भी वे ही, किन्तु यदि इन साधनों के साथ साथ आतंकवाद, हिंसा एवं तानाशाही की स्थापना भी करनी पड़े तो वह भी उचित है, बल्कि शुरुआत में आतंक और तानाशाही अनिवार्य हैं।

पूंजीवाद- उपरोक्त तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं को छोड़कर आज संसार के विशेष भाग में स्थापना है पूंजीवाद

की। पूंजीवाद का आधार अवश्य व्यक्ति स्वातंत्र्य है, इसके आधार पर उन्नति भी अवश्य अभूतपूर्व हुई है। ऐसा माना जाता है कि इस संगठन के अन्तर्गत काम में निपुणता भी विशेष रहती है, किन्तु इसका मूल आधार व्यक्तिगत लाभ की भावना है; समाज की आवश्यकतायें क्या हैं इसकी कुछ भी परवाह नहीं रहती। यह ठीक है कि आर्थिक क्षेत्र में "मांग और पूर्ति" का नियम चलता रहता है, अतः स्वभावतः अपने लाभ के लिये पूंजीपति उत्पादक वही चीज देता है जिसकी समाज में आवश्यकता अर्थात् मांग है। किंतु अनुभव ऐसा है कि चूंकि पूंजीपति के हाथ में अतुल पूंजी (रुपैये के बाजार) का नियंत्रण भी रहता है अतः वह समाज में झूठी कृत्रिम मांग या पूर्ति की स्थिति पैदा कर देता है और इस प्रकार समाज के साधारण वर्ग तक उचित मूल्य और उचित मात्रा में वस्तुयें नहीं पहुँचने देता और स्वयं उस स्थिति का लाभ उठाता रहता है। ऐसे समाज में धन का मान रह जाता है, गुण या परिश्रम का मान नहीं; शक्ति भी पूंजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है और उनके निजी स्वार्थ स्थापित हो जाते हैं जिसमें शेष समाज की अवहेलना होती रहती है।

किसी विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन के गुण दोषों की व्याख्या यहां नहीं करनी थी। काम केवल यही था कि हम देख पायें कि आज २० वीं सदी के इस मध्य काल में मानव

समाज की यह स्थिति है, और मानव को इन "वादों" में से अपना एक रास्ता निकालना है बुनियादी तौर से किसी एक वाद को अपनाते हुए या इनमें किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करते हुए। मानव की इस लंबी कहानी में यह बात तो देखी होगी कि किसी भी एक वस्तु, या तथ्य, या सिद्धांत की व्यावहारिक रूप में स्थापना कभी भी अपने निर्पेक्ष, अमिश्रित रूप में नहीं होती।

आज—विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन

भौतिक क्षेत्र में व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव डालने वाले पिछले वर्षों के महत्वपूर्ण कुछ वैज्ञानिक अन्वेषणों का अब तक जिक्र किया गया। अब हम २०वीं शताब्दी में उद्घाटित उन कुछ वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का जिक्र करते हैं जिन्होंने मानव की आजतक की मान्यताओं की बुनियादों को ही हिला दिया और एक महन क्रांति पैदा करदी, ऐसी क्रांति मानों मानव को अपने विचारों, विश्वासों और सिद्धांतों के मूल आधार ही स्थान बदलने पड़े। इन तथ्यों की उचित जानकारी और ठीक व्याख्या के लिये तो तत्संबंधी साहित्य पढ़ना चाहिये. यहां तो उनका जिक्र मात्र हो सकता है। मुख्यतया ये तथ्य हैं—भौतिक विज्ञान का सापेक्षवाद; न्यूक्लियर (Atomic) भौतिकविज्ञान; रूसीमनोवैज्ञानिक पैवलोव का बिहेवियरिज्म एवं डा० फ्रायड और ऐडलर का अंतर्विशलेषण।

आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद—विज्ञानवेत्ता आइंस्टाइन की स्थापना है कि इस विश्व में निर्पेक्ष (Absolute), स्वयं स्थित, अपने में ही सीमित और स्थिर कुछ नहीं। आइन्स्टाइन के पहिले न्यूटन द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त माना जाता था कि सब नक्षत्रों, पिंडो और ग्रहों में आकर्षण शक्ति (Gravitation) है और यह शक्ति खाली आकाश में ईथर (Ether) के माध्यम द्वारा चलती है (जैसे विद्युत् शक्ति के चलने के लिये तार का माध्यम चाहिये); यह ईथर एक कल्पित वस्तु थी। न्यूटन ने इस तथ्य का तो उद्घाटन कर लिया था कि पिंडो में आकर्षण शक्ति है किंतु वह इस रहस्य का पता नहीं लगा सका था कि यह आकर्षण शक्ति क्यों है। इस आकर्षण शक्ति एवं ईथर को स्वयंसिद्ध, निर्पेक्ष तथ्य मान लिया गया था। न्यूटन के सिद्धान्त की इस कमी को पूरा किया आइन्स्टाइन ने। उसने बताया कि पिंडों में पाई जाने वाली आकर्षण शक्ति तो केवल उस मूलगति (Motion) की शक्ति है जो उस पिंड में उसके पहिली बार आविर्भूत होते समय थी, और जो अब तक उसमें है; जैसे जब पृथ्वी घूर्णमान सूर्य से पृथक हुई (देखो अध्याय ४) तो यह पृथ्वी भी उस घूर्णित सूर्य की झौंक में उसीके चारों ओर चक्कर काटने लगी, जैसे चलती गाड़ी में से उतरते समय हमें भी उस गाड़ी की झौंक में (गति शक्ति में) उसी ओर दौड़ना पड़ता है जिधर गाड़ी जारही थी। तो आकर्षण शक्ति और ईथर

की निरपेक्षता को आइन्स्टाइन ने असिद्ध ठहराया और बतलाया कि वह शक्ति तो पिंड की गति है, कोई स्वतंत्र रहस्य-मयी शक्ति नहीं।

इसी प्रकार आइन्स्टाइन के पहिले "आकाश" (Space) एवं काल (Time) को भी स्वतन्त्र, स्वयं सिद्ध, निरपेक्ष वस्तु या तथ्य माना जाया करता था। किन्तु उसने यह स्थापित किया कि आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं, ये तो वस्तु (द्रव्य पदार्थ=Matter) के धर्म मात्र हैं, वस्तु की विशेष रुप में प्रक्रियायें हैं। किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहिले तीन दिशाओं में माना जाया करता था, यथा लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में; किन्तु उसने बतलाया कि वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में होता है। चौथी दिशा है—काल। वस्तु का रेखागणित में (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई में) प्रसार (Geometrical Extension) आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार (Chronological Extension) काल है। आकाश और काल दो भिन्न भिन्न तथ्य नहीं, यह तथ्य एक बात से समझ में आसकता है। यह तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि काल (समय) लम्बा होता हुआ जा रहा है; ज्यों ही एक दिन या एक घड़ी बीती उतने ही परिमाण में काल लम्बा हो गया। अब चूंकि काल स्वतन्त्र नहीं, आकाश सापेक्ष है, अतः जब काल लम्बा होता है तो आकाश भी लंबा

होना चाहिये। वस्तुतः यह सिद्ध किया गया है कि काल के साथ साथ आकाश अर्थात् विश्व आयतन का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार शक्ति, आकाश और काल, वस्तु का धर्म है।

सापेक्षतावाद ने यह भी सिद्ध करके बतलाया कि वस्तु और शक्ति दोनों परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते हैं, वस्तु शक्ति के रुप में बदली जा सकती है और शक्ति वस्तु के रुप में। कितनी वस्तु कितनी शक्ति बन जाती है इसके एक समानीकरण (Equation) का आइन्स्टाइन ने अन्वेषण किया। यथा:—शक्ति=वस्तु का घनत्व × (१८६०००)²। जरा कल्पना कीजिये कितने थोड़े से द्रव्य-पदार्थ में से कितनी शक्ति का प्रादुर्भाव किया जा सकता है। गणना करके यह अनुमान लगाया गया है कि एक ग्राम (   ) किसी भी वस्तु में से इतनी शक्ति पैदा की जा सकती है जितनी ३००० टन कोयला जलाने से पैदा होती है। तब क्या आश्चर्य कि एक अणु में इतनी विशाल शक्ति छिपी हुई है?—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अणुबम में मिला है। इस प्रकार आइन्स्टाइन ने इस धारणा को गलत सिद्ध किया कि 'वस्तु' और 'शक्ति' दो भिन्न तथ्य हैं। इस द्वैत की जगह उसने अद्वैत की स्थापना की।

आइन्स्टाइन के सिद्धान्तों से भौतिकवादी अद्वैत (Materialistic Monism) को पुष्टि मिली। इस धारणा को मजबूत वैज्ञानिक आधार मिला कि यह सकल विश्व एक

आदि भूत-पदार्थ (Matter) की विकासात्मक गति है । यह भूत-पदार्थ कोई स्थिर निरपेक्ष वस्तु नहीं किंतु एक सतत गत्यात्मक वस्तु है। इसकी गति इसी में निहित नियमों के अनुसार होती रहती है। ये नियम ज्ञातव्य हैं, कोई अपरोक्ष रहस्य नही। अपनी गति या अभिव्यक्ति में भूत-पदार्थ विकास की ऐसी स्थिति तक भी पहुँचता है जब इसमें प्राण और चेतना आविर्भूत होते हैं।

न्यूक्लियर (Atomic) भौतिक शास्त्र एवं क्वान्टम सिद्धान्त (भर्जाणुवाद):– १६ वीं सदी तक यह मान्यता बनी हुई थी कि भूत पदार्थ का अंतिम रुप अणु (Atom) है। यह अणु एक कण है जिसकी आकाश (Space) में स्थिति है एवं जो भार युक्त है। यह समस्त विश्व इन छोटे छोटे कणों का बना हुआ है। इन कणों की गति, इनका संघटन निश्चित नियमों के अनुसार होता है। अणुओं का बना यह विश्व सुनिश्चित प्राकृतिक (भौतिक नियमों के अनुसार यंत्रवत चल रहा है। किंतु २० वीं सदी में जिन भौतिक सिद्धान्तों का उद्‌घाटन हुआ उनने इन पूर्ण रुप से निश्चित मान्यताओं की जड़ हिला दी। सर्व प्रथम तो केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर थोमसन ने, फिर वैज्ञानिक रथरफोर्ड, फिर डेनिश भौतिक शास्त्री नील्स बोहर एवं अन्य विज्ञान वेत्ताओं ने

मूलतः एक नये भौतिक-शास्त्र की स्थापना की। उन्होंने बतलाया कि भूत-पदार्थ का अंतिम रूप अणु नहीं है। अणु को भी सूक्ष्मतर भागों में तोड़ा जा सका। यह सिद्ध किया गया कि एक अणु तो अनेक सूक्ष्मतर स्थितियों का बना एक कण है। इन स्थितियों को प्रोटोन, न्यूट्रोन, इल्कट्रोन आदि नाम दिया गया। प्रोटोन हां–धर्मी विद्युत् (Positive Electricity) है; न्यूट्रोन न तो हां धर्मी और न "ना-धर्मी" एक तटस्थ स्थिति की विद्युत् है; इल्कट्रोन "ना-धर्मी" विद्युत है। अलग अलग तत्व अणु का नाभिकण अलग अलग निश्चित संख्या के न्यूट्रोन एवं प्रोटोन विद्युत् रूपों का बना होता है। इस नाभिकण के चारों ओर निश्चित संख्या में इलकट्रोन विद्युत्रूप तीव्रगति से घूर्णित होते रहते हैं। इल्कट्रोन नाभिकण के चारों ओर निश्चित परिधि में घूमते हैं, किन्तु कभी कभी कोई इल्कट्रोन अपनी निश्चित परिधि से बाहर भी निकल जाता है। कब कोई इल्कट्रोन इस प्रकार का व्यवहार करेगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रकृति में यह एक अनियमित, अनिश्चित स्थिति की कल्पना हुई। अणु के इन सूक्ष्म विद्युत् रूपों को हम पदार्थकण मानें या "शक्ति" (अ-भूत अथवा आत्मा या विचार तत्व) का कोई रूप तो क्या यह दृश्य भूत-द्रव्य अन्ततोगत्वा केवल एक बिचार या आत्म-तत्व निकला, जो अरूप, निराकार, अज्ञात निर्विशेष है? यदि भूत-द्रव्य का अणु

इलक्ट्रोन, प्रोटोन रूप विधुत का बना हुआ है तो हम वस्तु का अंतिम रूप वही मान सकते हैं जो विधुत का है किन्तु विधुत का क्या रूप है यह भी निश्चित नहीं था। सन् १९१८ में जर्मन विज्ञान वेत्ता पंक (Panck) ने इस तथ्य की गवेषणा की और उसने निर्धारित किया कि प्रकाश की किरण का, शक्ति का (Energy), विधुतका भी जो कि एक प्रकार की शक्ति ही है. प्रवाह किसी धारा की तरह लगातार नहीं होता; किन्तु जिस प्रकार पदार्थ कण एक जगह से दूसरी जगह किसी प्रवाह या तरंग के रुप में नहीं जाता, बल्कि एक कुदान भर कर जाता है. उसी प्रकार किरण या 'शक्ति' भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक एक कुदान के रूप में जाती है; किन्तु साथ ही साथ कभी कभी शक्ति या किरण तरंग की तरह प्रवाह रूप में ही चलती है, अर्थात् शक्ति एवं प्रकाश या किरण प्रसरण (Radiation) कण (Particle) और तरंग (Wave) दोनों हैं। कब प्रकाश या शक्ति कण के समान व्यवहार करती है, कब तरंग की तरह यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तरंग की तरह एक सतत प्रवाह में बहती हुई कोई भी किरण या शक्ति कभी कभी कण की तरह भी एक कुदानसी भरकर दूसरी जगह चली जाती है। अतः प्रश्न रह जाता है कि द्रव्य-पदार्थ का अंतिम रूप कण है या तरंग, उसके अस्तित्व की अंतिम स्थिति कण है या तरंग, अर्थात् उसको 'भूत-कण' रूप मानें या 'विचार' रूप।

कुछ भी निश्चित नहीं। जब से न्यूक्लियर भौतिक शास्त्र या अणु-विज्ञान की स्थापना हुई है तब से इस ओर बराबर नई नई गवेषणायें हो रही हैं और तेजी से प्रगति हो रही है। अतः आज की स्थापनायें एक दृष्टि से संक्रात्मक स्थिति में हैं। सिद्धान्तों में वह स्थिरता नहीं आपाई है जो विज्ञान की दुनियां में १९ वीं शताब्दी में आ गई थी। अतः इन तमाम नये वैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया दार्शनिक दुनिया में भिन्न भिन्न प्रकार से हुई है। अध्यात्मवादी या आदर्शवादी दार्शनिकों ने भौतिक विज्ञान के इस नव अन्वेषित तथ्य में कि वस्तु का रूप अन्ततोगत्वा कोई एक अनिश्चित अ-पदार्थ शक्ति-रूप स्थिति है अपने मतकी पुष्टि देखी कि यह सृष्टि एक आत्म-तत्व, या बुह्म-तत्व, विचार-तत्व की अभिव्यक्ति है। जो कुछ यह दृश्य रुप में दिखलाई दे रहा है वह तो केवल भ्रम है, एक अ-वास्तविक स्थिति है; सत्य और वास्तविकता तो 'विचार' या "आत्म" तत्त्व है। दो महान साइंसवेत्ता सरजेम्सजीन्स और डाक्टर एडिंगटन स्वयं इन तथ्यों से इतने चकित हुए कि वे भी अध्यात्मवादी दार्शनिक बन गये; किन्तु दूसरी ओर भौतिकवादी दार्शनिक लोग यही मानते रहे कि यद्यपि वस्तु का अंतिम स्वरुप "शक्ति रूप" है, जिसका अभी पूर्णज्ञान नहीं, तथापि उससे वस्तु की वस्तुता (Objectivity) नहीं चली गई, बल्कि पंक की यह धारणा कि वस्तु तरंग के साथ साथ कण भी

है, एवं उस तरंग को हम भौतिक पदार्थों की तरह नाप सकते हैं, इन दार्शनिकों के मत की पुष्टि में सहायता हुई। आज जैसी स्थिति है उसमें हम इस संबंध में कोई निर्णय नहीं बना सकते, इतना ही कह सकते हैं कि एक विशाल क्षेत्र मानव की दृष्टि के सामने नया नया खुला है और उसमें ज्ञातव्य अनेक संभावनायें हैं। अद्भुत और रोमाञ्चकारी, मानव मस्तिष्क को चक्कर खिलादेने वाला, यह नया क्षेत्र खुला है।

बनस्पति एवं प्राणी शास्त्र (Biology):—का सर्वाधिक युगान्तरकारी सिद्धान्त जिसने १९वीं सदी में सब क्षेत्रों में मानव की विचारधारा को ही मूलतः बदल दिया था डार्विन इत्यादि का विकासवाद था जिसका यथा स्थान वर्णन हो चुका है। उसका सार यही है कि आज भिन्न भिन्न असंख्यों प्रकार के जितने भी प्राणी हम देखरहे हैं, चींटी, चिड़िया, शेर हाथी से लेकर मानव तक वे सब एक ही मूल, सूक्ष्म, सरलतम जीव से शनैः शनैः आकस्मिक परिवर्तन, जातगुण (Heredity) एवं प्राकृतिक निर्वाचन के नियमों द्वारा (देखो अध्याय ६) विकसित होकर करोड़ों वर्षों में वर्तमान स्थिति तक पहुंचे हैं। १९वीं सदी से आजतक जैसे विज्ञान की अन्य शाखाओं के ज्ञान में वृद्धि हुई है उसी प्रकार वनस्पति और प्राणी-शास्त्र के ज्ञान में भी अभिवृद्धि हुई है। वनस्पति क्षेत्र में इस कला का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है कि किस प्रकार दो विभिन्न वनस्पतियों के

बीजों को मिलाकर (Cross-Breeding) बोने से सर्वथा भिन्न प्रकार की एक ऐसी वस्तु पैदा की जासके जिसका अस्तित्व प्रकृति में पहिले था ही नहीं। इसी दिशा में उन्नति करते करते धीरे धीरे प्रजनन शास्त्र (Science Of Eugenics) की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा ये प्रयोग किये जारहे हैं कि मानव जाति की नस्ल कैसे सुधरे और किस प्रकार शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ मानवों की उत्पत्ति हो। अभी दो वर्ष पहिले अर्थात् सन् १९४८ में रूस के प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रवेत्ता लाइसंको ने इस क्रांतिकारी सिद्धान्त की सूचना विश्व को दी कि शरीर द्वारा संग्रहित (Acquired) गुणों का इनहेरिटैंस (एक के बाद दूसरी पीढ़ी द्वारा जन्म से अपनाया जाना) सम्भव तथा आवश्यक है। हम प्राणियों में किसी निश्चित दिशा में बाध्य परिस्थितियों के प्रभाव से उनकी आन्तरिक कार्य-प्रणाली में परिवर्तन कर उनको अपने इच्छानुकूल बदल सकते हैं। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि हम मानवजाति में, मानव प्रकृति को ही, मानव के आन्तरिक संघटन को ही, अपनी इच्छानुकूल बदल सकते हैं। यह एक अन्यन्त क्रांतिकारी सिद्धान्त है; मानो हम प्रकृति के स्वामी हों। यद्यपि उपरोक्त सिद्धान्त अभी तक अन्य विशेषज्ञों द्वारा सिद्ध नहीं मानागया है किन्तु इसकी कल्पना ही एक बिल्कुल नई चीज है जो मानव विचारधारा को अवश्य प्रभावित करेगी।

मनोविज्ञान—रूसी वैज्ञानिक पैवलोव के बिहेवियरिज्म (व्यवहारवाद) तथा अन्य प्राणी-एवं मन-शास्त्रज्ञों ने अपनी गवेषणाओं के आधार पर यह निर्धारित किया की प्राणी में इस भौतिक शरीर के एक अंग मस्तिष्क या स्नायुसंस्थान से भिन्न कोई मन या आत्मा जैसी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार भौतिक नियमों के अनुरूप हमारा शरीर यंत्रवत काम करता है उसी प्रकार इस शरीर का अंग मस्तिष्क भी। जिस प्रकार पेट का धर्म पाचन करना है, फेफड़ों का काम रक्त-शोधन करना है, उसी प्रकार मस्तिष्क का धर्म बाह्य-वस्तुओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सोचना, विचारना और कल्पना करना है। यदि मस्तिष्क को कोई आघात पहुँच जाये तो सोचने विचारने की ये सब क्रियायें बन्द होजायें। अतः सोचना विचारना मस्तिष्क से भिन्न, स्वतंत्र अपने में कोई तथ्य नहीं।

फ्रायड और ऐडलर ने मन विश्लेषण (Psycho-Analysis) के सिद्धान्त की स्थापना की, और यह बतलाया कि हमारे प्रत्यक्ष चेतन मन की दुनियां के नीचे एक विशालतर अ-प्रत्यक्ष मन की दुनिया और है जिसमें वे सब स्वाभाविक प्रवृत्तियां, भावनायें और वासनायें (Instincts), जैसे स्वाभाविक यौन संबंधी भावना या स्वाभाविक अहंभावना जा छिपती हैं, जिनको हम अपनी कृत्रिम सभ्यता या समाज के डर से बरबस दबाने या कुंठित करने का

प्रयत्न करते हैं। ये वासनायें कभी मरती नहीं वरन् भिन्न भिन्न रुपों में पाखंड के आवरण में छिप कर हमारे प्रत्यक्ष मन में प्रकट होती रहती हैं। मानो हमारा प्रत्यक्ष चेतन मन हमारे अ-प्रत्यक्ष मन का एक रुपान्तर मात्र है, अर्थात् हमारे प्रत्यक्ष मन की इच्छायें, भाव और विचार हमारे स्वतंत्र विचार या भाव नहीं हैं, वरन् वे सब मात्र हमारे अप्रत्यक्ष मन के कार्य (Effects) हैं। अर्थात् हम अपने सब व्यवहार और कार्यों में जन्मजात प्रवृत्तियों (Instincts) से परिचालित होते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसने सभ्यता, नैतिकता और धर्म के आवरण को बेरहमी से चीर कर मानव को अपने वास्तविक रुप में प्रकट किया। इससे और कुछ हुआ या न हुआ हो किंतु यह बात अवश्य सिद्ध हो गई कि मानव की वासनाओं अर्थात् स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) का दमन करने से उसका विकास या कल्याण नहीं हो सकता। उसकी जन्मजात इच्छाओं या प्रवृत्तियों की स्वस्थ स्वाभाविक तुष्टि या अभिव्यक्ति होनी ही चाहिये।

पैवलोव के व्यवहार वाद और फ्रायड एवं ऐडलर के मन-विशलेषण ने इसी दिशा की ओर संकेत किया कि मानव में अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती। मानव जन्म जात प्रवृत्तियों और प्रकृत्ति और समाज की प्रति क्रियाओं द्वारा

परिचालित एक यंत्र मात्र है। उसमें स्वतंत्र परा प्रकृति अज्ञान तत्व कुछ भी नहीं।

भूत प्रेत और पुनर्जन्म—आदिकालीन मानव के जमाने से चले आते हुए भूत प्रेत और पुनर्जन्म के प्रश्न भी आज बहुत अंशों तक प्रत्यक्ष अन्वेषण अर्थात् विज्ञान के क्षेत्र में आ जाते हैं। इङ्गलैंड और अमेरिका में आध्यात्मिक (Psychical) अन्वेषण की राष्ट्रीय प्रयोगशालायें स्थापित हैं; भारत में भी कहीं कहीं ऐसा कुछ कार्य हो रहा है। इन प्रयोगशालाओं में "लकड़ी की तिपाई" के प्रयोग, मेसमेरिज्म एवं हिपनोटिज्म जैसी कई तरकीबों से मृतात्माओं को बुलाया जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि मृतात्मायें आती हैं और संदेश देती हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से प्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता ऑलिवरलॉज और एक अन्य चिंतक एफ डबलू, एच मायर्स ने यह धारणायें बनाई कि मनुष्य के व्यक्तित्व का अस्तित्व मृत्यु के पश्चात भी रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। किन्तु ये सब धारणायें मात्र रहीं। प्रयोगशालाओं में कोई भी बात ऐसी नहीं हुई कि जिससे यह मान्य समझ लिया जाये कि पुनर्जन्म होता है। इन प्रयोगशालाओं में जो कुछ होता है उसके आधार पर अमेरिका के महान चिंतक श्री कोर्लिसलेमोंट (Corlis Lamont) ने जिनकी गणना विश्व के सर्वकालीन महान चिंतकों में होती है यह स्पष्ट करके बतलाया है कि आज की

ज्ञान विज्ञान की स्थिति में कोई कारण नहीं है कि हम यह मानें कि मानव का पुनर्जन्म होता है । यह तो ठीक है कि नवजीव उत्पन्न होते रहते हैं; मरण और नवजीवोत्पत्ति के लयमय नृत्य में यह सृष्टि हरी भरी, युवा और ताजा बनी रहती है, किंतु यह कोई कारण नहीं दिखता कि 'जो' व्यक्ति मरता है वही व्यक्ति अपने पूर्व व्यक्तित्व या पूर्व कर्म को लिये हुए फिर उत्पन्न होता हो। आज तो विज्ञान की यही मान्यता है।

विज्ञान, दर्शन और धर्म—आज की विकसित ज्ञान, विज्ञान की दशा में वह स्थिति आगई मालूम होती है जब विज्ञान और दर्शन पृथक पृथक नहीं ठहरते, दर्शन के स्वतंत्र अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक विज्ञान द्वारा उद्‌घाटित तथ्य ही दर्शन के भी आधार होंगे। यदि दर्शन को कोरी कल्पनात्मक प्रणाली मानली जाये तो बात दूसरी है किंतु यदि दर्शन का उद्देश्य सत्य की खोज है तो वह विज्ञान से पृथक नहीं हो सकता। आज विज्ञान अपने साधनों से वस्तुओं की गहराई तक इतना पहुँच गया है कि वे सब प्रश्न जो युगों से दार्शनिक को परेशान करते आरहे हैं आज वैज्ञानिक की परिधि में, प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक खोज की परिधि में आजाते हैं। धर्म एक दूसरी वस्तु है, उसका दृष्टिकोण दूसरी प्रकार का होता है। एक दृष्टिकोण तो वह होता है जो पदार्थ की सत्य को खोजता है, इसे विज्ञान या दर्शन कहिये; दूसरा दृष्टिकोण

उस पदार्थ के सौन्दर्य को खोजता है जिसे कला या धर्म कहिये। विज्ञान वस्तु को "जानता" है, धर्म वस्तु को "प्यार" करता है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक इतने तथ्यों की बात करलेने के बाद युगों युगों का वही प्रश्न फिर आज के मानव के सामने उसी रुप में उपस्थित है—क्या कोई चेतनायुक्त परा-प्रकृति शक्ति—परमात्मा—इस सृष्टि का नियंत्रण कर रही है? यदि ऐसी परा-प्रकृति शक्ति है तो क्या मानव उस शक्ति का यन्त्रवत नियन्त्रित एक साधन या पुर्जामात्र है, या मानव की भी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा है? आज १९५० तक भी मानव ने इन प्रश्नों का कोई सीधा निश्चित उत्तर नहीं ढूंढ लिया है, किन्तु ज्ञान विज्ञान और विशाल निरीक्षण, पर्यवेक्षण और अनुभव के आधार पर आज की स्थिति में वस्तुगत (Objective) वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हुआ मानव यह कहने लगा है कि इस सृष्टि में इस सृष्टि के परे कोई भी परा-प्रकृति तत्व या शक्ति नहीं है जो ऊपर से इस सृष्टि का या व्यक्तियों का नियन्त्रण कर रही हो। यह समग्र सृष्टि या प्रकृति स्वयं—चालित भूत-द्रव्य (Matter) की एक गति या प्रक्रिया है। इस गति में एक विशेष स्टेज पर प्राण का प्रादुर्भाव होता है और फिर शनैः शनैः सर्वाधिक विकसित मानव का आगमन होता है। वह सचेतन मानव प्रकृति से कोई भिन्न तथ्य नहीं। उस प्रकृति का ही अंग है, यद्यपि आज उसमें चेतना और कल्पना है जो प्रकृति में पहिले नहीं थी। भूत-द्रव्य

या प्रकृति की गतिमानता में ऐसे गुणात्मक परिवर्तन भी होते रहते हैं जब निष्प्राण अचेतन भूत स्थिति से मूलतः भिन्न गुणों का जैसे प्राण, चेतना, आनन्द का आविर्भाव हो जाता है। प्रकृति का वह रूप जिसमें ये गुण आविर्भूत हुए हैं मानव है। उस मानव की भौतिक आवश्यकतायें महत्वपूर्ण हैं किन्तु उतनी ही महत्वपूर्ण उसकी वे आवश्यकतायें हैं जिनको हम उसके विशेष विकास के अनुरूप उसकी मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकतायें कह सकते हैं, यथा, उत्कृष्ट सुव्यवस्थित सामाजिक संगठन और जीवन, प्राकृतिक तथ्यों के अन्वेषण की उत्कण्ठा, कला साहित्य में रसानुभूति, धर्म में प्रेमानुभूति इत्यादि। इन्हीं उन्नतर दिशाओं में गतिमान प्रकृति में प्रकृति के ही अंग मानव के विकास की अनेक सम्भावनायें हैं।

ज्ञान विज्ञान की परिणति कहां? मानव, विज्ञानवेत्ता अपने अध्यवसाय से प्रकृति (सृष्टि) के अबतक अज्ञात नियमों का अन्वेषण, उद्घाटन करता रहेगा। इसके अतिरिक्त प्रकृति की कुछ प्रक्रियायें हैं जिनसे प्रकृति में अचानक कभी कभी कोई अभूतपूर्व परिवर्तन जैसे जड़में से जीव और चेतना का विकास और कभी कोई अभूतपूर्व भयंकर घटना जैसे कहीं कहीं जल प्रलय और सहसा ऋतु-परिवर्तन इत्यादि उपस्थित होजाते हैं। इन प्रक्रियाओं का कारण और ढंग मानव को अभी अज्ञात है,

यद्यपि उनको समझने की ओर पर्याप्त प्रगति होचुकी है। मानव (वैज्ञानिक) इन अज्ञात प्रक्रियाओं को समझने में भी, उनके रहस्य का उद्घाटन करने में भी समर्थ होगा। वास्तव में मानव और प्रकृति भिन्न नहीं, इनमें अंगा अंगी का सम्बन्ध है, मानव प्रकृति का ही एक अंग है। प्रकृति (एवं मानव) से परे अन्य कोई पदार्थ या तत्व नहीं। प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन मानो मानव के रहस्य का उद्घाटन है, मानव के अन्तर के रहस्य का उद्घाटन मानो प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन है। अतएव अपने अन्तर और बाह्य के रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ मानव स्वयं अपने आपको पहिचाने, अपने विकास की सम्भावनाओं को पहिचाने।

आज का ज्ञान और सर्वसाधारण जन

आधुनिक ज्ञान विज्ञान धारा की जो रूप रेखा ऊपर दी गई है उससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि आज संसार के सभी सर्व साधारण जनों के मानस में यह ज्ञान विज्ञान की धारा समा गई है। इसमें संदेह नहीं कि १५ वीं शताब्दी से जब से यूरोप में और फिर धीरे धीरे संसार के अन्य देशों में कागज और छपाई का प्रचलन हुआ, ज्ञान का प्रसार धीरे धीरे सर्व साधारण में भी होने लगा, किंतु इतना होते हुए भी केवल भारत, चीन एवं अन्य पूर्वीय देशों में ही नहीं किंतु यूरोप और

अमेरिका में भी सर्व साधारण वास्तविक अर्थ में अभी तक अशिक्षित ही है। माना अमेरिका में वैसे गिनने को तो ९५ प्रति शत जन शिक्षित हैं, स्वीडन और डेनमार्क में शत प्रतिशत जन शिक्षित हैं इङ्गलैंड फ्रांस, रुस इत्यादि देशों में लगभग ९४ प्रति शत जन शिक्षित हैं, किंतु यह केवल प्रारंभिक शिक्षा (Primary Education) ही है केवल प्रारंभिक शिक्षा से कुछ नहीं होता, उनका ज्ञान अभी सीमित है, उनका मानस अभी पर्याप्त रुप से प्रकाशित नहीं। अब भी संसार के बहुजन प्राणी, यूरोप और अमेरिका के भी ऐसा सोचते हैं कि उनका भाग्य विधाता, उनके धन ऐश्वर्य, गरीबी बीमारी और सुख दुख का विधाता, राष्ट्रों के उत्थान पतन का विधाता, कोई ईश्वर या जन्म होते समय के कोई नात्तत्रिक प्रभाव या पूर्व जन्म के कर्मफल या कोई अन्य अदृश्य परा-प्राकृतिक शक्ति (Super natural Power) या स्वयं प्रकृति नियति (Physical Determinism) है। अब भी उनकी चेतना इस बंधन से, इस भय से मुक्त नहीं। जो विचार या धार्मिक विश्वास ज्ञान या अज्ञान रुप से आज से ५० हजार वर्ष पूर्व प्राचीन-पाषाण युगीय सर्व प्रथम वास्तविक मानव की बुद्धि और चेतना को जकड़े हुए था, बुनियादी रुप से वही (अपूर्ण) विचार (अंध) धार्मिक विश्वास अनेकांश तक आज भी मानव की बुद्धि और चेतना को जकड़े हुए है। यह बात अभी तक सर्वसाधारण के

मानस पर नहीं जम पाई है कि मनुष्य ही मनुष्य के भाग्य का, समाज और संसार के भाग्य का निर्माता है, और अपने तथा समाज और संसार के भविष्य पर उसका यह नियंत्रण (Control) ज्यों ज्यों उसके प्राकृतिक ज्ञान में, समाज विज्ञान के ज्ञान में, प्राणी और मनोविज्ञान के ज्ञान में अभिवृद्धि होगी त्यों त्यों अधिक पूर्ण होता जायेगा। प्रकाश की यह रेखा साधारण मानव मन के अंधकार को अभी आलोकित नहीं कर पाई है। यह तभी हो सकता है, जब संसार की सर्व साधारण जनता में, स्त्री पुरुष दोनों में, उच्च शिक्षा का प्रसार हो। वर्तमान दुनिया में वे अभूतपूर्व साधन मौजूद हैं यथा कागज, छपाई, रेडियो, सिनेमा, जिनसे ज्ञान विज्ञान का प्रसार सर्व साधारण में हो सकता है। इस अनुभूति के उपरान्त भी, कि मनुष्य की चेतना विमुक्त होनी चाहिये, यदि मानव चेतना को अज्ञानांधकार से विमुक्त नहीं किया गया तो मानव और मानव सभ्यता का विनाश की ओर लुढ़क पड़ना कोई आश्चर्य जनक घटना नही होगी। आज यह स्पष्ट भासित होने लगा है कि मानो मानव इतिहास शिक्षा और विनाश के बीच एक होड़ है। यदि शिक्षा की तीव्रगति से प्रगति हो सकी तो सभ्यता की रक्षा हो सकेगी अन्यथा विनाश अनेक काल तक इतिहास की गति रोक देगा।

सातवां खंड

भविष्य की ओर संकेत

भविष्य की दिशा

इस दिशा की ओर प्रगति में बाधक:—

जातिगत–रूढ़मान्यतायें

आर्थिक–रूढ़मान्यतायें

धार्मिक–रूढ़मान्यतायें

व्यक्तिगत स्वार्थ साधन

मानव विकास का अगला चरण

इतिहास की गति

६१
भविष्य की दिशा

अचेतन सृष्टि, असंख्य जीवधारी प्राणी और अन्त में मानव के विकास का जो इतिहास हम पढ़ आये हैं, उसमें इतना तो स्पष्ट हुआ होगा कि इस सृष्टि में जीवित रह सकने की एक ही प्रमुख शर्त है और वह यह कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल प्राणी अपने आपको परिवर्तित करले—नवागत परिस्थितियों से अपना सामञ्जस्य बैठाले। जिस जिस जीव-प्राणी ने, जिस जिस जीव जाति ने ऐसा किया वह कायम रह सकी,—अनेक ऐसी जीव जातियां जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने में उचित परिवर्तन नहीं ला सकीं समूल नष्ट होगई। मानव भी ऐसी ही एक जीव-जाति है—जब तक परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल यह स्वयं परिवर्तित होती रहेगी तब तक कायम रहेगी, अन्यथा यह भी अन्य लुप्त जीव-जातियों के समान बिना किसी पर कुछ एहसान किये चुपचाप लुप्त हो सकती है, सृष्टि के परदे पर से विलीन हो सकती है।

आज मानव के चारों ओर की परिस्थितियां, प्राकृतिक एवं सामाजिक, मूलतः बदल चुकी हैं। प्राकृतिक परिस्थितियां इस

तरह बदल चुकी हैं कि विज्ञान ने अपनी नवीनतम स्थापनाओं (Theories) एवं क्रांतिकारी आविष्कारों से हमारे समय और आकाश (Time Space=देशकाल) के मान में अभूतपूर्व परिवर्तन करदिया है। उसने प्रकृति की चाल को रोकने और उसको बदलने की हमको शक्ति देदी है, जैसे वनस्पति और प्राणियों में नस्ल परिवर्तन या नस्ल सुधार; सन्तानोत्पत्ति पर मनचाहा निरोध इत्यादि। एवं उसने प्राकृतिक शक्ति (जिसका एक रूप है सौर शक्ति–Solar Energy) के ज्ञान में, अतएव उसके उपयोग की संभावनाओं में, पर्याप्त वृद्धि करदी है। सामाजिक परिस्थितियां इस तरह बदल चुकी हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे उत्पादन के ढंग में, उत्पादन वृद्धि की सम्भावनाओं में एकदम क्रांतिकारी परिवर्तन करदिया है, एवं हमारे दैनिक जीवन में, रहन सहन में, हमारी सृजनकारी शक्तियों में, हमारी विनाशकारी शक्तियों में कल्पनातीत वृद्धि करदी है।

ऊपर हमने संकेत किया कि किस अभूतपूर्व विशाल पैमाने पर हमारी आविष्कारक बुद्धि और साहस ने हमारी प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करदिया है, और किस तीव्रगति से अब भी यह परिवर्तन जारी है;—ऐसी तीव्रगति से परिवर्तन पिछले ६०-७० वर्षों को छोड़कर पहिले कभी भी नहीं हुआ; पिछले ६०–७० वर्षों की उन्नति (परिस्थितियों में

परिवर्तन) उसके पहिले के ५० हजार वर्षों की उन्नति से जब से मानव का अवतरण हुआ, कहीं बढ़कर है।

किन्तु जिस प्रकार और जिस गति से इन परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ उसके अनुरुप मानव के मानस में, विचार और भावनाओं में परिवर्तन नहीं हो पाया-मानव इन परिवर्तनों के अनुरुप अपना मानसिक सामञ्जस्य (Mental Adjustment) नहीं बैठापाया;-वह अपने पुराने (पूर्वप्राप्त, पूर्व निर्मित) संस्कारों विचारों, भावनाओं और दृष्टिकोण को नहीं बदल सका।

इसलिये आज के मानव के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है। या तो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानसिक सामंजस्य (Mental adjustment) या मानव जाति का विनाश।

इस बात को अच्छी तरह से समझने के लिये एक बार फिर हमें अपने प्राचीन जीव विकास के इतिहास को याद करना पड़ेगा। जीव का आगमन इस सृष्टि में हुआ, फिर उसका विकास होने लगा, भिन्न भिन्न प्रकार के जीव-प्राणियों में उसका विकास हुआ, ये जीव प्राणी अपने ही शरीर में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल भिन्न भिन्न अंग प्रत्यंगों का विकास करते गये; जो ऐसा नहीं कर पाये वे विलुप्त होते गये। विकास होते होते एक ऐसा स्टेज आया जब मानव का विकास हुआ। मानव की विशेषता यह थी कि उसका मस्तिष्क सब अन्य प्राणियों से अधिक विकसित था। ऐसा मालूम होता है

कि मानव की शारीरिक मशीनरी का विकास तो अपनी पूर्णतम स्थिति तक पहुंच चुका है, उसके मस्तिष्क में ही अब वह चेतना और शक्ति निहित हैं कि वह अपने जीवन की हालत को परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाता चले। वास्तव में जब से मानव इतिहास प्रारम्भ होता है तब से आज तक उसकी कहानी यही रही है कि आवश्यकताओं के अनुसार एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल वह अपने मानस को परिवर्तित (Adjust) करता आया है—उसके मस्तिष्क में अवश्य कुछ न कुछ ऐसे अनुकूल संस्कार, विचार और भावनायें बनती रही हैं कि वह जीवित रह सके और मानव-प्रणाली को चलाता रहे।

वास्तव में जिस प्रकार किसी निम्न जीव प्राणी में पंजे, बाल, विशेष प्रकार के दांत इत्यादि का विकास हो जाना इस बात का द्योतक है कि आवश्यकताओं के अनुकूल उसने अपना सामंजस्य बैठा लिया है, उसी प्रकार मानव मस्तिष्क में स्मृतियों का ढेर, उसके सामाजिक तथा धार्मिक विचार और भावनायें, उसके संस्कार, उसके आदर्श इत्यादि,—जिनमें परिवर्तन हुआ है और होता रहता है, इस बात के द्योतक हैं कि वह आवश्यकताओं एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपना सामंजस्य (adjustment) बैठाता रहता है। यहाँ यह बात भी ध्यान में लाई जा सकती है कि जहां परिस्थितियों के अनुकूल शारीरिक

परिवर्तन में तो सैंकड़ों हजारों वर्ष लगते हैं, मानसिक परिवर्तन में अपेक्षाकृत कम समय लग सकता है।

जैसा ऊपर समझाया गया है, आज की परिवर्तित परिस्थितियों में मानव के मानसिक जोड़ तोड़ बैठाने की, सामंजस्य स्थापित करने की (adjustment) की जरुरत है, यही सामंजस्य (readjustment) उसको लुप्त होने से बचा सकता है। अब प्रश्न यही विचारणीय है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानव के मानस में कैसा परिवर्तन उपेक्षणीय है, कैसे मानसिक सामंजस्य की आवश्यकता है, अर्थात् अब किस दिशा की ओर मानस की प्रगति हो: मानव के विकास का अगला चरण क्या है—क्या इसका हमें कुछ आभास है ? इसी से संबंधित दूसरा प्रश्न यह होगा कि आखिर कौनसी वे बांधायें हैं जो मानव मानस में उपेक्षणीय परिवर्तन नहीं होने देतीं,—मानव के विकास को रोके हुए हैं।

ये दोनों प्रश्न स्वतन्त्र अध्यायों के विषय हैं—किंतु फिर भी आज के मनीषियों के विचारों के आधार पर तुरन्त इतना तो निर्देश करना यहां आवश्यक है कि आज की अस्थिर, एवं युद्ध और विनाश के भय से आतुर परिस्थितियों में मानव का मानस निम्न बातों को स्वभावत: स्वीकार कर ले तो अच्छा हो। मानस स्वभावत: यह मान ले—

१. कि, समस्त संसार में मानव समाज एक है, सब मानवों का इतिहास एक है। एवं भविष्य एक।

२. ऐसी स्थिति कि किसी एक जन की भी उचित भौतिक आवश्यकतायें आत्म सम्मान पूर्वक पूरी न हों अ-प्राकृतिक है।

३. कि, इस मानव समाज में युद्ध निषिद्ध है। मानव का "मानस" स्वभावतः ये बातें मानने लगे, ऐसा संभव नहीं जब तक मानव के मानस में आमूल परिवर्तन न हो। मानव स्वयं में जबतक आमूल परिवर्तन न हो, तब तक ऊपरी चेपाचेपी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और आयोजनों मात्र के आधार पर मनुष्य को भय से मुक्ति नहीं मिल सकती। मानस में इस प्रकार का आमूल परिवर्तन वैज्ञानिक एवं उदार शिक्षा द्वारा ही हो सकता है—ऐसी शिक्षा जो रूढ़िगत बंधनों से मानव चेतना को विमुक्त कर उसे वैज्ञानिक और उदार दृष्टिकोण दे। इस परिवर्तन अथवा मानसिक विकास की बात जब हम सोचते हैं तो ध्यान देने पर हमें पता लगता है कि विकास के क़दम को पीछे से जकड़े हुए हैं कई "भूत"—जिनमें मुख्यतया निम्न हैं:—

१. मानव में जातिगत रूढ़ मान्यतायें
२. मानव में आर्थिक रूढ़ मान्यतायें
३. मानव में धार्मिक रूढ़ मान्यतायें
४. मानव में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की भावना.

६२

इस दिशा की ओर प्रगति में बाधक

१. जातिगत—रूढ़मान्यतायें

मानव का इस पृथ्वी पर आगमन हुआ। उसके आगमन के हजारों वर्ष पश्चात हम उसको अनेक जातियों में विभक्त हुआ पाते हैं—जैसे काकेशियस (आर्य), सेमेटक, निग्रो, मंगोला आदि जातियों (Races) में। मानव जाति का जातियों में इस प्रकार विभक्ति करण—यह घटना तो प्राकृतिक वातावरण में विभिन्नता के फल स्वरुप मालूम होती है। किन्तु इसके अलावा प्रारंभिक सभ्य स्थिति के आरंभ में जहां कहीं भी मानव बसे हुए थे हम उनकी भिन्न-भिन्न छोटी-छोटी समूहगत जातियों में भी विभक्त हुआ पाते हैं। ये भिन्न-भिन्न समूहगत जातियां इस तरह बनती थीं, या कि लोगों में इस बात की साधारण, कि वे किसी विशेष समूहगत जाति के लोग हैं जो दूसरे लोगों से भिन्न हैं, इसी प्रकार होने लगती थी कि मनुष्य प्रारम्भ में समूह बनाकर रहता था, और कुछ लोगों के एक समूह में अनेक वर्षों तक एक साथ रहते-रहते उन लोगों का परम्परागत या काल्पनिक रूप से कुछ ऐसा विश्वास बन जाता था कि

मानो वे कुछ लोग जो एक ही समूह में रह रहे हैं, सब एक ही किसी विशेष पूर्वज की संतान हैं और उनका समूह, उनकी समूहगत जाति दूसरे समूहों, दूसरी समूहगत जातियों से, भिन्न है, क्योंकि इनके पूर्वज कोई अन्य विशेष लोग हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता होगा (किन्तु बहुत कम) कि अनेक वर्षों तक किसी एक ही स्थान पर रहते-रहते केवल उस स्थान विशेष के आधार पर ही उनकी जाति बन गई होगी।

इतिहासकार साधारणतया सभी प्रारंभिक स्थिति के मानवों (Primitive People) को इस प्रकार का समूहगत जातियों में संगठित हुआ मानते हैं।

हम जानते हैं नील नदी की उपत्यका में लगभग ३५०० ई. पू. में फेरो (Pharohas=राजाओं) के अधिनायकत्व में समस्त मिश्र के एक राज्य में संगठित होने के पूर्व वहां भिन्न-भिन्न समूहगत जातियों के अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और वे एक दूसरे पर स्वामित्व पाने के लिए शताब्दियों तक परस्पर झगड़ते रहे थे।

यही दशा हम प्राचीन मेसोपोटेमिया में देखते हैं। मेसोपोटेमिया में सर्व प्रथम सुमेरियन जाति का राज्य स्थापित होता है, तंदतर एक अन्य जाति–अक्काद जाति का उत्थान होता है और वे सुमेरी लोगों को परास्त कर स्वयं, अपना राज्याधिकार स्थापित करते है। तदंतर असीरियन जीत आती है, और फिर

केल्डियन लोग आते हैं और इस तरह एक जाति के राज्य-खंडहरों पर दूसरी जाति अपना राज्य-महल खड़ा करती है।

यही हाल हम उस भू-भाग में पाते हैं जो प्राचीन काल में मिश्र और मेसोपोटेमिया के बीच में पड़ता था- जहां आधुनिक एशिया माइनर, इजराइल, सीरिया, जोर्डन, लेबनान इत्यादि स्थित है। इस भू-भाग में राज्य प्रभुत्व (Ascendancy) के लिए अनेक जातियों में झगड़े होते थे–यथा, केनेनाइट, यहूदी, फीनीशीयन, हत्ती, इत्यादि, और फिर असीरीयन और केल्डियन इन समस्त जातियों के लोग एक सेमेटिक उपजाति के थे, किन्तु फिर भी इनमें परस्पर युद्ध होते थे।

सुदूर पूर्व में चीन के प्रारंभिक इतिहास काल में भी यही तथ्य देखने को मिलता है। ई. पू. २६८७ में समस्त चीन के एक सम्राट के आधीन संगठित होने के पूर्व वहां पर भी भिन्न–भिन्न समूहगत जातियों के छोटे–छोटे राज्य थे, और उनमें प्रभुत्व के लिए परस्पर होड़ होती रहती थी, यद्यपि वे सब लोग एक ही जाति के थे।

उपरोक्त प्रारंभिक सभ्यताओं के युग के बाद यूरोप में नार्डिक (काकेशियन आर्य्य) जाति के लोग मानव इतिहास के रंग–मंच पर आते हैं। उन लोगों के प्रारंभिक काल में भी हम वही समूहगत जाति की भावना पाते हैं। ग्रीस का इतिहास लीजिये पहिले आयोनियन कबीले के लोग राज्य स्थापित करते

हैं—फिर स्पटिन और ऐथिनीयन जाते हैं। और फिर सबको परास्त कर मेसौडेनियन लोग (सिकन्दर महान के नेतृत्व में) अपने साम्राज्य की स्थापना करते हैं।

भारत में भी भारतीय आर्यों के भिन्न भिन्न कबीलों के राजाओं के राज्य एवं जनपद स्थापित होते हैं। उदाहरणस्वरुप-नेपाल की तराइ में शाक्यों के, कपिल वस्तु में लिच्छवी वंश के, और मिथिला में विदेहों के जनपद या प्रजातंत्र राज्य थे।

फिर यूरोप में मध्ययुग में एक के बाद दूसरी जाति यूरोपीयन सम्रांगण पर आती है। फ्रैंक आते हैं, गोथ आते हैं, नोर्समेन आते हैं। उन सब में परस्पर झगड़े और युद्ध होते हैं और इतिहास गतिमान रहता है।

यह बात किस तथ्य की और निर्देश करती है ? मानव जाति के प्रारम्भिक काल में जब लोगों की आबादी कम थी-जंगली जानवर, जंगल, और जंगली वातावरण अधिक, उस समय जहां कहीं भी जिस किसी भूखण्ड पर भी मानव रहते थे, वे समूह बनाकर रहते थे उनके छोटे छोटे समूह होते थे और अनेक वर्षों तक साथ रहते-रहते या एक साथ घूमते-घूमते लोगों के ये समूह ही लोगों के समूहगत कबीले बन जाते थे। उन लोगों के मन में यह भावना घर कर जाती थी कि उनके समूह में जितने भी आदमी हैं वे सब एक पूर्वज की संतान हैं और उनका एक कबीला है। ऐसी भावना उन प्रारम्भिक लोगों की

एक "जातिगत जन्मजात भावना" सी होगई। उन दिनों सुन्दर उपजाऊ भूमि एवं सौम्य जलवायु वाले स्थानों की तलाश में जहां भोजन सरलता से और बाहुल्यता से उपलब्ध हो सके, ये जातियां इधर उधर घूमती-फिरती थीं, विचरण करती रहती थीं। एक स्थान पर रहते-रहते दूसरे स्थान पर प्रस्थान इसलिए भी होता होगा कि एक कबीले की जनसंख्या धीरे धीरे बहुत अधिक बढ़ जाने से, और उनकी निवास भूमि सबको पालने में असमर्थ होने से, बढ़ी हुई जनसंख्या प्रस्थान कर जाये, कहीं और उचित उपजाऊ भूमि ढूंढने के लिये। उपजाऊ और अच्छी जलवायु वाली भूमि पर स्वामित्व और एकाधिपत्य अधिकार प्राप्त करने के लिये कई कबीलों का मुकाबला होता रहता था। उनमें युद्ध होते थे और विजेता समूह के लोग शासक बन जाते थे। उनका नेता (Leader) उनमें सबसे प्रमुख व्यक्ति, राजा या सम्राट बन जाता था। प्राचीनकाल की प्रारम्भिक सभ्यताओं में बड़े बड़े राज्यों या साम्राज्यों की स्थापना के पूर्व मानव का इतिहास प्रायः इन समूहगत जातियों (Tribes) के परस्पर विरोध, युद्ध एवं उनके उत्थान-पतन का इतिहास है। यहां तक कि उन प्रारम्भिक साम्राज्यों की स्थापना के उपरान्त भी राज्याधिकार के लिये जातियों (Tribes) में विरोध होते रहते हैं और इस प्रकार अनेक राज्यों में उलट पलट होती रहती है।

धीरे धीरे, पूर्वकाल की अपेक्षा लोगों का परस्पर सम्पर्क

अधिक बढ़ा। लोगों के अपेक्षाकृत बड़े-बड़े समुदाय सम्पर्क में आये उनके रहन-सहन और जीवन में पारस्परिक अधिक विनिमय हुआ, अतएव धीरे-धीरे संकीर्ण समूहगत जाति की भावना विलुप्त होती गई। किन्तु ज्यों-ज्यों इतिहास में हम आगे बढते हैं हम पाते हैं कि समूह गत जाति की भावना यद्यपि अपने प्रारंभिक आदिरूप में विलुप्तप्राय है, किन्तु किसी दूसरे रुप में वह प्रकट होती है। यह जाति गत भावना पहिले धर्म का आवरण धारण करती है और मानव इतिहास के मध्ययुग में (पच्छिमी एशिया और यूरोप में ७ वीं शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक) तो अरब के मुसलमान अपने धर्म के प्रारंभिक जोश में तलवार उठाकर चारों दिशाओं में फैल जाते है। दक्षिण में वे मिस्र और समस्त उत्तरी अफ्रिका को वश में कर लेते हैं पच्छिमी स्पेन तक बढ जाते हैं और उत्तर पूर्व में मध्य एशिया तक। दूसरी और यूरोप के ईसाई अपनी तलवार उठाते हैं और फिलिस्तीन की भूमि में ईसाई और मुसलमानों में कई सौ वर्षों तक अनेक धार्मिक युद्ध (Crusades) होते हैं। फिर यूरोप में पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार के बाद यह आदि "समूहगत जाति" की भावना जातिगत राष्ट्रीयता के रुप में प्रकट होती है। इसी भावना के आधार पर यूरोप में अनेक राष्ट्रीय राज्य (National States) स्थापित होते हैं। जैसे इटली, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इत्यादि, जिनका पुनर्जागरण काल तक (अर्थात १५वीं शताब्दी तक)

यूरोप में नाम तक नहीं था। इस जाति गत राष्ट्रीयता की भावना का भयंकर तम रूप हम सन् १६१४—१८ के संसारव्यापी प्रथम महायुद्ध की विभीषिका में देखते हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद जो राष्ट्रीय राज्य बनते हैं उनमें किसी में भी यदि कुछ ऐसे अल्प संख्यक लोगों की आबादी रह जाती है जिनकी जातीयता (Nationality) उस राष्ट्रीय राज्य के बहु संख्यक लोगों की जातीयता से भिन्न है, तो वे हर समय देशों के लिये अशांति और बड़े बड़े राजनीतिज्ञों के लिये सरपच्ची का कारण बने रहते हैं।

और फिर हम देखते हैं हिटलर को जर्मनी में और मुसो-लिनी को इटली में इसी जातीयता की भावना के आधार पर अपने देशों के बहुसंख्यक साधारणजन को भड़काते हुए और संसार में द्वितीय महायुद्ध की अभूतपूर्व भयावह विभिषिका प्रस्तुत करते हुए।

मानव इतिहास की इन घटनाओं का अवलोकन करते हुए फिर अपना ध्यान और चिन्तन मानव की उस प्रारम्भिक स्थिति की ओर लेजाइये जिस स्थिति में और जिस काल में समूहगत जाति की भावना का मानव में उदय हुआ था।

मानव की कहानी का प्रारम्भिक असभ्य स्थिति से आरंभ करके युग-युग में उसके परिवर्तन और विकास का अवलोकन करते हुए आज हम इस स्थिति में हैं कि हम देख सकें कि मानव

की "जातिगत समूह" की भावना, उसकी "जातिगत राष्ट्र" की भावना कितनी अज्ञानपूर्ण और निरर्थक है। अब तो उसे यह महसूस कर लेना चाहिये कि विश्व में प्राकृतिक विभिन्नता होते हुए भी, मनुष्यों में जातिगत शकल सूरत की विभिन्नता होते हुए भी मानव जाति वस्तुतः एक है। क्या सब देशों में सब काल में प्रत्येक मानव के अन्तःकरण की यह चाह नहीं रही है कि "मैं जीवित रहूँ, मुझे दुःख न हो ?"

ऐतिहासिक दृष्टि से तो हमने देखा कि आज की विकास की परिस्थितियों में मानव में जातिगत भेद भाव (Tribal And Racial Difference) का रहना बिल्कुल निरर्थक है। इसी प्रश्न का अध्ययन यूनेस्को, राष्ट्रसंघ की शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक समिति के तत्वावधान में विश्व के वैज्ञानिकों, प्राणी-शास्त्रियों, प्रजनन-विज्ञान शास्त्रियों, मनो-वैज्ञानिकों, समाज-विज्ञान शास्त्रियों एवं पुरातत्व वेत्ताओं ने निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। जातिगत भेदभाव के प्रश्न के सम्बन्ध में खोज करके अधिकारपूर्ण कुछ निष्कर्षों पर पहुंचे हैं, जिनका सारांश यह है:—

१. जातिय भेदभाव का कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है।
२. सब जातियों में बौद्धिक क्षमता प्रायः समान है। इस बात का कोई भी सबूत नहीं मिलता कि भिन्न भिन्न जातियों की बुद्धि, मिजाज या जन्मजात मानसिक विशेषताओं में अन्तर हो।

३. जातियों के परस्पर मिश्रण से (वैवाहिक सम्बन्धों से) प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से कोई खराबी पैदा होनी हो–इसकी कोई भी साक्षी नहीं मिलती।

४. जातीयता (Race) कोई प्राणीविज्ञान का तथ्य नहीं है—यह तो केवल एक निराधार सामाजिक मान्यता है।

५. यदि सब जातियों को या समूहगत कबीलों को समान सांस्कृतिक सुविधायें मिलें तो प्रत्येक जाति के लोगों की साधारण उपलब्धियां प्राय: समान होंगी।

इतिहास और विज्ञान दोनों इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि मानव मानस को जातिगत भावना के बंधन से मुक्त होना चाहिये।

२. आर्थिक–रूढ़ मान्यतायें

मानव कहानी के पिछले अध्यायों के अध्ययन से आर्थिक विकास का यह क्रम ध्यान में आया होगा:—आदिम मानव प्रकृति प्रदत्त फलमूल से अपना पेट भरता था, उस समय तक प्रकृति में पाई जानेवाली वस्तुओं पर व्यक्तिगत या किसी विशेष वर्गगत स्वामित्व का प्रश्न ही नहीं था; प्रकृति में चीजें बिखरी पड़ी थीं, जनसंख्या कम थी अत: जब जरुरत पड़ी स्वतन्त्रता से चीजें उपलब्ध होगईं, खाने के सिवाय और कोई आवश्यकता थी नहीं। इस आदि स्थिति के साथ ही साथ या कुछ

काल बाद आदि मानव की शिकारी एवं मछुए (माहीगिर) की स्थिति आई, वह जंगली जानवरों का शिकार करता था या मछली पकड़ता था और खाता था। इस स्थिति तक भी निजी सम्पत्ति की भावना पैदा नहीं हुई। धीरे धीरे चरवाहे, गड़रिये या बंजारे की स्थिति में मानव आया। इस स्थिति में एक परिवार के पास, या एक गिरोह के पास, या एक समूहगत जाति के पास अपने भेड़ बकरी, अपने पशु होते थे। यहीं से स्वामित्व की भावना का कुछ कुछ विकास मानव में प्रारम्भ होता है। तदुपरान्त कृषि और पशुपालन प्रारम्भ होता है। कहीं कहीं ऐसा भी सम्भव है कि चरवाहे या बंजारे की स्थिति को पार किये बिना ही मानव कृषि और पशुपालन की स्थिति तक पहुंच गया था—इस स्थिति में हमने देखा कि किस प्रकार धीरे धीरे मिश्र में फेरों, सुमेर में राजा-पुरोहितों की धारणा का विकास होता है, और मानव के मन में धीरे धीरे यह धारणा बैठती जाती है कि फेरो या राजा-पुरोहित ही पृथ्वी का स्वामी है। इसी धारणा से प्रारम्भ होकर मानव समाज में कई वर्गों का विकास होता है—उच्च वर्ग जिसमें विशेषतः शासक और पुरोहित लोग होते थे, और निम्न वर्ग जो कृषि करते थे, मजदूरी या घरेलू चाकरी करते थे। निम्न वर्ग के लोग सम्पूर्णतः उच्चवर्ग के लोगों के आश्रित थे।

फिर हमने ग्रीस और रोम में देखा जहां की सभ्यता का

आधार गुलामी की प्रथा थी। गुलामों की संख्या उच्च वर्ग के लोगों से कई गुणा अधिक होती थी, और ये गुलाम उच्च वर्ग के लोगों के लिये कृषि या मजदूरी या घरेलू चाकरी किया करते थे। गुलामों की कोई निजी सम्पत्ति, किसी भी वस्तु पर कोई स्वत्व नहीं होता था। प्राचीन भारत में प्रायः वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी, विशाल भूमि अनजोती पड़ी थी, अतएव भूमि पर वस्तुतः उसी का स्वामित्व होता था जो कोई भी भूमि जोत लेता था, बस राजाओं को कुछ लगान दे देना पड़ता था (उपज का $\frac{१}{१०}$ से $\frac{१}{६}$ भाग तक)। प्राचीन चीन में विश्वास तो यह था कि समस्त भूमि सम्राट की है किन्तु व्यवहार में समस्त भूमि कृषक परिवारों में विभक्त थी जो विशेष निर्दिष्ट भूमि की ऊपज, या प्रत्येक परिवार अपनी भूमि की ऊपज का कुछ भाग लगान के रूप में शासकों को दे देता था। धीरे धीरे भारत में भी यह सिद्धान्त माना जाने लगा कि भूमि पर स्वत्व तो आखिर राजा या शासक या सरकार का ही है। यह विचार विशेषतः मुसलमान शासकों के जमाने से बना।

मध्ययुग में यूरोपीय देशों में एवं दुनियाँ के अन्य कई भागों में, किसी किसी रूप में भारत और चीन में भी, सामंत-वाद का विकास और प्रसार हुआ। सामंत भूमि के अधिकारी समझे जाते थे और भूमि जोतने वाले स्वत्व हीन मजदूर।

भारत में अंग्रेजों के आने पर जमीदारी प्रथा का प्रचलन हुआ जो अब भी कई भागों में प्रचलित है।

मध्य युग में ही यूरोप में स्वतन्त्र व्यापारी वर्ग का विकास होने लगा था; उन्हीं में से १८वीं १९वीं सदी में यांत्रिक क्रांति के बाद पूंजीपति वर्ग का विकास हुआ और भूमिहीन खेतीहर वर्ग में से औद्योगिक मजदूर वर्ग का। सामंतवाद का अन्त हुआ और उसकी जगह प्रगतिशील पूंजीवाद ने ली। २०वीं शताब्दी में पूंजीवाद का दोर दौरा पूर्वीय देशों में यथा जापान भारत और चीन में भी हुआ। पूंजीवाद में प्रगति की जितनी भी संभावनायें थीं वे सब सम्भवतः अपना ली गई; फिर उसकी बन्धन की सीमाओं को तोड़कर प्रायः समाजवाद। सन् १९१७ में रुस में साम्यवादी क्रांति हुई और समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई। सन् १९४६ में ब्रिटेन की राष्ट्र सभा में मजदूर दल के प्रतिनिधि बहुमत में चुने गये अतएव वहां मजदूर सरकार की स्थापना हुई—और वे अपने ढङ्ग से शनैः शनैः अपने आर्थिक निर्माण से समाजवादी नीति का समावेश करने लगे; फिर १९४९ में चीन में अनेक वर्षों के विनाशकारी गृहयुद्ध के बाद साम्यवादी दल की विजय हुई और साम्यवादी दल के आधीन रुस की तरह वहां भी सर्वहारावर्ग की तानाशाही की स्थापना हुई।

पूंजीवादी रूढियों और मान्यताओं का वास्तविक उन्मूलन तो रूस और चीन में ही हो रहा है. ग्रेट ब्रिटेन में तो समाजवादी मजदूर दल की स्थापना के बाद भी पूंजीवाद की अनेक रूढ़ियां मान्य हैं। इन देशों एवं रूसी प्रभाव क्षेत्र के कुछ देशों जैसे पौलैंड, जेकोस्लोवेकिया, हंगरी, रूमानियां, बलगेरिया को छोड़ दुनियां के शेष सब देशों में आज पूंजीवादी संगठन व्याप्त है।

आर्थिक परम्पराओं और संगठन की दृष्टि से इतिहास का इतना अवलोकन कर लेने के बाद अब हम अध्ययन करें कि आज २०वीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक दृष्टि से मानव की क्या समस्या है; वह क्या सोच रहा है। सभी लोग—विचारक, दार्शनिक, राजनीतिक नेता और अर्थशास्त्री आज कम से कम इतना तो जरुर मानते हैं कि दुनिया के सब लोगों को पर्याप्त पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, रहने के लिये मकान, शिक्षा और विकास के लिये अन्य सब साधन समान रुप से उपलब्ध हों। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इस मान्यता के बावजूद भी दुनियां के सभी लोगों को उपर्युक्त सभी साधन उपलब्ध नहीं। मानव का विशाल साधारण समुदाय, विशेषकर दुनियां के पूर्वीय देशों में, आज गरीब है, इतना गरीब कि संतुलित भोजन, स्वस्थ मकान, शिक्षा इत्यादि की बात तो दूर रही उनको समुचित रुप से पेट भरने के लिये साधारण भोजन भी उपलब्ध

नहीं होता। मानव चेतना बर्बाद हो रही है, उस चेतना को गौरव और आनन्द की जो अनुभूति हो सकती थी, होना चाहिये थी, वह हो नहीं रही है। ऐसी दशा के दो कारण हो सकते हैं:—या तो

१. दुनिया में इतनी चीजें, इतना अन्न, दूध, तरकारी, फल, इत्यादि उत्पन्न ही नहीं होता कि आज दुनियां की २ अरब २० करोड़ मानव जन संख्या के लिये इस तौर पर पर्याप्त हो कि प्रत्येक जन को ये चीजें आवश्यक परिमाण में मिल सकें; और न अन्य आवश्यक सांस्कृतिक साधन (विद्यालय, कलाभवन; खेल मैदान) ही इतने उपलब्ध हैं जो उचित परिमाण में सबको अपने अपने विकास के लिये प्राप्त कराये जा सकें। आज के कई विशेषज्ञों की, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष लोर्ड बोयड ऑर, इङ्गलैंड के प्रसिद्ध समाज-वादी विचारक एवं विज्ञानवेत्ता प्रो० जूलियन हक्सले की, यह राय है कि दुनियां की जन संख्या तीव्र गति से बढ़ती हुई आज इतनी घनी हो गई है कि आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई है; आज जो कुछ भी खाद्य वस्तुयें पैदा हो रही हैं एवं अन्य जो आवश्यक साधन उपलब्ध हैं वे सम्पूर्ण जनता के लिये पर्याप्त नहीं हैं। इन विशेषज्ञों की यह भी राय है कि आज मानव जनसंख्या प्रतिवर्ष २ करोड़ के हिसाब से बढ़ती हुई जा रही है, किन्तु इसी अनुपात से,

उत्पादन के अनेक वैज्ञानिक ढङ्ग होते हुए भी, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। यदि स्थिति वस्तुतः ऐसी ही है तो इस बढ़ती हुई जनसंख्या तथा उससे उत्पन्न समस्या को कैसे सुलझाया जाये? क्या इस प्रश्न को अपनी पूर्व मान्यताओं के अनुसार भाग्य या नियति या प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया जाय, मानो बच्चे पैदा होते रहना, जनसंख्या में वृद्धि होते रहना प्रकृति का एक स्वाभाविक व्यापार है, इसमें मनुष्य क्या करे? किन्तु नहीं,—आज मानव यह जानता है कि यह सृष्टि एक विकासात्मक अभिव्यक्ति (An volutionary phenomenon) है, एवं विकास की जिस स्थिति तक मानव पहुंच चुका है उसमें उसे अचेतन द्रव्य पदार्थ की तरह प्रकृति के नियमों का यन्त्रवत् पालन करने की जरूरत नहीं, अथवा इतर प्राणियों की तरह केवल जन्मजात प्रवृत्ति (instinct) से प्रेरित होकर क्रिया करने की जरुरत नहीं। मानव विशेष-चेतना एवं बुद्धियुक्त कलामय प्राणी है, वह सामाजिक प्राणी भी है। अपने तथा समाज के विकास की दशा को वह स्वयं कुछ सीमा तक स्वतन्त्र रूप से निर्धारित कर सकता है—ऐसी स्थिति में वह है। एतदर्थ समाज एवं समाज के व्यक्तियों का जीवन मंगलमय रखने के लिये आवश्यकता पड़ने पर, वह प्रकृति के उपर्युक्त साधारण एवं स्वाभाविक व्यापार पर भी प्रतिबन्ध का प्रयोग कर सकता है, एवं जनसंख्या और ऊनज की

ऐसी सामंजस्यात्मक योजना कर सकता है कि इस मानव प्राणी को भूखा नहीं मरना पड़े।

२. मानव चिन्ता का दूसरा कारण यह हो सकता है कि दुनियां में इतनी चीजें—इतना अन्न, दूध, फल, तरकारी इत्यादि उत्पन्न तो होता है या उत्पन्न तो किया जासकता है कि आज दुनियां की समस्त मानव जनसंख्या के लिये पर्याप्त हो, एवं आवश्यक सांस्कृतिक साधन भी इतने उपलब्ध हैं या किये जा सकते हैं कि सबको अपने विकास के लिये वे साधन प्राप्त कराये जासकें-किन्तु आर्थिक व्यवस्था ऐसी है जिसमें यह सम्भव हो नहीं रहा है। यह इसलिये कि वे व्यक्ति या वर्ग जिनके अधिकार में उत्पादन के साधन हैं, व्यक्तिगत या वर्ग विशेषगत स्वार्थ साधना के वशीभूत चीजों की कीमत बढाये रखने के लिये, या तो वस्तुओं का उत्पादन ही जान बूझकर कुछ काल के लिये बंद कर देते हैं अथवा उत्पादित वस्तु को ही बाजार में जाने से रोके रखते हैं। या फिर वितरण की व्यवस्था ही इतनी दूषित है कि एक तरफ तो अन्न के ढेर के ढेर पड़े हों, और दूसरी तरफ लोग भूखे मर रहे हों; ऐसी स्थिति इसलिये कि धन का ध्रुवी करण है. एक तरफ तो कुछ लोग अत्याधिक धनी हैं और दूसरी ओर इतने गरीब कि भोजन तक खरीदने के लिये उनके पास पैसा नहीं है। आर्थिक व्यवस्था का यह एक विशेष ढङ्ग है जो कई शताब्दियों से प्रचलित है और जिसे पूंजीवाद की

संज्ञा दी जाती है। इसकी मुख्य मान्यतायें या इसके मूल आधार ये ही हैं कि सब व्यक्तियों को स्वतन्त्रता या अधिकार है कि वे जो चाहें, जितना चाहें उत्पादन करें; जिस ढङ्ग से चाहें उत्पादन करें, व्यवसाय करें, व्यापार करें उसमें राज्य (सरकार) की उस वक्त तक कोई दखल नहीं जब तक जबरन अवैधानिक ढंग से एक आदमी दूसरे आदमी का जीवन और उसकी मालकियत छीनने का प्रयत्न नहीं करता। इन मान्यताओं का व्यावहारिक परिणाम यही निकला की ऐसी दशा में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से, या एक वर्ग और जाति का दूसरे वर्ग और जाति से जितना भी व्यवसाय और व्यापार होता है वह मानव समाज के हितसाधन के उद्देश्य से नहीं होता बल्कि केवल इसी एक उद्देश्य से परिचालित होता है कि किसको कितना अधिक से अधिक लाभ होता है। वे व्यक्ति जिनके हाथ में उत्पादन के साधन हैं,—यहां तक कि वे किसान जो अपनी भूमि के खुद मालिक हैं केवल इसी उद्देश्य से उतना ही और उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिससे उनको अधिकतम लाभ हो—समाज को किस काल में किस विशेष वस्तु की वस्तुतः आवश्यकता है, इसकी चिंता उन्हें नहीं होती। आर्थिक संगठन की ऐसी स्वतंत्र व्यवस्था में जिसमें जो जितना चाहे, जितना उसकी कुशलता करवा सके उतना लाभ उठा ले, ऐसी स्थिति आती है कि समाज का सब धन, उत्पादन के सब साधन देश के कुछ थोड़े से लोगों

के हाथों में ही केन्द्रित हो जाते हैं, और फिर अंत में जाकर दुनिया के केवल एक ही देश के कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में जाकर केन्द्रित हो जाते हैं और शेष जनसमूह इतना गरीब हो जाता है कि समाज में इतनी क्षमता होते हुए भी कि जीवन के लिये सब आवश्यक साधन उपस्थित हैं या उपस्थित किये जा सकते हैं तब भी विशाल जन वर्ग की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं एवं सांस्कृतिक विकास के लिये उनको आवश्यक साधन नहीं मिल पाते; और इस तरह मानव चेतना की बर्बादी चलती रहती है। यह बात केवल एक ही देश जहां तक एक वर्ग के लोगों का दूसरे वर्ग के लोगों से सम्बन्ध है लागू नहीं होता, किन्तु दुनियां में जहां एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश में होता है वहां भी लागू होती है, जैसे किसी एक देश में किन्हीं विशेष प्राकृतिक सुविधाओं की वजह से कोई विशेष चीज उत्पन्न होती है जो दूसरे देश में नहीं होती किन्तु जिसकी उसको आवश्यकता बहुत है तो पहिला देश दूसरे देश का जहां वह विशेष चीज पैदा नहीं होती खूब शोषण करेगा, और हमेशा ऐसा प्रयत्न करेगा कि दुनिया में कोई ऐसा समझौता या सामूहिक संगठन न हो सके जिससे उसको वह विशेष चीज उचित भाव पर देनी पड़े।

ऊपर वर्णित, कई शताब्दियों से प्रचलित परम्परागत एक विशेष आर्थिक विचार धारा या मान्यता है जिसका आधार है

व्यवसायात्मक एवं व्यापारात्मक पूर्ण स्वतंत्रता, एवं व्यक्तिगत मालकियत (वह मालकियत या स्वामित्व भूमिपर हो, मकान पर हो, उत्पादन के साधनों पर हो) के अधिकार की पूर्ण मान्यता। हमने देखा कि इन मान्यताओं को आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी मानकर चलें तो काम नहीं बनता–व्यक्ति और मानव समाज की प्रगति में ये बाधा स्वरुप हैं, इनको बदलना आवश्यक है। इतिहास के अध्ययन ने यह हमको बतलाया है कि कोई भी सामाजिक या आर्थिक संगठन स्थायी नहीं रहता, समय के अनुकूल सब में परिवर्तन होता रहता है, और इसीलिये समाज में गति बनी रहती है और उसका विकास होता रहता है।

इन रुढ़िगत मान्यताओं के प्रति क्रिया स्वरुप आया साम्यवाद। सन् १९१७ में साम्यवादी क्रांति सफल हुई रूस में, और फिर सन १९४९ में यह सफल हुई चीन में। रूस में साम्यवादी क्रांति सफल होने का केवल इतना ही अर्थ है कि वहां सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापना हो गई, उसका यह अर्थ नहीं कि देश में सब लोगों की सब आवश्यकतायें पूर्णतयः पूरी होने लग गई एवं सब प्रकार की आर्थिक विषमतायें दूर हो गई किन्तु इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं कि देश ने अभूतपूर्व प्रगति की–अनेक बंधनों से जैसे निरक्षरता, अज्ञान, अनेक अर्थ हीन रुढ़िगत विचारों से मनुष्य को मुक्ति मिली

और लोगों का जीवन स्तर ऊपर उठा । लेकिन यह सब एक निर्मम तानाशाही भय के दबाब से हो रहा है, देश में किसी को भी ऐसे स्वतन्त्र विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं जो थोड़े से भी साम्यवाद के विरोधी हों। इससे इतना आभास अवश्य कुछ कुछ मिलने लगा है कि साम्यवादी ढ़ंग और विचार भी रुढ़ियों में ढलते हुए जारहे हैं और वे इतने संकुचित और कठोर बनते हुए जारहे हैं, मानो रुसी साम्यवादी कहते हों कि दुनिया में केवल उन्हीं का तरीका ठीक है, अतएव अपनी इस मान्यता की संकुचितता में वे और किसी गैर-साम्यवादी देश के साथ बैठकर विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिये तैयार नहीं ।

एक ओर पूंजीवाद की स्वार्थभावना दूसरी ओर साम्यवाद की निर्मम कठोर विचारधारा के फलस्वरुप आज दुनियां में एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है । दो गुटों में दुनियां बंट चुकी है–एक साम्यवादी गुट जो सर्वहारा तानाशाही द्वारा दुनियां के आदमियों को सुखी बनाना चाहता है, दूसरा तथा कथित जनतन्त्रवादी गुट जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कायम रखते हुए इस मान्यता को लेकर चलता है कि भिन्न भिन्न देश अपनी अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरुप सामाजिक संगठन करके लोगों को सुखी बनालें। इन दो गुटों में भयंकर द्वन्द चल रहा है जो तीसरे विश्व युद्ध की ओर उन्मुख है ।

उपरोक्त दोनों विचारों की रूढ़िवादिता ने एवं एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता के भाव ने मानव समाज को त्रासित कर रक्खा है। मानव दोनों विचारधाराओं की कठोरता से विमुक्त होकर एक तरफ तो यह तथ्य समझलें कि उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के आधार पर नहीं वरन् समाज की आवश्यकताओं के आधार पर होना उचित है, दूसरी ओर यह समझलें कि व्यक्तियों और देशों में परस्पर स्वतंत्र विनिमय, आवागमन और विचार विमर्श से एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपनी मान्यताओं में परिवर्तन लाते रहने से नया प्रकाश ही मिलता है — और इस प्रकार समझकर दोनों ओर के मानव परस्पर मिलकर कोई एक एसी राजनैतिक आर्थिक विश्व योजना बना सकें जो विश्व व्यापी होने की वजह से कई अंशों में संभवतः होगी तो बड़े क्षेत्र में आयोजित सामूहिक ढंग की किंतु स्थानीय क्षेत्र में जिसमें सर्व साधारण की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व की भावना भी कायम रह सके तो आज की परिस्थितियों में मानव विकास का अगला चरण उठ सकेगा। अंत में आर्थिक दृष्टि से तो बुनियादी बात यही है कि जब तक संसार में एक भी व्यक्ति को अपना पेट भरने के लिये और तन ढ़कने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा करनी पड़ेगी, उसके मुहं की तरफ ताकना पड़ेगा, तब तक किसी न किसी रुप में युद्ध की संभावना बनी रहेगी। दूसरे शब्दों में—समाज की शांति बुनीयादी तौर से इसी पर

आधारित है कि प्रत्येक जन की उचित भौतिक आवश्यकतायें आत्म-सम्मान-पूर्वक पूरी हों,—वह सभ्यता कितनी निखरी हुई और शुद्ध होगी जिसमें ऐसा प्रबंध हो। आधुनिक मानव अपने शरीर विज्ञान, प्रकृतिक विज्ञान, एवं सामाजिक विज्ञान के ज्ञान के आधार पर ऐसी सभ्यता का विकास कर सकता है।

३. धार्मिक रूढ़ मान्यतायें

मानव कहानी में हमने पढ़ा कि धीरे धीरे आदि मानव के पुरखाओं के भाव में से, पुरुषों के प्रति स्त्री और स्त्री के प्रति पुरुष की अनेक भावनाओं में से, गंदगी और पवित्रता की भावना में से, स्वप्नों एवं आदि मानवों के अपूर्ण विज्ञान, जादू टोणा एवं गुप्त रहस्य में से वह भावना जिसे धर्म कहते हैं, उदय हो रही थी, विकसित हो रही थी—और अर्ध सभ्य मानव के मन में शनैः शनैः संस्कारित हो रही थी। धीरे धीरे वस्तुओं में वह अदृष्ट या अज्ञात-शक्ति की कल्पना करने लगा, उससे भय भीत होने लगा। अवश्य शक्ति को देवी देवता माना जाने लग—उन देवी देवताओं के रूप की कल्पना हुई; उनकी पूजा होने लगी, और उनको प्रसन्न रखने के लिये उन्हें भेंट चढ़ाई जाने लगी। यह प्रारंभिक धर्म भय और भेंट पूजा का धर्म था। भिन्न भिन्न समूहगत जातियों ने अपने अपने भिन्न भिन्न देवी देवताओं की कल्पना की थी, इन्ही देवताओं के लिये फिर शनैः शनैः पूजा स्थान, मंदिर भवन बनने

लगे। मंदिरों में देव पूजा के लिये पुजारी पुरोहित होते थे। पुरोहितों की वजह से अनेक प्रकार की पूजा पाठ विधियों, कर्मकांडों और रीति रस्मों का प्रचलन हुआ। धीरे धीरे पुरोहित वर्ग ने इस भय धर्म की बुनियाद को पक्का बनादिया। पुरोहित वर्ग मानव का अज्ञात शक्ति से सुख दुख प्राप्त करवाने वाला ठेकेदार बन गया। भारत में चाहे वैदिक युग में, व चीन में "परिवर्तन के नियम" पुस्तक के युग में उपरोक्त प्रकार के मूर्ति पूजक (Paganism) धर्म का प्रचलन न रहा हो, किंतु साधारणतया प्रारंभिक युगों से लेकर हजारों वर्षों तक दुनियां के भिन्न भिन्न भागों से ऐसे ही धर्म का प्रचलन रहा। अब भी अनेक लोगों की बुद्धि इन प्राचीन संस्कारों का गुलाम बनी हुई है।

इसके पश्चात उन संगठित धर्मों का प्रचलन हुआ जिनका आधार तथा कथित दिव्य वाणी कही जाती है—और जो दिव्य वाणी ग्रंथों में संकलित है। अलग अलग धर्म की अपनी अलग अलग धर्म पुस्तक है जैसे यहूदियों की इंजील, ईसाइयों की बाईबल, मुसलमानों की कुरान, हिन्दुओं के मुख्यतया वेद, बौद्धों के मुख्यता त्रिपिटक। इन धर्म पुस्तकों में जो कुछ भी लिखा है उसमें भिन्न भिन्न धर्म वाले लोगों का इतना रुढ़ विश्वास जमा हुआ है कि जो कुछ उनमें लिखा हुआ है वही सत्य है उसके परे कुछ नहीं। यह भी मानले कि धर्म में कोई

शाश्वत तत्व होता है, किंतु बात तो यह है कि आज "दिव्यवाणी" वाले जितने भी धर्मज्ञात हैं और जिनके विषय में यह कहा जाता है कि केवल उनमें आदि परम सत्य निहित है,- यदि उनके विकास का अध्ययन किया जाये तो पता लगेगा कि कोई भी धर्म अपने आदि शुद्ध रुप में नहीं रहा। प्रत्येक धर्म के चारों ओर मूढ़ परम्पराओं की सीमायें बंध जाती हैं और वह धर्म न रह कर प्रायः निरर्थक बाह्याचारों का एक संगठित आडंबरमात्र रह जाता है जो केवल जड़वस्तु होती है। इतिहास पढ़ते पढ़ते यह भी दृष्टिगत हुआ होगा कि प्रारंभिक काल से लेकर समय समय पर और भिन्न देशों में धर्म के जिन भिन्न भिन्न रुपों का उदय और विकास हुआ वह उन देश काल की परिस्थितियों में स्वाभाविक था। मुसा, ईसा, मुहम्मद ने जो विचार दिये सचमुच वे नये मौलिक विचार थे- विकास की उस अवस्था में, एवं तत्कालीन परिस्थितियों में। किंतु आज उनका महत्व विशेषकर ऐतिहासिक महत्व है। हाँ, व्यक्तिगत क्षेत्र में, व्यक्तिगत शांति के लिये, व्यक्तिगत आध्यात्मिक आधार के लिये उनका एक दूसरा महत्व भी होसकता है। इसके परे कुछ नहीं। आज यदि मूसा का यहूदी यह कहने लगे कि हम (यहूदी) तो परमात्मा के विशेष प्रिय प्राणी हैं और परमात्मा ने हमसे वायदा कर रक्खा है कि समस्त संसार में हमारी संरक्षता में न्याय का एक राज्य स्थापित

होगा—यदि ईसा का ईसाई कहने लगे कि इस पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य सबके ईसाई बनने पर ही अवतरित होगा,—यदि मुहम्मद का मुसलमान कहने लगे कि सारी दुनियां को मुसलमान बनाकर हम इस पृथ्वी पर ख़ुदा की सल्तनत कायम करेंगे,—इसी प्रकार यदि कोई हिन्दू, ईरानी और बौद्ध अपने व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र को छोड़कर यह कहने आये कि उसी की ही संस्कृति सर्वोत्तम है और केवल उसी में संसार का कल्याण निहित है, तो ये सब बातें, भावनायें और विचार मानव विकास में किसी भी प्रकार सहायक नहीं हो सकती, बल्कि उसकी प्रगति में बाधक होगी, और उसका परिणाम अधोगति न कि कल्याण।

यह सब पढ़ने से यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि धर्म अथवा ईश्वर का इतिहास में कुछ महत्व नहीं। माना जिस संसार में हम रहते हैं उस संसार में पदार्थ सत्य (वैज्ञानिक सत्य) सर्वोच्च है, उसको कोई नहीं बदल सकता, एवं इस पदार्थ सत्य को समझ जानकर ही हम अपना, समाज तथा समाज का नियमन परिचालन करें; किन्तु इतना होने पर भी यदि किसी मनुष्य में एक सच्ची, (पाखण्डात्मक नहीं—जैसा अनेक तथा कथित रहस्यवादी, भक्त एवं योगी लोग करते हैं) आन्तरिक प्रेरणा होती है और उससे प्रेरित होकर वह उधर दौड़ता है जहां उसको उसका ईश्वर अथवा प्रेमी, या कोई भी

आराध्य 'देवता' या 'देवी' या आदर्श मिलने वाला है—तो उसे अपने पथ पर दौड़ने दो। यही उसका सच्चा धर्म है। इसका बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध नहीं।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य फिर अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक प्रेरणा से अपनी आराध्य देवी, या अपने इष्टदेव की मूर्ति स्थापित कर उसकी पूजा करना चाहता है तो उसे करने दो। मूर्तिखण्डनात्मक आर्य या इस्लाम धर्म को उस स्थान पर बाधा उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं। इटली का सबसे बड़ा कवि दांते बिटिस नामक युवती की सुन्दरता से प्रेरित होकर, हृदय में उसकी मूर्ति स्थापित करके ही अपना महान ग्रंथ "दिवाइना कोमेदिया" संसार के आनन्द के लिये प्रस्तुत कर सका था। लिओनार्दो दा विंसाई मोनालीसा के चित्र को बनाकर ही सत्य और सुन्दरता की पूजा कर सकता था। सत्य के इस रूप के आगे धर्म का कोई बाह्य रूप नहीं टिकता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध धर्मों के सभी बाह्य रूपों का अस्तित्व मिट जाता है, कोई धर्म नहीं बचता। यदि कुछ शेष रहजाता है तो वह मनुष्य की एक आन्तरिक प्रेरणा, एक "भावात्मक संसार" एक परम आनन्ददायिनी भावना (Ecstasy)—इसी भावात्मक आनन्द में उसका धर्म निवास करता है। यह आन्तरिक भावात्मक अनुभूति हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन इत्यादि धर्मों का परिणाम नहीं-यह तो उस मनुष्य की स्वतः कोई

आन्तरिक प्रेरणा है, उसके हृदय की कविता है; यही उसका धर्म है, यही उसका ईश्वर और इस धर्म अथवा ईश्वर का बाह्य संसार से क्या प्रयोजन ? बाह्य संसार में तो वह अपना व्यवहार पदार्थ सत्य पर ही निर्भर करेगा।

भावात्मक संसार का, दूसरे शब्दों में "भावलोक" अथवा "आध्यात्मिक लोक" को हम केवल कल्पना मात्र नहीं बता सकते। वह भी एक वास्तविकता है। किन्तु वह वास्तविकता व्यक्ति के अन्तरङ्ग हृदय, अनुभूति, की वास्तविकता है; उस वास्तविकता का स्थान व्यक्ति का अन्तरप्रदेश या हृदय ही है। वह अन्तर प्रदेश में अपने आराध्यदेव या देवी की पूजा में मग्न रहे, वहां आनन्द और शांति की अनुभूति करे, किंतु जब संसार में व्यवहार करने आये तो अपने व्यवहार को पदार्थ या मनोवैज्ञानिक या अनुभव सत्य पर आश्रित करे। इस प्रकार व्यावहारिकता से आचरण और कार्य करते हुए भी वह अपने मन के देव अथवा देवी या और किसी परमात्मा के भरोसे छोड़ सकता है, अपने हृदय अथवा आत्मा में उस देवी अथवा देवता पर निर्भर रह सकता है और हृदय में आनन्द और शांति पासकता है। इसका यही अर्थ होगा कि वह सब कार्य व्यावहारिकता से कर रहा है किंतु फल की इच्छा से नहीं, केवल निर्लिप्त भाव से अनासक्त योग से। ऐसा करने से संसार में रहता हुआ भी, पदार्थ सत्य के अनुसार कार्य करता हुआ भी अपने हृदय के

आनन्ददायक देवी या देवता की आराधना में निमग्न रह सकता है और वहां शांति, मुक्ति और आनन्द पासकता है।

वह हृदस्थ देवी या देवता उसे आन्तरिक आनन्द और शांति देसकता है–और कुछ नहीं। उस देवता, देवी या परमात्मा का और कहीं प्रयोग हुआ कि अनर्थ हुआ। अपनी कल्पना दृष्टि के सामने लाइये वह दृश्य जब ईश्वर का प्यारा भक्त ईसा सूली पर चढ़ते समय,—मुंह प्यास से सूखा हुआ, सारा शरीर दर्द के मारे ऐंठन खाता हुआ, अपने जीवन की अन्तिम घड़ी में चिल्ला रहा था—"ओ मेरे परमात्मा, मेरे परमात्मा, क्यों तूने मुझको बिसार दिया?" इस प्रश्न का उत्तर? उत्तर यही है कि मानव यदि सच्चा है तो केवल भावलोक में ईश्वर की भावात्मक अनुभूति करले—बाह्य जगत में उसकी स्थापना करने का प्रयत्न न करे।

बाह्य जगत में यदि प्राकृतिक सत्य (वैज्ञानिक, व्यावहारिक सत्य) को छोड़ यदि उसने किसी परा-प्रकृतितत्व (ईश्वर) की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया तो वह अपने ईश्वर को झूठा साबित करके ही छोड़ेगा। अब तक का मानव इतिहास पढ़ने से यह तथ्य भी समझ में आया ही होगा कि ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध इत्यादि किसी भी धर्म के समाज में संगठित रूप ने मानव का अमंगल अधिक एवं मंगल कम किया है—जब इन धर्मों का उदय हुआ तब से आजतक धर्म के नाम पर मानव का

उत्पीड़न और उसकी हत्या प्रत्येक युग में दुनिया में किसी न किसी जगह होती ही रही है। अतएव धर्म एवं ईश्वर का भी उचित स्थान व्यक्ति का अन्तर ही है।

४. मानव में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की भावना

ऊपर जिन जातीय, आर्थिक एवं धार्मिक रुढ़िगत मान्यताओं का वर्णन किया गया है उनके पीछे या मूल में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की भावना हो सकती है। मानव की यह आदत है कि ज्ञात या अज्ञात रूप से कभी कभी वह यह सोचने लगता है एवं ऐसा व्यवहार करने लगता है मानो वह समाज निरपेक्ष है, मानो वह समाज से परे अपने आप में पूर्ण है। यह बात निर्विवाद है कि प्रकृति और समाज के परे व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। प्रकृति, मानव और समाज मूलत: एक ही तत्व की अभिव्यक्ति है, इनमें से किसी एक की भी सत्ता सर्वथा स्वतंत्र निर्विशेष नहीं; अतएव वह चीज भी जिसे व्यक्ति का अपना 'व्यक्तित्व' कहते हैं सर्वथा स्वतंत्र और निर्विशेष कुछ चीज नहीं। इस मूल भूत बात को भूलकर जब समाज के बहुजन व्यक्ति केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से आचरण करने लगजाते हैं तो कुछ समय के लिये

उनका व्यक्तिगत भला चाहे अवश्य होजाये किंतु अंततोगत्वा उससे समाज और मानवता का पतन ही होता है, उसका परिणाम दु:खद ही होता है। ऐसे संकुचित व्यक्तित्ववादी व्यक्ति यदि बुद्धे हैं तो अपने स्वार्थपूर्ण व्यक्तित्व का दु:खद परिणाम अपनी आंखों के सामने चाहे न देख पायें किंतु अपनी संतानों के लिये तो वे अभिशाप ही छोड़ जाते हैं। इसका साक्षी है इतिहास:— प्राचीन मिश्र, बेबीलोन की सभ्यताओं और समाज का पतन उस समय हुआ जब वहां के शासक और उच्चवर्गीय लोगों का जीवन में यही एक ध्येय बच गया कि बस वे ऐशो आराम से रहें दुनियां में और चाहे जो कुछ होता रहे; ग्रीक नगर राज्य व्यक्तिगत अपने ही स्वार्थों को देखते रहे, उनमें यह दृष्टि (Vision) नहीं आपाई कि परस्पर मिलकर रहें, अत: वहां उनका विनाश हुआ; उधर मिश्र में ग्रीक टोलमी राजा प्राचीन मिश्र फेरो की तरह अपने ही ऐशोआराम कि फिक्र में पड़ गये अत: वहां भी ग्रीक जीवन और सभ्यता का अंत हुआ; प्राचीन ईरान के सम्राट (ईसा पूर्व काल में सम्राट दारा के उत्तराधिकारी; और फिर ७वीं शताब्दी में ससनद वंश के सम्राट) भी समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन न कर अपने व्यक्तिगत धन, ऐश्वर्य और विलास के फंदे में पड़ गये, अत एव प्राचीन फारसी जीवन और सभ्यता का भी अंत हुआ; रोमन सम्राट और रोमन उच्चवर्ग और प्राय: सभी व्यक्ति अपने अस्तित्व की अंतिम शताब्दियों में

केवल अपने व्यक्तिगत धन और सत्ता की फ़िक्र करते थे, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व की भावना को भूल चुके थे, उनकी दृष्टि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तक ही सीमित थी अतएव कैसे वे देख सकते थे कि स्वयं उनके साम्राज्य में एवं उनके साम्राज्य के बाहर की दुनिया में किन्हीं नई शक्तियों का उदय हो रहा है. अतएव धीरे धीरे अंधकार छाया जिसमें वे विलुप्त होगये।

प्राचीन काल में तो परिस्थितियां भिन्न थीं एवं सामाजिक संगठन भी भिन्न; उस काल में, कुछ अपवादों को छोड़कर, सर्वसाधारण का राज्य (State) से इतना अधिक सम्पर्क नहीं था जितना आज, अतः साधारण जन में सामाजिक भावना का अधिक महत्व नहीं था। राज्य की स्थिति शासकवर्ग और प्रायः उच्चवर्ग पर ही आधारित होती थी, इसलिये विशेषतः उन्हीं में सामाजिक भावना अधिक उपेक्षणीय थी; और जब उनमें इस सामाजिक भावना का अभाव हो जाता था और वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सत्ता लोलुपता में फंस जाते थे तभी समाज और सभ्यता का पतन और विनाश प्रारंभ हो जाता था। किंतु आज साधारण जन का युग है, आज के राज्य जनतन्त्र राज्य हैं एवं उनकी स्थिति आधारित है सर्वसाधारण पर। अतः साधारण जन के लिये आज यह विशेष उपेक्षणीय है कि उनमें सामाजिक भावना हो; इस 'सामाजिक भावना' के अभाव में आज की सभ्यता और समाज का (जनतन्त्रवादी

सभ्यता और समाज का) पतन हो सकता है; इतिहास का यह सबक हमको नहीं भूलना चाहिये।

अतएव आज जब हम व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास की बात करें तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि उस व्यक्तित्व में अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ साथ "सामाजिकता" भी एक गुण हो, व्यक्तित्व "सामाजिक व्यक्तित्व" हो। जैसा प्रारम्भ में कहा गया था, "व्यक्तित्व" या "मानस" कोई स्थिर (Static) और निर्विशेष चीज नहीं है, प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में परिवर्तन के साथ साथ 'व्यक्तित्व' और "मानस" में भी परिवर्तन हो सकता है; ऐसा परिवर्तन नहीं जो केवल परिमाणात्मक (Quantitative) हो, किंतु मानव प्रकृति में ही कोई मूलभूत परिवर्तन, जिसे गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन कहते हैं। अतः विकास की यह दिशा हो सकती है कि मानव के मानस में तत्वतः सामाजिकता का उदय हो, स्वभावतः मानव 'सामाजिक' बन जाये, सामाजिकता उसकी अनुभूति का एक प्राकृत अंग बन जाये; उसमें नैसर्गिक यह समझ हो कि समाज और सभ्यता का विकास साधारण जन की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर करता है, और फिर यह समझ हो कि आज की परिस्थितियों में समाज, कोरे आदर्श की दृष्टि से नहीं किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से, एक देशीय नहीं वरन इतना विस्तृत होता जारहा है कि उसकी भावना के अन्तर्गत अखिल मानव जाति समाविष्ट है।

मानव विकास का अगला चरण

आज हम संसार में नये नये, अद्‌भुत अद्‌भुत ज्ञान विज्ञान की चकाचौंध देख रहे हैं। इतिहास में पहिले कभी भी सारे संसार में एक साथ, एक समय ज्ञान विज्ञान की इतनी और ऐसी संभावनायें उपस्थित नहीं हुई थी जैसा आज। न कभी पहिले यह समस्त पृथ्वी एक ज्ञात पूर्ण इकाई बनी थी. जैसी आज यह है, और न इस पृथ्वी का सही ज्ञान पहिले इतने मनुष्यों को था जितनों को आज है। जिन परिस्थितियों में हम कुछ वर्ष पूर्व रह रहे थे वे बदल चुकी हैं और तीव्र गति से बदलती हुई जारही हैं। इसका आभास पूर्व अध्याय में करवाया जा चुका है। यदि विमुक्त हो हम आगे बढ़ते रहना चाहते हैं, जीवित रहना चाहते हैं— अंधकार मय युग की ओर प्रतिवर्तन रोकना चाहते हैं तो आज यह आवश्यक है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल हम अपनी व्यवस्था बैठालें। परिवर्तित परिस्थितियों में और हमारी मानव व्यवस्था में एक सामञ्जस्य स्थापित हो: जो आज नहीं है। परिवर्तित परिस्थितियों का यह तकाजा है कि राष्ट्रराष्ट्र, धर्मधर्म, जातिजाति, आर्थिक एवं सामाजिक

व्यवस्था के बीच जो भेदभाव है वह हटकर समस्त मानव जाति की पुनर्व्यवस्था इस ढंग से हो कि मानव जाति सतत क्रियाशील (Creative) एक, केवल एक विश्व समाज बने। एक ऐसा विश्व-समाज जिसकी राजनैतिक सत्ता एक विश्वसंघ राज्य (World State) में निहित हो, जहां कि आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था इस आधार पर खड़ी हो कि विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुष्टिकर संतुलित भोजन, वस्त्र, खुला हवादार मकान, चेतना की अधिकतम जागृति और प्रस्फुटन के लिये शिक्षा एवं विकास के अन्य साधनों का समुचित प्रबन्ध हो,—प्रत्येक व्यक्ति का यह विधिवत मान्य अधिकार हो कि ये सब साधन उसको उपलब्ध हो, एवं भाषण, प्रकाशन, रचनात्मक आलोचना एवं अनुसन्धान की सबको पूर्ण स्वतन्त्रता हो जिसके बिना प्रकाश का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आज ये संभावनायें उपस्थित हैं जो पहिले कभी नहीं थीं, कि ऐसा हो सके;—वैज्ञानिक आविष्कारों में और मानव ज्ञान में अपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप मानव मानव, देश देश एक दूसरे के इतने निकट आ चुके हैं कि कोई एक जाति अथवा एक धर्म अथवा एक सामाजिक, एक आर्थिक व्यवस्था अथवा कोई एक देश अपने आपको शेष मानव समाज से सर्वथा पृथक और अछूता नहीं रख सकता।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल नव मानव-व्यवस्था

बैठाने के लिये आवश्यकता है मानव के मानस में परिवर्तन की–उसके विकास की। इस विकास का रूप यह हो सकता है।

(१) जाति, धर्म एवं सामाजिक आर्थिक रूढ़ मान्यताओं के बंधन से मानव चेतना विमुक्त हो। जैसा पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है।

(२) मानव का व्यक्तित्व "सामाजिक व्यक्तित्व" हो। जैसा पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है।

(३) वस्तुओं, जीवन और सृष्टि के प्रति मानम का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अर्थात् यह चेतना, या समझ कि समाज में संगठित मनुष्य अपनी बुद्धि, और भिन्न भिन्न प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों के विशलेषण आदि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, सब प्रकार की अपरोक्ष सत्ता से (जैसे देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल, नियति आदि से) स्वतंत्र, अच्छी बुरी जैसी चाहे अपनी तथा अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। किसी भी प्रकार की अपरोक्ष-सत्ता से स्वतंत्र—अर्थात वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह मान कर चलता है कि व्यक्तिगत जीवन, समाज, राष्ट्र एवं सृष्टि के व्यापारों एवं संगठन में किसी भी अपरोक्ष सत्ता का (उपरोक्त देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल नियति का) बिल्कुल भी दखल नहीं है। जो इस प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं उसका यह अर्थ नहीं कि वे परमात्मा में

अनिवार्यतः विश्वास ही नहीं रखते हों। महात्मा गांधी ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते थे, किंतु अपने समाज और देश में जो विषम और दुःखद परिस्थितियां थीं उनकी ओर से कह कर वे उदासीन और विरक्त नहीं होगये थे कि इन बातों में हम मनुष्य क्या कर सकते है–जो कुछ ईश्वर को मंजूर होगा वह अपने आप ही हो जायेगा बल्कि अपने समाज, देश और विदेशों की आज की परिस्थितियों का मनन करके और विश्व–समाज में आज क्या शक्तियां काम कर रही है इसका चिंतन करके वे अपनी तीव्र बुद्धि एवं गूढ़ दृष्टि से इन विषम सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से पार होने के और एक सुखद अवस्था तक पहुँचने के रास्ते के विषय में अपने ही एक विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे थे। यह निष्कर्ष भाग्यवादी नहीं था, बल्कि पदार्थ, इतिहास और समाज के तथ्यों पर निर्धारित एक रास्ता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की यह एक मूल प्रेरणा है कि मानव, समाज को अनिश्चित घटनाओं के या भाग्य के भरोसे लुढ़कने देने की अपनी मानसिक आदत को छोड़कर स्वभावतः यह धारणा बनाले कि, समाज की व्यवस्था मानव अधिकार की वस्तु है, मानव इच्छानुकूल अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। मानव इतिहास में ऐसे प्रयोग हो चुके हैं और यह देखने में आ चुका है कि विशेष कठिनाइयों की परिस्थितियों में (जैसे पिछले १९३९-४५ महायुद्ध में) मनुष्य संगठित होकर अपने

प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान की जानकारी और बुद्धि के प्रयोग से परिस्थितियों के अनुकूल समाज की नव-व्यवस्था कर सकते हैं।

मानव का ऐसा परिवर्तन कोई सरल बात नहीं है। इसका अर्थ है मानव के मानस (Mental Construction) में एक अभूतपूर्व क्रांति:-इसका अर्थ है उसकी बुद्धि, चेतना और मन में युगांतरकारी परिवर्तन होकर उसके समस्त मानव (बौद्धिक, नैतिक एवं भावात्मक) की नये आधारों पर पुनर्रचना। यह तभी संभव हो सकता है जब आज विश्व भर में प्रचलित शिक्षा संगठन में और उसके आदर्शों में आधार भूत परिवर्तन किया जाये और शिक्षा का इस प्रकार पुर्नसङ्गठन हो जिससे कि मानव मानस विमुक्त हो और उसमें वैज्ञानिक और उदार दृष्टिकोण उद्भासित हो उठे। इसका अर्थ है विश्व व्यापी सतत एक शिक्षणात्मक सांस्कृतिक आंदोलन। यदि मानव अपने मानस को आज के बंधनों से विमुक्त कर प्रगति का कदम उठा सका तो मानना चाहिये सृष्टि में नई आभा का उदय होगा अन्यथा अंधकारमय युग की ओर प्रतिवर्तन।

मानव मानस (चेतना, मन, बुद्धि) में युगांतर-कारी परिवर्तन के तथ्य को एक और दृष्टि से भी देखा जा सकता है। वह इस प्रकार-निष्प्राण अचेतन द्रव्य में से किसी युग में उद्भव हुए प्राण, प्राण में से उद्भव हुई चेतना: तो क्या विकास का

अगला चरण यह नहीं हो सकता कि मानव की चेतना में से विकसित हो "अति चेतना," "अतिमानस" (Super Consciousness)। इस संभावना की ओर संकेत किया है आज के महायोगी अरविंद ने उनकी धारणा है, कहते हैं योगी अरविंद की यह प्रत्यक्ष अनुभूति हैं कि सृष्टि में अतिमानस का अवतरण (Descent of the super conscious state) निश्चित है। अतिमानस क्या है और कैसे इसकी उद्भावना होगी इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि—"अतिमानस मन, प्राण और जड़तत्व के परे सत्ता का एक स्तर है और, जिस तरह, मन प्राण और जड़तत्व पृथ्वी पर अभिव्यक्त हुए हैं उसी तरह अतिमानस भी वस्तुओं की अनिवार्य धारा के अंदर अवश्य ही जड़ जगत में अभिव्यक्त होगा। वास्तव में अतिमानस यहां अभी भी विद्यमान है पर है निवर्तित अवस्था में, इस व्यक्त मन, प्राण और जड़ तत्व के पीछे छिपा हुआ और अभी वह ऊपर की ओर से अथवा अपनी निजी शक्ति से क्रिया नहीं करता; अगर वह क्रिया करता है तो इन निम्नतर शक्तियों के द्वारा करता है और उसकी क्रिया इनके विशिष्ट गुणों के द्वारा परिवर्तित हो जाती है और इस कारण अभी पहिचानी नहीं जाती। जब अवतरणोन्मुख अतिमानस यहां आ और पहुँच जायेगा केवल तभी यह प्रच्छन्न अतिमानस पृथ्वी पर उन्मुक्त होगा और हमारे अन्नमय, प्राण मय और मनोमय अंगों की क्रिया में अपने आपको प्रकट

करेगा जिससे ये निम्नतर शक्तियां हमारी समस्त सत्ता की सम्पूर्ण दिव्य-भावापन्न क्रिया का अंग बन सकें, यही वह चीज है जो हमारे पास पूर्ण रूप से सिद्ध दिव्यत्व को अथवा दिव्य जीवन (Divine Life) को ले आयेगी। निःसंदेह ऐसे ही ढंग से जड़तत्व में निवर्तित प्राण और मन ने अपने आपको यहां सिद्ध किया है, प्रकट किया है, क्योंकि जो कुछ निवर्तित है वही विवर्तित, विकसित हो सकता है, अन्यथा कोई भी आविर्भाव, प्राकट्य नहीं हो सकता।"

"अतिमानस और उसकी सत्य चेतना की अभिव्यक्ति अवश्यंभावी है, वह इस संसार में जल्दी या देर में होकर ही रहेगी। परन्तु इसके दो पहलू हैं,–ऊपर से अवतरण, नीचे से आरोहण,–परम आत्मा का प्राकट्य, विश्व प्रकृति में विकास। आरोहण अवश्यमेव एक प्रयत्न है, प्रकृति की एक क्रिया है, उसके निम्नांगों को विकासात्मक अथवा क्रांतिकारी तरीके से उन्नति अथवा रूपान्तर द्वारा उठा कर दिव्यतत्व में परिवर्तित कर देने का एक संवेग या प्रयास।"

"विकास का जैसा रूप हम इस संसार में देखते हैं वह एक मंद तथा कठिन प्रक्रिया है और निःसंदेह उसे स्थायी परिणामों तक पहुँचने में प्रायः युगों की जरुरत होती है। परन्तु यह इसलिये कि विकास, अपने स्वरुप में, अचेतन प्रारम्भों से एक प्रकार की उत्क्रांति है, निश्चेतना-मूलक है, प्राकृतिक

सत्ताओं के अज्ञान के भीतर प्रत्यक्षतः अचेतन बल द्वारा होने वाली एक क्रिया है। इसके विपरीत, एक ऐसा भी विकास हो सकता है जो पूर्ववत अंधकार में नहीं बल्कि प्रकाश में हो जिसमें विकासोन्मुख जीव सचेतन रुप से भागले तथा सहयोग दे, और ठीक यही चीज यहां घटित होगी ।" [अदिति से]

—०—

६४

इतिहास की गति

अबतक मानव जितना ज्ञान सम्पादन कर सका है, उसके आधार पर कहा जाता है कि सृष्टि के व्यक्त रुपमें प्रस्फुटन होने के पश्चात् वास्तविक मानव (True man-Home-Sapien) का आविर्भाव हमारी इस पृथ्वी पर अनुमानतः आज से पचास-साठ हजार वर्ष पूर्व हुआ। तब से आजतक यह मानव, स्वयं प्रकृति से उद्‌भूत होकर प्रकृति के वातावरण में प्रकृति का ही एक अंग बनकर रहता हुआ, इस पृथ्वी पर प्रयास (Adventure) करता हुआ आया है—प्रकृति के क्षेत्र में खेल खेलता हुआ आया है। मानव का यह प्रयास (Adventure), मानव का यह खेल ही मानव की कहानी है–मानव का इतिहास है। यह कहानी गतिमान है, यह इतिहास अभी चल रहा है। अबतक की

यह कहानी पढ़कर क्या हमें यह प्रतीति हुई कि मानव ने जो खेल खेला और जो खेल खेल रहा है, उस खेल के कुछ अटल नियम थे, कुछ अटल नियम हैं ? क्या उन नियमों से नियन्त्रित होकर ही, उन नियमों की परिधि में ही मानव अपना खेल खेल पाया;—अपना प्रयास कर पाया ? उन नियमों का उल्लंघन करके नहीं ? क्या जैसा उसने चाहा स्वतन्त्र अपनी इच्छा से वह अपना कार्य-कलाप नहीं कर पाया-क्या जैसा वह चाहे, स्वतंत्र इच्छा से अपना खेल नहीं खेल सकता ? दूसरे शब्दों में, क्या इतिहास की गति भी नियमबद्ध है ? क्या नियमों की एक कठोर और अटल नियति ही इस इतिहास-चक्र को चला रही है-मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा की उसमें प्रतिष्ठा और मान्यता नहीं ? प्रकृति (अचेतन या अपेक्षाकृत कम अचेतन सृष्टि) तो अवश्य अटल नियमों में जकड़ी हुई, अबाधगति से चलती हुई हमें प्रतीत होती है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर अश्रान्त गति से चक्कर लगाती रहती है, अटल नियम से प्रतिदिन प्रकाश का उदय होता रहता है, फिर उत्थानात्मक विकास, फिर पतनोन्मुख गति और फिर अन्त। क्या इतिहास की गति भी इसी प्रकार नियम बद्ध नहीं—इतिहास, जिसका क्षेत्र स्वयं यह प्रकृति है और जिस क्षेत्र में खेलनेवाला मानव स्वयं प्रकृति में से उद्भूत और विकसित प्रकृति का ही एक अंग है (विकासवाद) ? व्यक्ति स्वयं का भी तो जन्म, विकास और अन्त होता है—हमने देखा होगा

सभ्यताओं की भी तो यही गति रही है--अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ, उत्थानात्मक उनका विकास हुआ, फिर पतनोन्मुख गति और फिर अन्त। तो इतिहास की गति के कुछ नियम हैं? यदि हैं तो ये नियम क्या हैं? क्या इन नियमों की जानकारी भविष्य में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है? उनकी जानकारी से क्या हम घटना चक्र को बदल सकते हैं? या वे नियम स्वयं अटल हैं-हमें ज्ञात हों, न हों-जो कुछ होना है, वह तो होगा ही ?

५० हजार वर्षों के अनुभव की थाती मानव के पास होते हुए भी अभी तक वह इस स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ है कि वह सम्पूर्ण ज्ञान का दावा कर सके। आखिर ज्ञान भी तो सतत वर्धनशील है, विकासमान है। फिर भी, महान दार्शनिकों ने, विज्ञानवेत्ता एवं इतिहासवेत्ताओं ने, इतिहास की गति के विषय में अपनी कुछ धारणाएं बनाई हैं-अपने कुछ अनुमान लगाये हैं। हम इन्हीं की संक्षेप में कुछ चर्चा करके उपयुक्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का प्रयत्न करेंगे।

आदर्शवादी आध्यात्मिक विचार धारा प्राचीन काल में भारत, चीन एवं ग्रीस के मनीषियों पर प्राकृतिक कार्य-कलाप का प्रकृति में दिनानुदिन, वर्षानुवर्ष होने वाले व्यापारों का गहरा प्रभाव पड़ा--'रात और दिनका चक्र, गर्मी और सर्दी का चक्र, जीने और मरने का चक्र घूमते देखकर उन्होंने यह

समझा कि मनुष्य का इतिहास भी चक्रवत घूमता है ।' (बुद्ध प्रकाश)। अर्थात् सृष्टि एक गतिमान चक्र है और सृष्टि-चक्र की गति में पड़कर मानव का इतिहास भी चक्रवत घूमता रहता है। इससे यह आभास होता है कि मानव की स्वतन्त्र कोई स्थिति नहीं–उसका इतिहास सृष्टि के उन नियमों (शक्ति या शक्तियों) से बद्ध है जो स्वयं सृष्टि का परिचालन कर रहे हैं।

प्राचीन यहूदी मसीहा और पारसी धर्म गुरुओं की यह मान्यता थी कि 'इतिहास संसार के रंगमंच पर उस दैवी पद्धति की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य को धार्मिक साक्षात्कार के क्षणों में झलकती दिखाई देती है लेकिन जो हर तरह से उनकी समझ और सूझके बाहर है ।' (बुद्ध प्रकाश) । इससे भी यही आभास मिलता है कि कोई (?) दैवी पद्धति है, उस पद्धति के अनुकूल ही मानव के इतिहास की गति है, उस पद्धति में मानव की स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) का कोई स्थान नहीं ।

वर्तमान काल में भी इतिहास के मननशील अध्ययन के लिये और इतिहास की गति को समझने के लिये मुख्यतया दो विचारधारायें उत्पन्न हुई। एक दार्शनिक विचार धारा है जिसके प्रतिनिधि हीगल, कांचे और स्पेङ्गलर हैं और जो इतिहास को 'विश्व की प्रक्रियाओं के पारस्परिक कार्य–कलाप की अभिव्यक्ति' मानते हैं, अर्थात विश्व में मानव-निरपेक्ष

प्रक्रियायें (Processes) होती रहती हैं–मानव का इतिहास उन विश्व की प्रक्रियाओं से स्वतन्त्र नहीं, उनपर आधारित है--मानो मानव अपनी कहानी की दिशा जिस ओर वह चाहे मोड़ नहीं सकता । उपर्युक्त तीनों मान्यताओं में आध्यात्मिक भाव का समावेश करके तीनों में एक आधार-भूत साम्य ढूंढा जा सकता है एवं तीनों को एक 'आदर्शवादी आध्यात्मिक विचार धारा, के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

वैज्ञानिक विचार धारा दूसरी वैज्ञानिक विचार-धारा है, जिसमें कार्लमार्क्स की 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' भी शामिल है । इसके अनुसार कुछ आर्थिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक क्रियायें, प्रतिक्रियायें होती रहती हैं और उनके अनुरुप ही मानव-इतिहास का विकास होता रहता है । उदाहरण के लिए, समाज में कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरुप चीजों की उत्पादन-विधि में परिवर्तन हुआ एवं उससे प्रभावित होकर समाज के सामन्तशाही संगठन का विकास पूंजीवादी संगठन में हुआ और पूंजीवादी संगठन में कुछ विरोधी सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न होने से, जिनका एक विशेष प्रकार के संगठन में उत्पन्न होना स्वाभाविक था, मानव-इतिहास की गति किसी न किसी रुपमें समाजवाद की ओर उन्मुख हुई । इस विचार में भी यही बात झलकती है कि मानव बाह्य परिस्थितियों का गुलाम है–प्रकृति में जिस प्रकार पूर्वस्थित

नियमों के अनुकूल भौतिक-रासायनिक प्रक्रियायें (Physico-Chemical Actions) होती रहती हैं–मनुष्य भी उसी प्रकार चूंकि वह प्रकृति का ही एक अंग है, भौतिक-रासायनिक नियमबद्ध प्रक्रियाओं से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं, या बाह्य प्राकृतिक, सामाजिक परिस्थितियों से परे वह कुछ भी नहीं। यह एक प्रकार का आर्थिक, वैज्ञानिक नियतिवाद है। जिस प्रकार की आर्थिक परिस्थितियां होंगी, उसी प्रकार की इतिहास की गति: जो प्रकृति की गति है वही मनुष्य की गति। इतिहास-सम्बन्धी उपर्युक्त विचार धाराओं के अनुसार क्या हम यह मान लें कि मानव की ५० हजार वर्ष पुरानी अब तक की कहानी केवल किसी अटल नियतिका (चाहे वह नियति दैवी नियति= Religious or Spiritual Determinism हो: या प्रकृति नियति=Natural Determinism हो: या विज्ञान नियति = Evolutionary Determinism हो) ही चक्र है? क्या मनुष्य इतिहास की गति में केवल एक मशीन के पुर्जे की तरह चला है? क्या किसी भी अंश में परिस्थितियों (प्राकृतिक एवं सामाजिक) से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नहीं रहा है? एवं क्या विश्व के विकास का क्रम पूर्व निश्चित है?

मानव चेतना का उद्भव और उसका अर्थ

ऊपर की पंक्तियों में सृष्टि के विकास की यह कहानी हम पढ़ आये हैं कि सामान्यत: कल्पनातीत वर्षों तक मूक निष्प्राण

और अचेतन नक्षत्रों, फिर अपने सौरमण्डल, फिर अपनी पृथ्वी का विकास होता रहा। कुछ करोड़ वर्षों पूर्व ही इस निश्चेतन पृथ्वी पर प्राण का आविर्भाव हुआ। प्राणमय जीवों का विकास हुआ और उनमें चेतना जगी। फिर सर्वोत्तम जीव मानव अपनी चेतना और चिन्तन के साथ इस भूतल पर उद्भूत हुआ। उसका उद्भव तो हुआ निष्प्राण, अचेतन प्रकृति में से ही; किन्तु इस नवीन प्रकृति–वस्तु में, एक दृष्टिकोण से, शेष प्रकृति से भिन्न अपना ही स्वतन्त्र अस्तित्व था और अपना ही स्वतन्त्र एक व्यक्तित्व। सत्य है कि प्रकृति से पृथक उसकी कोई स्थिति नहीं, प्रकृति के वातावरण और गति में ही यह फूलता-फलता है और उसी में उसका विकास होता है किन्तु यह होते हुए भी उसके अन्दर एक चेतना होती है और इस चेतना द्वारा उसको शेष सृष्टि से पृथक अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है, और इसीके कारण वह समस्त सृष्टि को अपने ही एक दृष्टि-बिन्दु से देखता है—मानव में जब ऐसी चेतना का उदय हुआ तो उस चेतना ने उसमें और शेष प्रकृति में एक आधारभूत गुणात्मक भेद उत्पन्न कर दिया। इस चेतना की जाग्रति के बाद ही निष्प्रयोजन प्रकृति में मानो किसी प्रयोजन की प्रतीति होने लगी। आखिर इस सृष्टि में कुछ तो, कोई तो ऐसा आया जो स्वयं इस सृष्टि का अंग होते हुए भी सृष्टि के सम्पर्क से स्वयं अपने पृथक सुख-दुःख की अनुभूति तो करता था–सृष्टि को समझने का

प्रयत्न तो करता था। इस प्रकार शेष प्रकृति के गुण से भिन्न अपने ही व्यक्तित्व के स्वतन्त्र अस्तित्व में, अपनी स्वतन्त्र चेतना में उसकी चिन्तन-स्वतन्त्रता और कर्म-स्वतन्त्रता भी निहित है। अर्थात् उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि प्रकृति की गति-विधि में या समाज की गति विधि में शेष प्रकृति के उपादानों की तरह वह निस्सहाय (Passively) बहता और सरकता चला जाय और स्वयं अपनी इच्छानुसार कुछ भी न कर सके।

किन्तु यह प्रश्न उठ सकता है और यदि गहराई से देखें तो ऐसा ज्ञात भी होगा कि मानव स्वयं 'अपनी इच्छा' बनाने में स्वतन्त्र नहीं है। वंशानुवंश से प्राप्त उसके शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक गुण, उसकी जन्मजात वृतियां और वे सब सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां और वातावरण जिनमें पैदा होने के बाद वह पलता और बड़ा होता है—ये सब ही उसकी 'इच्छा' के निर्मायक हैं। उसकी इच्छा का स्वतन्त्र अस्तित्व फिर कहां रहा ? ये सब बातें होते हुए भी पंडितों, वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों ने ऐसा पता लगाया है कि मनुष्य कई अंशों में अपनी इच्छा में और अपना कर्म करने में स्वतन्त्र है। मैकेनिक भौतिकवादी—वैज्ञानिक भौतिकवादी नहीं—एवं कर्म-सिद्धान्तवादी, कार्यकारण की ऐसी निश्चित अटूट शृंखला की कल्पना कर सकते हैं कि इस शृंखला बन्धन से मनुष्य किन्चित-

मात्र भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता—इस शृंखला द्वारा निर्दिष्ट राह से किंचितमात्र भी इधर-उधर नहीं डिग सकता। मानो या तो यह उन्हीं प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ है जिनसे द्रव्य-पदार्थ के अणु-परमाणु परिचालित होते हैं-या वह कर्म-नियम से बाधित है। स्वतन्त्र न तो वह इच्छा कर सकता है न कोई कर्म; उसका प्रत्येक कर्म निश्चय किसी पूर्व कारण का फल है, वह कर्म अपने में स्वतन्त्र इच्छा का फल नहीं। यह कहा जा सकता है कि हम जो कुछ चाहें कर सकते हैं; हमको रोकने वाला कौन; किन्तु यहीं प्रकृति या कर्म-कारण आ धमकता है-ठीक है 'आप जो चाहे कर सकते हैं, किन्तु आप जैसा चाहना चाहें नहीं चाह सकते।' अर्थात् आप अपनी चाह में स्वतन्त्र नहीं हैं—आपकी चाह ही प्रकृति या पूर्वकार्य-कारण द्वारा निर्दिष्ट हो चुकी है। आप जीवकोषों (प्रकृति के परमाणुओं) के या कर्मफल के दास हैं। 'माना हम कुछ ऐसे जीवकोषों (Cells) के दास हैं जो बहुत प्रबल हैं, जीवकोषों में यह बल कुल-क्रम (Heredity) वातावरण, शिक्षा तथा अन्य अनेक कारणों से आता है। यह दास्य हमारा पूरा और एकान्त होता परन्तु इसको रोकनेवाली एक शक्ति विचित्र शक्ति हममें है, जिसको हम इच्छा-शक्ति या संकल्प कहते हैं। इच्छाशक्ति से हम मस्तिष्क के चाहे जिन जीवकोषों को शान्त कर सकते हैं और चाहे जिनकी क्रिया-शक्ति बढा सकते हैं।' इस इच्छा-शक्ति, इस संकल्प को निर्धा-

रित करने में हम स्वतन्त्र हैं। वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया है कि प्रकृति का अन्तिम उपादान विद्युतकण (Electron) स्वयं कभी कभी प्रोटोन (विद्युतकण) के चारों तरफ घूर्णित होने की अपनी निश्चित परिधिका उल्लंघन कर जाता है अर्थात प्रकृति के स्वयं निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर स्वेच्छा से और किधर ही दौड़ पड़ता है—यद्यपि ऐसा होता बहुत कम है। स्वयं प्रकृति के इस अद्भुत व्यापार में मनुष्य की इच्छा और कर्म-स्वातन्त्र्य के वैज्ञानिक आधार की कल्पना की जाती है—वह मनुष्य जिसका आदि उपादान प्रकृति की तरह स्वयं गतिमान विद्युतकण (इल्कट्रोन-प्रोटोन) ही है।

अतएव आज वैज्ञानिक आधार पर हम यह मान सकते हैं कि कुछ अंशों तक वास्तव में मनुष्य अपनी इच्छा और कर्म में अवश्य स्वतंत्र है। ऐसी कल्पना तो हम कर सकते हैं कि शुद्धचित्त (आत्म-संयमी) महामानव तो अपनी इच्छा और कर्म में पूर्ण स्वतंत्र हो, एवं साधारण मानव अपनी इच्छा और कर्म में 'बहुत कम अंश' तक ही स्वतंत्र हो, किंतु किसी रुप में यह बात मान लेने पर कि मनुष्य बहुत कुछ अंशों तक अपनी इच्छाओं और कर्म में स्वतंत्र है, हम यह धारणा बना सकते हैं कि मानव की कहानी की गति, इतिहास की प्रगति—केवल एक कल्पित सृष्टि-चक्र, एक दैवी पद्धति या अचेतन प्रकृति के अटल नियम, या बाह्य आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां

पर आधारित नहीं। मानव-कहानी की गति में, मानव-इतिहास की रचना में मनुष्य की अपनी इच्छा का काफी जबरदस्त दायित्व रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मानव-इतिहास की अनेक घटनायें जैसी वे घटित हुई, वैसी घटित होने में अन्य कारणों के साथ यह भी एक कारण था कि उन घटनाओं से सम्बन्धित मनुष्यों ने अमुक प्रकार से अपनी इच्छा और कर्म स्वातंत्र्य का प्रयोग किया।

इस संबंध में वर्तमान प्रसिद्ध इतिहासज्ञ आर्नोल्डटोयन्वी का एक दृढ़ विश्वास है जो हम उन्हीं के शब्दों में व्यक्त करते हैं-"हम अपने मंगल या अमंगल जीवन या विनाश के लिये अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। एक इतिहासज्ञ के नाते जिस एक बात पर मेरा पक्का विश्वास है, वह यह कि इतिहास कभी भी स्वयंभू नहीं है। उसका निर्माण किया जाता है, और यह निर्माण मनुष्यों के स्वतंत्र निर्णयों द्वारा घटित होता है। कल सुबह का वे वीरतापूर्वक सामना करते हैं या भय से, इस पर उनकी भावी की रचना बनती या बिगड़ती है।"

इतिहास की गति किस ओर ?

आज हमें चेतन ज्ञान हुआ है कि मनुष्य के भाग्य का (व्यक्तिगत और सामाजिक रुप से) एवं इतिहास की गति का विधायक पूर्ण रुप से केवल कोई वाह्य परिस्थितियाँ, या दैविक

एवं प्राकृतिक नियति या कार्य-कारण रूप में 'कर्म फल का सिद्धान्त' नहीं है, किंतु इसका विधायक कई अंशों में मनुष्य है। यह ज्ञान हम अनुपम वर्तमान साधनों से जन-जन में प्रचारित कर सकते हैं। वर्तमान सभ्यता हमारे सामने है, हजारों वर्षों के ज्ञान-विज्ञान, कला और अनुभव की विरासत इसको मिली हुई है। पिछले ही दो-तीन सौ वर्षों में इसने अभूतपूर्व उन्नति की है-प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में, सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में, कला-साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में। और यह सभ्यता द्रुत गति से गतिमान भी है। 'नियतिवाद' में विश्वास करते हुए तो अपने आपको बेबस मानकर हम सभ्यता की इस सम्पूर्ण गतिमान प्रक्रिया को इसके भाग्य पर छोड़ दे सकते हैं और यह कल्पना कर सकते हैं कि जिस प्रकार अनेक प्राचीन सभ्यताओं का उदय और विकास होकर अन्त हो गया, उसी प्रकार यह सभ्यता भी नष्ट होगी और मानव एक बार फिर अन्धकार में लुप्त होगा।

किन्तु आज हमें नव जाग्रत अनुभूति हुई है कि हमारे और हमारी गति के निधायक हम स्वयं भी हैं—केवल कोई नियति ही नहीं। एक महान् अवसर हमें मिला है, हमको अनेक साधन उपलब्ध हैं। यदि हम चाहें तो अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं बन सकते हैं, जिस ओर हम चाहें अपनी सभ्यता की दिशा को मोड़ सकते हैं, जिस प्रकार चाहें अपनी

कहानी लिख सकते हैं। जन जन को इस तथ्य का परिचय कराकर हमें इस इतिहास-प्रदत्त अवसर से लाभ उठाना चाहिए और हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से क्रियाशील बनना चाहिए कि मानव कहानी की प्रगति उत्तरोत्तर उचित दिशा की ओर हो। अब तक हमने देखा है कि सभ्यता की गति बराबर दो दिशाओं की ओर बनी रही है—एक दिशा रही है रचना की, प्रेम की और सहकार की; दूसरी दिशा रही है विनाश की, द्वेष की, प्रतिद्वन्द्विता की। आज भी हम यही देख रहे हैं। संसार के प्राणी एक ओर मिल रहे हैं एक दूसरे को सहायता देने के लिये; दूसरी ओर विलग हो रहे हैं एक दूसरे का विनाश करने के लिये। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक प्रयत्न हो रहे हैं कि सब देशों के लोगों को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान हो, बीमारियों से बचने के उपाय उन्हें विदित हों, उचित स्वास्थ्य-प्रद और पौष्टिक भोजन उनको उपलब्ध हो, ज्ञान की किरणें उनके अन्तर को प्रकाशित करें;—दूसरी ओर बन रहे हैं विध्वंसक वायुयान, जहरीले गैस और प्रलयंकारी अणु-बम। किन्तु बड़ी बात तो यह है कि आज हमें इस बात की चेतना है कि दो विरोधी प्रवृतियां-विद्यमान हैं—एक कल्याणकारी दूसरी विनाशकारी। यह चेतना हमें आज है। क्या हम क्रूर विनाश-कारी वृति को रोक पायंगे, उस पर विजय प्राप्त कर पायेंगे? मानव ऐसा करने में स्वतंत्र है;—वह अपनी प्रतिष्ठा बनाये रख

सकता है। माना बहुत अंशों तक वह प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में बंधा हुआ है—इसके अतिरिक्त माना वह अपनी व्यक्तिगत जन्मजात एवं जातीय (Racial) सांस्कारिक वृत्तियों से भी सर्वथा मुक्त नहीं, किन्तु फिर भी नैतिक संयम (Moral Discipline) द्वारा वह एक स्वार्थरहित, अनासक्त, शुद्ध मानसिक बौद्धिक स्थिति तक पहुँच सकता है, तब ही अपनी इच्छा और क्रिया में वह वस्तुतः स्वतंत्र होगा और तब ही उसमें से ऐसे कार्य उद्भूत होंगे जो लोकसंग्रहकारी और कल्याणकारी हों। साधारण जन भी—उनमें शिक्षा और ज्ञान का प्रसार हो जाने पर, इच्छा और कर्म-स्वातंत्र्य में निहित व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का तथ्य उनके समझ लेने पर—समाज हितकारी कर्मों की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं, एवं लोक-विनाशकारी प्रवृत्तियों को रोक सकते हैं।

सृष्टि एवं इतिहास का उद्देश्य ?

अन्त में व्यक्तिगत रूप से हम तो यही सोचने को बाध्य हुए हैं कि यह चेतनामय प्राणी ही विश्व का केन्द्र है। प्राणी की इस चेतना को पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति हो—यह अनुभूति ही पूर्ण आनन्द की अनुभूति है। फिर हम सोचते हैं कि इन हजारों वर्षों में किन्हीं विरले व्यक्तियों को ही इस पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति हुई हो, शेष असंख्य मानवजन तो यों-के-यों ही

रहे हैं। यहां बोधिसत्व के हमें ये शब्द याद आते हैं, "मैंने मुक्ति पाली तो क्या हुआ, इस पृथ्वी के मानव तो अभी पीड़ित ही हैं । जब तक इन सबको मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक मैं जीवित रहूँगा !' आज योगी अरविन्द ने यह साधना की है—यह अनुभूति की है कि मानव में (जो एक चेतनामय प्राणी है किन्तु जिसकी चेतना अभी तक मुक्त और स्वतन्त्र नहीं है) उसकी चेतना का विकास इसी ओर होरहा है कि वह चेतना (Consciousness) बन्धनों से मुक्त होगी, पूर्ण स्वतन्त्र होगी—वह दैवी-चेतना बनेगी। क्या हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि मानव कहानी की गति इसी ओर हो? करोड़ों वर्षों तक 'प्राण' का यही प्रयास रहा है कि वह शरीर जिसमें वह वास करता है—उस शरीर की गति मुक्त हो—स्वतन्त्र हो। करोड़ों वर्षों के परीक्षण, परिश्रम के बाद 'प्राण' को ऐसा शरीर प्राप्त हुआ जो पूर्ण था, जो स्वतन्त्र था, जो मुक्त रूप से हिल-डुल सकता था। वह शरीर था मानव शरीर; किन्तु उस शरीर में प्राण के साथ-साथ एक और चिन्ता मानव को मिली–वह चिन्ता थी उसकी 'चेतना' । मानव की चेतना मानव को बेचैन रखती है। साथ ही साथ यदि चेतना न हो तो इस सृष्टि की स्थिति ही निरर्थक है-यह हो न हो । जब तक इस सृष्टि को देखने वाली, इसका अनुभव करने वाली 'चेतना' है, तब तक ही इसकी स्थिति का, इसकी गति का अर्थ है—अन्यथा कुछ नहीं ।

किंतु मानव की यह 'चेतना' बंधन में है, इस पर कुछ दबाव सा रहता है, इस पर कुछ भार-सा रहता है। इसकी गति स्वतंत्र नहीं—निर्द्वन्द्व यह उल्लसित नहीं होपाती, निश्चित यह फूल नहीं उठती। मुक्त यह समस्त सृष्टि को अपने में समानहीं पाती।

'मानव की कहानी' उस प्रयास की कहानी है—उस प्रगति की कहानी है, जो वह कर रहा है 'चेतना' की मुक्ति की ओर—कि चेतना भार युक्त हो, एक बार विहंस उठे निश्चिन्त होकर।

किंतु क्या यह स्थिति अंतिम स्थिति (Last Stage) होगी? नहीं! अध्यात्म-समाधि (मुक्ति) में मग्न रहते हुए भी इस तथ्य से दृष्टि ओझल नहीं की जा सकती कि इस सृष्टि में पदार्थ और गति (Matter and motion) अविभाज्य हैं। तामस से तामस पदार्थ भी, प्रत्यक्ष गतिहीन से गतिहीन पदार्थ भी अप्रतिहत गति से घूर्णित असंख्य विद्युदणुओं का एक समूहमात्र है। गति का अर्थ है परिवर्तन: क्षण-क्षण परिवर्तन शीलता ही गति है। परिवर्तन ही जीवन है, परिवर्तन ही सृष्टि, परिवर्तन-हीनता मृत्यु है, शून्य है। इस परिवर्तन-शीलता में सृष्टि के किसी एक अन्तिम निश्चित उद्देश्य का कुछ भी अर्थ नहीं। इस संसार में यदि कोई आदर्श स्थिति भी ले आय, प्राणीमात्र 'आध्यात्मिक' स्वतन्त्रता भी पाले, सृष्टि में 'राम राज्य' भी स्थापित हो जाय—किंतु वह आदर्श स्थिति स्वयं

प्रतिपल परिवर्तनशील होगी। उद्देश्य यदि हो सकता है तो कोई विकासमान उद्देश्य ही हो सकता है-प्रकृति के साथ-साथ युग-युग में परिवर्तनशील उद्देश्य।

—❀—

उपसंहार

युग युग से धर्म और दर्शन मानव को यह कहते हुए आरहे हैं कि मनुष्य जीवन सुख दुख का द्वन्द्व होता है।

प्रारम्भ से अब तक की मानव कहानी का अवलोकन कर और भविष्य की ओर दृष्टि रख, आज इस उपरोक्त बात में विश्वास करने से इंकार किया जा सकता है और यह सोचा जा सकता है कि आज कोई कारण नहीं कि दुख, दर्द और दरिद्रता जीवन के अंग हों ही।

व्यक्ति और समाज ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि मनुष्य जीवन स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न हो। मानव जाति में ऐसे गुणात्मक विकास की संभावना मानी जा सकती है कि वह सुख दुख के द्वन्द्व से मुक्त हो।

❀ समाप्त ❀

कुछ पारिभाषिक शब्द

पुस्तक में कुछ नामों का प्रयोग कई रूपों में हो गया है, एवं कुछ अंग्रेजी शब्दों का भी; उनका स्पष्टीकरण एवं शब्दार्थ यहां देना आवश्यक समझा गया है :-

अलक्षेन्द्र = अलक्सांदर = सिकंदर = Alexander.

इजराइल = फलस्तीन = पेलेस्टाइन = Palestine.

इब्राहिम = अब्राहम; यहूदियों का पूर्वज जो धर्म परम्परा के अनुसार तो २१०० ई. पू. में किंतु इतिहासज्ञों के अनुमान से लगभग १८०० ई. पू. में अरब से इजराइल में जाकर बसा।

चाणक्य = कौटिल्य.

ईसा = ईसामसीह = महात्मा ईसा = ईशू = Jesus.

बेबीलोन = बेबीलन = बावेरु = बाबुल = Babylon.

बाइबल — १. यहूदियों की बाइबल (Old Testament)
२. ईसाइयों की बाइबल (New Testament)

अब्बासीद = अब्बा सैय्यद = एक खलीफा परिवार.

खलीफा = मोहम्मद साहब के उत्तराधिकारी = इस्लामी सल्तनत के शासक एवं समस्त मुसलमानों के धार्मिक नेता।

पूर्वी रोमन साम्राज्य = बिजेन्टाइन साम्राज्य.

क्नोसस = नोसस = Knosos = प्राचीन क्रीट में मुख्यनगर

नेबूस्केन्डैजर = नेबूकाड्रजार = बेबीलोन का सम्राट

शकलोग = असंस्कृत आर्यलोग जो मध्य एशिया में बसे हुए थे ? या मंगोल और असभ्य आर्यलोगों का मिश्रण ? अभी कुछ निश्चित नहीं।

हूणलोग = मंगोल उपजाति के लोग जो मंगोलिया और मध्य-एशिया में बसे हुए थे।

तुर्क = हूण लोगों की एक शाखा जिसका ईरान के आर्यों के साथ

मिश्रण हो चुका था। मध्य एशिया के बासी।

कार्ष्णेय लोग एवं सभ्यता=सौर पाषाणी लोग एवं सभ्यता=(Heliolithic People and culture), जिनके विषय में यह अनुमान है कि ईसा पूर्व काल लगभग १५००० से २००० से कोई काले भूरे वर्ण के लोग भू-मध्यसागर तटीय प्रदेशों में, मिश्र, सिंधु, दक्षिण भारत, पूर्वीद्वीप समूह, मेक्सिको, पीरु, चीन, पच्छिमी एशिया (मेसोपोटेमिया, एशिया माइनर) में फैले हुए थे। उत्तर पाषाण कालीन सभ्यता का इन पूर्वोक्त लोगों ने एक विशेष दिशा में विकास किया, जिसकी विशेषता सूर्य और नाग पूजा, एवं अनेक प्रकार के जादू टोणा थे। इसी सभ्यता में से स्यात् फिर मिश्र, मेसोपोटेमिया, एवं सिंधु नदी की विशेष उन्नत सभ्यताओं का विकास हुआ।

आस्ट्रिक जाति—एक आदिकालीन कुछ काले वर्ण के लोग जिनका आदि स्थान अनुमान से आस्ट्रेलिया बताया जाता है, जहां से अति प्राचीन काल में वे लंका, भारत, पूर्वी द्वीप समूहों में पहुँचे जो सब उस काल में स्यात जुड़े हुए थे। इनका आदि स्थान स्यात् मेसोपोटेमिया या मध्य भारत ही हो। ये लोग काफी सभ्य थे। कहते हैं इनके अनेक संस्कार भारतीय संस्कृति में हैं।

Red Indian=रेड इन्डियन=अमेरिका के आदि निवासी।

Laisse Faire=लेसे फेयर=अहस्त क्षेपनीति

Free Enter Price=स्वतन्त्र उद्योग, स्वतन्त्र उपक्रम

Competition=प्रतिस्पर्धा

Unrelieved Crisis=आशंकित मनस्थिति पृष्ठ ११२७

भाषा के Archives=भाषा के भंडार गृह पृष्ठ २८२

सृष्टि और मानव विकास का इतिहास—तिथिक्रम

काल	विवरण
अनिश्चित अतीतकाल	आदि द्रव्य-पदार्थ का अस्तित्व। कौन कह सकता है कि यह स्थिति चेतन थी या अचेतन! आज का वैज्ञानिक मत तो यही है कि यह अ-प्राण, अ-चेतन द्रव्य था।
असंख्यों वर्ष पूर्व	आदि द्रव्य में से नक्षत्र पुंजों, एवं असंख्य नक्षत्रों का उद्भव। शनैः शनैः एक नक्षत्र, हमारे सूर्य का भी उद्भव।
२ अरब वर्ष पूर्व	सूर्य से वाष्पपिंड रूप में कुछ पदार्थ का पृथक होना; जिनसे ग्रहों का निर्माण होना इन ग्रहों में हमारी पृथ्वी भी एक।
२ अरब वर्ष पूर्व से ६०-७० करोड़ वर्ष पूर्व	पृथ्वी का वाष्परूप से ठोस रूप में परिवर्तन होना; जल थल भाग पृथक होना; स्तरीय चट्टानों का शनैः शनैः बनना।
६०–७० करोड़ वर्ष पू.	प्राण का उदय
६० से २० करोड़ वर्ष पूर्व	"प्रारम्भिक जीव युग", अति सूक्ष्म निरावयवजीव इत्यादि
२० से ६ करोड़ वर्ष पू.	"मध्यजीवयुग" थलचर सरीसृप प्राणी
६ करोड़ से ५ लाख वर्ष पूर्व	"नवजीवयुग" स्तनधारीप्राणी; पक्षी, पशु
५ लाख वर्ष पू. से ५० हजार वर्ष पूर्व तक	अर्धमानव प्राणी; प्राचीन पाषाणयुगीय सभ्यता

५० हजार वर्ष पूर्व—वास्तविक मानव का उदय;

५० से १५ हजार वर्ष—प्राचीन पाषाण युगीय उत्तरकालीन पूर्व सभ्यता

१५ हजार वर्ष पू. से—नव पाषाणयुगीय सभ्यता; एवं सौरपाषाणी ६ हजार वर्ष ई. पूर्व सभ्यता

६०००–२०००—प्राचीन लुप्त, मिश्र, मेसोपोटेमिया, सिंधु, क्रीट ई. पू. सभ्यताओं का काल

काल ई. पू.	विवरण
४२४१	मिश्र में सौर गणना के अनुसार प्रथम पत्रा
३३००	मिश्र का प्रथम राज्य वंश; फेरा (सम्राट)
३२५०	मोहेंजोदारो नगर का प्रारम्भकाल
२७५०	सुमेर–अक्काद साम्राज्य का सम्राट सार्गन
२७००	मिश्र का पिरेमिड निर्माण काल
२६९७	चीन का प्रथम सम्राट ह्वांगटी (पीत सम्राट)
२३५७–२२०६	चीनियों के सर्व प्राचीन ग्रंथ– यी-चिन एवं शू-चिन का निर्माण
२१००	बेबीलोन साम्राज्य का सम्राट हमूरबी
२०००	क्रीट के क्नोसस नगर में माइनोस के महल का निर्माण
१३७५	मिश्र का प्रसिद्ध सम्राट इखनातन
९००	यहूदी राजा सोलोमन
लगभग ८००	ग्रीक महाकवि होमर और उसका महाकाव्य इलियड; कार्थेज का निर्माण
७७६	प्रथम ओलम्पियन खेल
७२२–७०५	असीरिया का प्रसिद्ध सम्राट सार्गन द्वितीय– राजधानी निनेवेह

ई. पू.	ववरण
६६८–६२६	असीरिया का प्रसिद्ध सम्राट असुरबनीपाल
६०४–५६१	द्वितीय बेबीलोन साम्राज्य का सम्राट नेबू का ड्रेजार जिसके राज्य काल में यहूदी बेबीलोन पकड़ कर लाये गये।
५८६–५३८	यहूदियों का बेबीलोन में प्रवास, जब वे अपने द्रष्टाओं, महात्माओं के शब्द संग्रह करने लगे।
लगभग–६२५-५४५	महात्मा बुद्ध
५५१	चीनी महात्मा कनफ्यूसियस का जन्म, लाओत्से का समकालीन
५३८	प्राचीन मेसोपोटेमिया बेबीलोन इत्यादि की परम्परा समाप्त–ईरानी आर्य लोगों का इस देश में आगमन और प्रभुत्व।
५२०	हन्नोन नामक फीनिशियन मल्लाह की जिबरालटर से दक्षिण अफ्रीका तट तक की सामुद्रिक यात्रा
४८०	थर्मोपली का युद्ध ग्रीक और ईरानियों में
४६६	ग्रीस में पेरीक्लीज का काल
४५०	प्राचीन अलिखित कानूनों के आधार पर कुछ रोमन कानून बनाये गये।
३६६	सुक्रात द्वारा विषपान
४२७–३४७	प्लेटो (अरस्तू) ग्रीक दार्शनिक
३५६–३२३	ग्रीक सम्राट अलक्षेन्द्र महान
३३१	ईरान में ग्रीक सम्राट अलक्षेन्द्र की विजय
२६८–२३२	भारत सम्राट अशोक
३२७	भारत पर ग्रीक अलक्षेन्द्र का आक्रमण

ई. पू.	विवरण
२४६	शी हवांगटी चिनवंश का चीन में प्रथम सम्राट (२४६-२०७)
५१०–२७	रोमन गणराज्य काल
१०२–४४	सीजर रोमन डिक्टेटर
२७	रोमन प्रजातंत्र का अंत, ओगस्टस सीजर के नाम से ओक्टेवियन प्रथम सम्राट
४	ईसा का जन्म

ईस्वी सन	विवरण
३०	ईसा को फांसी
७०	यरुशलम पर रोमन लोगों का अधिकार
३१३	रोमन सम्राट कोन्सटेनटाइन द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण
३२५	ईसाई धर्म गुरुओं का नीसिया में सम्मेलन; ईसाई धर्म का संगठित रुप में निर्माण
३७५–४१३	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भारत सम्राट
४०५–४११	चीनीयात्री फाह्यान का भारत भ्रमण
४८०–५४४	संत बेनेदिक्त जिसने ईसाई बिहारों की स्थापना की
४५०	रोमन साम्राज्य एवं परम्परा का अंत, यूरोप में उत्तर से गोथ, वेन्डल, ट्यूटोनिक नोर्डिक लोगों का प्रभुत्व प्रारंभ
५६०	रोम का सर्व प्रथम पोप ग्रिगोरी
५२७-५६५	पूर्वी रोमन सम्राट जस्टीनियन–"जस्टीनियन कानून" का संपादन

ईस्वी सन्	विवरण
५७०	मोहम्मद, इस्लाम के संस्थापक का जन्म (५७०-६३२)
६२२	मुसलमान (इस्लाम) धर्म की स्थापना; हिजरी सन् प्रारंभ
६३०	चीनीयात्री युवानच्यांग की भारत यात्रा; तिब्बत एक राजा के आधीन संगठित
६३६-३७	ईरान के आर्य राजाओं पर अरबी मुसलमानों की विजय
७१०-११	सिंध पर अरबी खलीफाओं की ओर से मुहम्मद-बिनकासिम का आक्रमण
७८८	शंकराचार्य का जन्म
७८६-८०६	खलीफा हारुनल रशीद-बगदाद
१०वीं शती	तुर्क लोगों का मुसलमान बनना
६१८-९०६	चीन का प्रसिद्ध तांग राज्य वंश
१०९५	हेनरी द्वारा स्वतंत्र पुर्तगाल राज्य स्थापित
१०९५-१२४९	क्रूसेड–ईसाई मुसलमान धर्म युद्ध
१२१७-१९	मंगोल चंगेजखां की विजय यात्रा
१२५८	अरब खलीफाओं के नगर बगदाद एवं अरब खलीफाओं की परम्परा मंगोलों ने खत्म की
१२१५	इंगलैंड के राजा द्वारा मैगनाकार्टा स्वीकृत
७११-१४९२	स्पेन में अरब मुसलमानों (मूरों) की परम्परा
११८१-१२२६	संत फ्रांसिस
१२६५-१३२१	इटली का महाकवि दांते
१३४०–१४११	ईङ्गलेंड का कवि चॉसर
१४५३	पूर्वी रोमन साम्राज्य के अंतिम स्थल कुस्तुनतु-

ईस्वी सन्	विवरण
	निया पर तुर्कों का अधिकार. रिनेसाँ की परम्परा प्रारम्भ और गतिशील ।
१४४६	प्रथम बार यूरोप में मुद्रणालयों का प्रचलन
१४५४	लेटिन भाषा में पहली बाइबल मुद्रित की गई ।
१४७४	इटली के टोस्कानेली ने तत्कालीन दुनिया का चार्ट तैय्यार किया ।
१४९२	कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज.
१४९८	वास्कोदगामा अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत आया । आधुनिक काल में पच्छिम का भारत से प्रथम सम्पर्क
१५००	पेड्रो द्वारा ब्राजील की खोज
१५१९	कोर्टेज द्वारा मेक्सिको की खोज
१५१८	पुर्तगाली नाविक मगेलन ने जहाज में दुनिया की परिक्रमा की
१५३०	पिजारो द्वारा पीरु की खोज
१५७७	इंग्लेंड के फ्रांसिस ड्रेक द्वारा विश्व-परिक्रमा
१४७३–१५४३	पोलेंड का विज्ञानवेत्ता कोपरनिकस
१५६४–१६४२	इटली का विज्ञानवेत्ता गेलिलियो
१६४२–१७२६	इंगलेंड का विज्ञानवेत्ता न्यूटन
१६६२	लंदन में रोयल सोसाइटी की स्थापना
१६०५–७२	थोमसमूर 'यूटोपिया' के रचयिता
१५६१–१६२६	फ्रांसिस बेकन इंगलैंड के साहित्यिक और दार्शनिक, वैज्ञानिक
१५९६–१६५०	देकार्त (Descartes) फ्रांस के दार्शनिक
१२०६–१५२६	दिल्ली में सुल्तानों का राज्य
१३३४	

ईस्वी सन्	विवरण
१४८५–१५३३	चैतन्य—बंगाल का संत कवि
१४९८–१५४६	मीरा—संत कवियित्री
१३९९–१५१८	कबीरदास—संत कवि
१४६९–१५३८	नानक ,,
१४८३–१५६३	सूरदास— ,,
१५३२–१६३३	तुलसीदास— ,,
१५२६	भारत में बाबर द्वारा मुगल राज्य की स्थापना
१५५६–१६०५	भारत सम्राट अकबर
१५५८–१६०३	इंगलेंड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ
१५६४–१६१६	शेक्सपीयर
१५४२	प्रथमबार यूरोपीय लोगों का जापान से सम्पर्क
१४८३–१५४६	लूथर धार्मिक सुधारक
१५६७	द. अमेरिका में ब्राजील की राजधानी राइडेजेनेरो की स्थापना
१५२२	स्वीडन का पृथक राज्य स्थापित होना,
१५८८	स्पेनिश अर्मडा की हार, समुद्र में इंगलेंड का प्रभुत्व
१६२०	पिलग्रिम फादर्स का मेफ्लावर जहाज में अमेरिका के लिये प्रस्थान।
१६२८	पार्लियामेंट का अधिकार पत्र इंगलेंड के राजा द्वारा स्वीकृत
१६४८	यूरोप में वेस्टफेलिया की संधि;
१६४४	चीन में मंचू राज्यवंश की स्थापना
१६८८	इंगलेंड में क्रांति, पार्लियामेंट का प्रभुत्व स्थापित
१६८२	पीटर महान रूस का शासक
१६६१–१७१५	फ्रांस का लुई १४ वां
१७५७	प्लासी की लड़ाई

ईस्वी सन्	विवरण
१७५०–१८५०	औद्योगिक क्रांति
१७६५	इङ्गलैंड में सर्व प्रथम भाप इंजन
१७८५	,, ,, ,, ,, ,, का कपड़े की मील में प्रयोग.
१७६४–७५	कताई, बुनाई की मशीनों का आविष्कार
१७८९	मेनचेस्टर में सर्व प्रथम कपड़े की मील स्थापित.
१८०७	जहाज में सर्व प्रथम भाप इंजन का प्रयोग अमेरिका में
१८०६	पहले स्टीमर ने अटलांटिक महासागर पार किया
१८२५	दुनिया की सर्व प्रथम रेल ईङ्गलैंड में बनी
१८२७	दिया सलाई का आविष्कार
१८३१	ईङ्गलैंड में डायनमो का आविष्कार
१८३५	सब से पहिले तार की लाइन लगी
१८५१	सर्व प्रथम ईङ्गलैंड और फ्रांस के बीच केबलग्राम (तार)
१८७६	टेलीफोन का सर्व प्रथम प्रयोग
१८७८	सर्व प्रथम बिजली द्वारा रोशनी
१८८०	पेट्रोल की खोज
१८९५	इटली के मार्कोनी द्वारा वायरलेस का आविष्कार
१८६८--७१	टाइपराइटर का आविष्कार
१८७६	एडीसन द्वारा अमेरिका में ग्रामोफोन का आविष्कार
१८९३	चलचित्र का आविष्कार
१८९८	मेडम क्यूरी द्वारा रेडियम का आविष्कार.
१९०२	रेडियो द्वारा प्रथम संवाद ग्रहण
१९०३	अमेरिका में सर्व प्रथम वायुयान उड़ान
१९२६	ईङ्गलैंड में टेलीवीजन का आविष्कार.

ईस्वी सन्	विवरण
१७५६–६३	यूरोप का सप्तवर्षीय युद्ध; पेरिस की संधि:
१७७६	अमेरिका द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा
१७८७	अमेरिका के शासन विधान का निर्माण
१७८९	फ्रांस की राज्य क्रांति
१७९९–१८१५	नेपोलियन का उत्थान पतन; १८१५ वाटरलू का युद्ध
१८०१	लेमार्क का विकास सिद्धान्त.
१८०४	डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त (अटोमिक थ्योरी)
१८१५	वियेना की कांग्रेस.
१८२१–२९	टर्की के विरुद्ध ग्रीस का स्वतन्त्रता युद्ध
१८३९–४२	चीन और ईङ्गलैंड का अफीम युद्ध
१८१९	ईङ्गलैंड में सर्व प्रथम फेक्ट्री कानून
१८१८–८६	कार्ल मार्क्स
१८४८	कोम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो
१८३०–४८	यूरोप में जनतन्त्रवादी क्रांतियां
१८२४	दक्षिण अमेरिका के उपनिवेश स्पेन से स्वतन्त्र
१८५३	भारत में सब से पहली रेलवे लाइन
१८५७	भारतीय गदर; कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में विश्व विद्यालय स्थापित.
१८५९	डारविन का "ओरिजन ऑफ स्पी सीज" ग्रंथ
१८६४	फर्स्ट इन्टरनेशनल (अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ)
१८८५	राष्ट्रीय महासभा–भारतीय कांग्रेस.
१८६२	अमेरिका में कानून द्वारा दास प्रथा समाप्त.
१८६१	इटली का एकीकरण–इटली का प्रथम राजा विक्टर इमेन्यूअल
१८७०	इटली की स्वतन्त्रता और एकी करण

ईस्वी सन्	विवरण
१८७१	जर्मनी का एकी करण
१८६०–६५	अब्राहमलिंकन अमेरिका का राष्ट्रपति
१८६६	स्वेज नहर का खुलना
१८६६–१६४८	महात्मा गांधी
१८७०–१६२४	लेनिन.
१८७२–१६५०	अरविंद
१८३३--१६०२	रामकृष्ण परमहंस
१८६८	जापान में मेजी पुनस्थापन
१८६०	अखिल विश्व यहूदी संगठन की स्थापना बेसल स्वीटजरलेंड में
१८९४--९५	प्रथम चीन जापान युद्ध; फार्मूसा और कोरिया जापान के आधीन
१६०४–५	रूस जापान युद्ध में रूस की हार
१६०५	नोर्वे का स्वतन्त्र राज्य स्थापित
१६०७	ईरान में वैधानिक राजतन्त्र स्थापित
१६०६	अमरीकन यात्री पियरी द्वारा उत्तरी ध्रुव की खोज
१६११	एमंडसन द्वारा दक्षिणी ध्रुव की खोज
१६१२	चीन में सनयातसन द्वारा प्रजातन्त्र स्थापित
१९२५	सनयातसन की मृत्यु के बाद चांगकाईशेक चीन का अधिनायक
१६१७	बेलफर घोषणा, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि फिलस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर होना चाहिये।
१९१४–१८	प्रथम विश्व महायुद्ध

ईस्वी सन	विवरण
१९१९	वर्साई की संधि; राष्ट्रसंघ की स्थापना
१९१७	रूस की साम्यवादी क्रांति
१९२२	टर्की में जनतन्त्र की स्थापना; खलाफत का अन्त
१९२२	आयरलैंड में आइरिश फ्री स्टेट की स्थापना; इटली में मसोलनी की फासिस्ट सरकार स्थापित
१९२६	अरब और यमन में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना
१९२९--३३	विश्व में आर्थिक संकट
१९३३	हिटलर जर्मनी का अधिनायक घोषित
१९३४	इटली का अबीसीनिया पर क़ब्जा
१९३६	स्पेन में फ्रैंकों का अधिनायकत्व स्थापित
१९३७	चीन पर जापान का आक्रमण प्रारम्भ
१९३९–४५	द्वितीय महायुद्ध (१ सितम्बर ३९ से १४ अगस्त १९४५)
२६ जून १९४५	सेन फ्रांसिस को सम्मेलन एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना
१५अगस्त१९४७	भारत स्वतन्त्र; पाकिस्तान नया राज्य स्थापित
१४ मई १९४८	इजराइल एक नया राष्ट्रीय राज्य स्थापित; बरमा स्वतन्त्र
२७दिसंबर१९४९	हिंदेशिया स्वतन्त्र
१९४५--४९	चीन में गृह युद्ध
१९४९	चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना
फर्वरी १९५०	रूस चीन संधि
२५जून १९५०	कोरिया युद्ध प्रारम्भ
दिसंबर१९५०	पश्चिमी यूरोप के देशों की एक सम्मिलित सेना का निर्माण
१ जनवरी १९५१	विश्वयुद्ध के कगार पर ? चेतना पीड़ित या प्रसन्न ?

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका में वे नाम दिये गये हैं जो
विषय-सूची में नहीं आये हैं

अ—

आ—

ई—

उ—

ए–ऐ—

ओ-औ—

क—

ट—

ड—

त—

थ—

द—

न—

प––

फ—

ब—

य—

र—

स--

ह––

विशेष सहायक पुस्तकों की सूची
अंग्रेजी

1. J. A Hammerton	Universal History of the World 8 Volumes.
2. H. G. Wells	The outline of History.
3. ,, ,,	A short History of the World.
4. ,, ,,	The outlook for Homo Sapiens.
5. W. N. Weech	History of the World.
6. Max Belloff	Mankind and his story.
7. J. Nehru	Glimpses of World History 2 Vols.
8. ,,	Discovery of India.
9. Fisher	History of Europe 2 Vols.
10 Will Durant	The story of Civilization.
11. ,, ,,	History of Philosophy.
12. J. S. Wilkinson	The ancient Egyptians.
13. Gibon	History of Decline & fall of Roman Empire.
14. Nourse	A short History of the Chinese.
15. Tan Yun San	Modern Chinese History.
16. ,, ,, ,	Modern China
17. Lin Yutang	My country. My People.
18. Hearnshaw	Main currents of European History
19. Lord Acton	Lectures on Modern History.
20. ,,	Lectures on French Revolution
21. Carlton & Hayes	A political & cultural History of Modern Europe.
22. J. F. Horrabin	Atlas of European History.
23. Hans Kohn	A History of Nationalism in East.

52 B. Russell — Our knowledge of the External World.
53 ,, — History of Western Philasophy.
54. G. D. H. Cole — A Guide to Modern Politics.
55. Joseph S. Ronick — 20th Century Political thought.
56. Zimmern — Modren Political Doctrines.
57. G. M. G Hardy — A short History of International affairs.
58. E. H. Carr — International Relations since the Peace Trities.
59. Duncan Elizabeth — Federation & World order.
60. Frederick Schuman — International Politics.
61. J. B. Kriplani — The Gandhian Way.
62. Sir John Pratt — Japan & the Modern World.
63. H. R. Gibbs — The Arabs.
64. W. M. Torrens — Empire in Asia.
65. Mao Tse Tung — China New Democracy.
66. J. A. C. Brown — The Evolution of Society.
67. William F. Ogburn — A hand book of Socdology.
68. Hariyana — Essentials of Indian Philosophy
69. Jurji — Great Religious of the Modern World.
70. Dhirendra N. Pal — A comprehensive study of the Religion of Hindus X Vols.
71. Samuel Laig — Modern Science & Modern Thought.
72. Hackel — The Riddle of the Universe.
73. Darwin — Origin of Species.
74, Julian Huxley — Essays in Popular Science.
75. ,, ,, — Soviet Genetics & World Science.

76. C. V. Raman — Aspects of Science.
77. John Drinkwater — The Outline of Literature.
78. Sri Aurobindo — Life Divine.

Encyclopaedea Britannica & different periodicals.

हिन्दी

१. वेनी प्रसाद — हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
२. जयचन्द्र विद्यालंकार — इतिहास प्रवेश भाग १, २
३. " " — भारतीय इतिहास की रुपरेखा भाग १, २
४. प्रो. रामदेव — भारतवर्ष का इतिहास ३ भाग
५. भगवद्दत्त — भारतवर्ष का इतिहास
६. जायसवाल — अंधकार युगीन भारत
७. भाई परमानंद — यूरोप का इतिहास
८. जवाहरलाल नेहरु — विश्व इतिहास की झलक २ खंड
९. सुन्दरलाल — भारत में अंग्रेजी राज्य ३ खंड
१०. गो. ही. ओझा — मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
११. डा. रघुवीर सिंह — पूर्व मध्यकालीन भारत
१२. सतीशचंद्र काला — मोहेंजोदाड़ो
१३. भगवानदास केला — मानवजाति की प्रगति
१४. सम्पूर्णानंद — आर्य्यों का आदि देश
१५. रवीन्द्रनाथ ठाकुर — विश्व परिचय
१६. राहुल सांकृत्यायन — विश्व की रुपरेखा
१७. " " — बौद्ध दर्शन
१८. मशरुवाला — गांधी विचार दोहन
१९. बलदेव उपाध्याय — भारतीय दर्शन
२०. दयानंद — ऋग्वेद संहिता

सामयिक पत्र, पत्रिकायें।

पुस्तक में कृपया निम्न अशुद्धियां ठीक करलें। इसके लिये प्रकाशक एवं मुद्रक क्षमाप्रार्थी।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६६	१७	निःशक हो	निशंक हो
७७१	४	अज्ञान	अज्ञात
७७३	१७	एक-रस्ता	एकरसता
७७५	१३	अनेक प्राचीन	उनके प्राचीन
७७६	७	समाज के नाशक	समाज के शासक
७७७	८	युग तक मर्क	युग तक धर्म
७८०	४	यह सचेष्ट	यह सचेष्टता
७८०	५	पुनर्जागृति काल	पुनर्जागृति काल में
७८६	१४	वीं १४ वीं	११ वीं से १३ वीं
७६०	१८	मत होवोगे	मत हो
७६४	६	जिन निबंध	जिनके निबंध
७६५	२	मेकपेथ	मेकबेथ
८१२	२०	noble is	noble in
८३४	१०	कला और भाव	कला और भाव के
,,	१७	जैसे क	जैसे ग्रीक
८४०	१८	शार्लमत	शार्लमन
८७३	७	अस्टर के लोग	अल्सटर के लोग

१३६६

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६०	१२	ढ़ाई निपन	ढाई निपन
६१७	१६	(थव द्वीप)	(यव द्वीप)
६२७	१२	मुहम्मद हदा	मुहम्मद हट्टा
६३१	८	समत्वयात्मक	समन्वयात्मक
६३२	१४	युगयुग तक रहेगा	युगयुग तक करेगा
६३२	१६	पूर्ण उल्लखित	पूर्व उल्लखित
६५१	५	३८२२-२७	१८२२-२७
६५२	१३	कार्नाइल	कार्लाइल
६६६	१४	मेटियाथेरेसा	मेरिया थेरेसा
६७४	५	इतिहास से	इतिहास में
६६१	५	के प्रचलित हुए	से परिचालित हुए
१००६	२०	पेग में	प्रेग में
१०१२	२	वैद्यानिक	वैधानिक
१०२३	२	देन इत्यादि	ट्रेन इत्यादि
१०३४	१७	इङ्गलैंड	इङ्गलैंड में
१०८८	१३	नियमत कोड़े जाने पर	नियम तोड़े जाने पर
१०८६	२१	अरब	अब
११११२	१५	भीषणजैसा	भीषण
११३३	१६	बोल्टाविक	बोलशेविक
११४२	११	विवरण में	विचारणा में
११४५	११	प्रथम अभ्यास	प्रथम आभास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११५२	११	विरोधामास (Papadex)	विरोधाभास (Paradox)
११६३	१५	इटली में फासिस्ट	जर्मनी में नाजी पार्टी
११७२	४	अगस्त १६४८ में	अगस्त सन् १६४५ में
११७०	१६	Vets	Veto
११६६	२०	यूरोप की	इन्गलेंड यूरोप की
१२३७	२	५-६	५६
१२४६	६	विधुत का	विद्युत का
१२५०	१२	बुह्म तत्व	ब्रह्म तत्व
१२५८	२	अवेतन भूत	अचेतन भूत
१२७१	८	उनकी भिन्न भिन्न	उनको भिन्न
१२७३	१२	ई. पू. २६८७	२६६७
१२८२	११	प्राय: समाजवाद	आया समाजवाद
१२८५	६	An volutionary	An evolutionary
,,	११	दूसरे देश में	दूसरे देश से
१२६२	१५	अवश्य शक्ति	अदृश्य शक्ति
१२९४	१२	मुसा	मूसा
१२९७	६	संसार का	संसार को
,,	७	आध्यात्मिक लोग	आध्यात्मिक लोक
,,	१४	अपने मन के	अपने मन को
१३०३	४	हुई थी जैसा	हुई थीं जैसी
१३०६	३	ओर से कह	ओर से यह कह
१३१८	१७	दास्य	हास्य